एमएपीएस-613

(MAPS-613)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध: एक परिचय

(An Introduction to International Relations)

राजनीति विज्ञान विभाग

(समाज विज्ञान विद्याशाखा)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

एमएपीएस-613
(MAPS-613)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध : एक परिचय

(An Introduction to International Relations)

समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठयक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे **निदेशक –समाज विज्ञान विद्या शाखा,** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	**प्रो. मदन मोहन जोशी** **निदेशक (कार्यवाहक) – समाज विज्ञान विद्या शाखा,** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल
प्रो.एम.एम सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग हेमवती नंदन बहुगुणा केन्द्रीय गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर, गढ़वाल	**प्रो.दुर्गाकान्त चौधरी** राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय, ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश
प्रो. सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग, इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	**डॉ. घनश्याम जोशी** असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, लोक प्रशासन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. लता जोशी असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**डॉ. आरूशी** असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन **दिग्विजय सिंह पथनी,** असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (एसी), राजनीति विज्ञान , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	

इकाई लेखक **इकाई संख्या**

डॉ. लता जोशी , असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (एसी), राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	1
दिग्विजय सिंह पथनी, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (एसी), राजनीति विज्ञान , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	2
डॉ. आरूशी, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (एसी), राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय , हल्द्वानी, नैनीताल	3
डॉ. महेश जगोठा, राजनीति विज्ञान विभाग, स्पर्श हिमालय यूनिवर्सिटी	4,5
डॉ. बी. के .जोशी, राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखेत	6,7
डॉ. पूजा, राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखेत	8
डॉ. मनोज कुमार, राजनीति विज्ञान विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बी.जी.आर. परिसर, पौड़ी	9,10
डॉ. धीरज खाती, राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखेत	11,12
प्रो० मीना पथनी, (सेवानिवृत्त), पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, एस.एस.जे. विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा	13,14

आई.एस.बी.एन. -----------

कापीराइट @उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,प्रकाशन वर्ष -2026

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :-----------------------------------

संस्करण:2026, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतिया

MAPS-613

अंतर्राष्ट्रीय संबंध: एक परिचय		
इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
खण्ड 1 प्रथम विश्वयुद्धकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध		
1.	अंतर्राष्ट्रीय संबंध: अर्थ एवं स्वरूप	1-16
2.	प्रथम विश्वयुद्ध-कालीन विद्यमान स्थितियाँ	17-34
3.	प्रथम विश्वयुद्धोत्तरकालीन अंतर्राष्ट्रीय स्थितियाँ, राष्ट्रसंघ की असफलता	35-53
4.	फासीवाद एवं नज़ीवाद का उद्भव	54-74
खण्ड 2 द्वितीय विश्वयुद्ध: कारण और प्रभाव		
5.	द्वितीय विश्व युद्ध के कारण और प्रभाव	75-95
6.	गुटनिरपेक्षता: अर्थ, उद्देश्य, विशेषताएँ, प्रासंगिकता	96-118
खण्ड 3 – शीत युद्ध		
7.	शीत युद्ध का उदय और अंत	119-140
8.	शीत युद्ध का अंत, नव-शीत युद्ध तथा विश्व राजनीति पर उसका प्रभाव	141-165
9.	निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण	166-178
10.	परमाणु अप्रसार संधि (एन पी टी), व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी टी बी टी)	179-196
खण्ड 4 – अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरती अवधारणाएँ		
11.	साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद	197-216
12.	नव उपनिवेशवाद, बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका	217-233
13.	अंतर्राष्ट्रीय विधि – अर्थ, प्रकृति और भूमिका, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि का संबंध	234-248
14.	विश्व लोकमत	249-264

इकाई-1 अंतर्राष्ट्रीय संबंध: अर्थ एवं स्वरूप

इकाई संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2. उद्देश्य

1.3. अर्थ एवं परिभाषा

1.4 महत्व

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का स्वरूप

1.6 अध्ययन के उपागम (यथार्थवादी उपागम,आदर्शवादी उपागम, व्यवहारवादी उपागम, मार्क्सवादी उपागम, तंत्र उपागम निर्णय-निर्माण उपागम)

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 अभ्यास प्रश्न

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और बहुआयामी है, जो न केवल राष्ट्रों के बीच के राजनीतिक सम्बन्धों की व्याख्या करता है, बल्कि वैश्विक स्तर पर हो रहे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी परिवर्तनों का भी गहन विश्लेषण करता है। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह विषय भी परिष्कृत होता गया है। प्राचीन काल में जहाँ राज्य एक-दूसरे से कटे हुए थे और केवल युद्ध या कभी-कभार होने वाले व्यापार के माध्यम से जुड़ते थे, वहीं आज हम एक ऐसी 'ग्लोबल विलेज' (वैश्विक ग्राम) की अवधारणा में जी रहे हैं जहाँ दुनिया के एक कोने में होने वाली छोटी सी घटना भी सुदूर स्थित दूसरे देश की अर्थव्यवस्था और सुरक्षा को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन हमें इसी जटिल ताने-बाने को समझने की दृष्टि प्रदान करता है। यह विषय केवल यह नहीं बताता कि राज्य एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि उनके व्यवहार के पीछे कौन से प्रेरक तत्व काम कर रहे हैं,चाहे वह शक्ति की लालसा हो, राष्ट्रीय हित की सुरक्षा हो, या फिर वैश्विक शांति की स्थापना का आदर्श।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जड़ें प्राचीन काल की सभ्यताओं में मिलती हैं। यूनानी नगर-राज्यों (City-States) के बीच होने वाले युद्ध और संधियाँ हों, या प्राचीन भारत में कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित 'मण्डल सिद्धान्त' और 'षड्गुण्य नीति', इन सबमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रारम्भिक तत्व मौजूद थे। कौटिल्य ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि एक राष्ट्र का अपने पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध अनिवार्य रूप से शक्ति और कूटनीति पर आधारित होता है। उन्होंने 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है' जैसे यथार्थवादी सिद्धांतों के माध्यम से तत्कालीन राज्यों के बीच के शक्ति-सन्तुलन की व्याख्या की थी। इसी प्रकार, थ्यूसीडाइड्स ने पेलोपोनेसियन युद्ध के अपने विवरण में यह रेखांकित किया था कि किस प्रकार बढ़ती हुई शक्ति और उससे उत्पन्न भय युद्ध का कारण बनते हैं। यह विचार आज भी समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उतना ही प्रासंगिक है जितना हज़ारों साल पहले था। हालाँकि, इन प्राचीन साक्ष्यों के बावजूद, आधुनिक अर्थों में 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों' की औपचारिक नींव 1648 की 'वेस्टफेलिया की सन्धि' से मानी जाती है। इस सन्धि ने मध्यकालीन धार्मिक साम्राज्यों के प्रभुत्व को समाप्त कर 'सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य' (Sovereign Nation-State) की अवधारणा को जन्म दिया। यहाँ से यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक राज्य की अपनी निश्चित सीमा होगी और वह अपने आंतरिक व बाहरी मामलों में स्वतन्त्र होगा। वेस्टफेलिया की इसी व्यवस्था ने आधुनिक कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रों के बीच औपचारिक संवाद की पद्धति को संस्थागत रूप दिया।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दौरान, साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद की लहर ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्वरूप को और अधिक जटिल बना दिया। औद्योगिक क्रान्ति के बाद यूरोपीय देशों के

बीच संसाधनों और बाजारों के लिए जो प्रतिस्पर्धा शुरू हुई, उसने दुनिया को दो विनाशकारी विश्व युद्धों की ओर धकेल दिया। प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) के बाद दुनिया ने यह महसूस किया कि युद्ध अब केवल दो राजाओं या सेनाओं के बीच का मामला नहीं रह गया है, बल्कि यह पूरी मानवता के अस्तित्व के लिए खतरा बन चुका है। इसी चेतना के परिणामस्वरूप 1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए विश्व का पहला विभाग स्थापित किया गया। यहीं से एक स्वतंत्र अकादमिक विषय के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का उद्भव हुआ। प्रारम्भ में, इस विषय का झुकाव 'आदर्शवाद' (Idealism) की ओर था। वुड्रो विल्सन जैसे विचारकों का मानना था कि यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नैतिकता और 'लीग ऑफ नेशन्स' जैसी संस्थाओं को मजबूत करें, तो युद्धों को हमेशा के लिए समाप्त किया जा सकता है। लेकिन 1930 के दशक की घटनाओं और द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ ने इन आदर्शवादी सपनों को चकनाचूर कर दिया। एडवर्ड हैलेट कार और हंस जे. मॉर्गेन्थो जैसे विद्वानों ने तर्क दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वास्तविक आधार नैतिकता नहीं बल्कि 'शक्ति' (Power) है। यहाँ से 'यथार्थवाद' (Realism) के युग की शुरुआत हुई, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन को पूरी तरह प्रभावित किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात, विश्व परिदृश्य एक नए मोड़ पर खड़ा था। अब दुनिया दो ध्रुवों में विभाजित हो गई थी,एक तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व वाला पूँजीवादी गुट था और दूसरी तरफ सोवियत संघ के नेतृत्व वाला साम्यवादी गुट। इस 'शीत युद्ध' (Cold War) के दौर ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नए आयाम जोड़े। अब अध्ययन का केंद्र परमाणु हथियारों का प्रसार, सैन्य गठबन्धन (जैसे NATO और वारसा पैक्ट) और विचारधाराओं का संघर्ष बन गया। इसी दौरान तीसरी दुनिया के देशों का उदय हुआ, जिन्होंने 'गुटनिरपेक्ष आन्दोलन' के माध्यम से महाशक्तियों के संघर्ष से दूर रहकर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने का प्रयास किया। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ ही शीत युद्ध का अंत हुआ और दुनिया 'एकध्रुवीय' से 'बहुध्रुवीय' व्यवस्था की ओर बढ़ने लगी। वैश्वीकरण (Globalization) के आगमन ने राष्ट्रों की सीमाओं को धुंधला कर दिया और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में 'गैर-राज्य अभिकर्ताओं' (Non-State Actors) जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, गैर-सरकारी संगठनों और आतंकवादी समूहों की भूमिका को बढ़ा दिया। अब राज्य केवल एकमात्र खिलाड़ी नहीं रह गए थे वैश्विक बाजार, सूचना प्रौद्योगिकी और जनमत भी अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों को प्रभावित करने लगे।

आज के वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन पहले से कहीं अधिक आवश्यक और अपरिहार्य हो गया है। इसका सबसे बड़ा कारण राष्ट्रों के बीच बढ़ती 'परस्पर निर्भरता' (Interdependence) है। आज दुनिया का कोई भी देश, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, पूर्ण आत्मनिर्भर होने का दावा नहीं कर सकता। आर्थिक विकास के लिए देशों को

व्यापारिक समझौतों, विदेशी निवेश और वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। 2008 की वैश्विक आर्थिक मंदी हो या हाल ही में आई कोविड-19 महामारी, इन घटनाओं ने सिद्ध कर दिया है कि एक देश की समस्या बहुत जल्दी पूरी दुनिया की साझा समस्या बन सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध हमें वह ढांचा प्रदान करते हैं जिसके माध्यम से हम इन साझा चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए 'सामूहिक सहयोग' की रणनीतियाँ बना सकते हैं। जलवायु परिवर्तन जैसी समस्या इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है। ग्लोबल वार्मिंग किसी एक देश की सीमा तक सीमित नहीं है, इसके समाधान के लिए पेरिस समझौते जैसे वैश्विक मंचों की आवश्यकता होती है, जहाँ राष्ट्र अपने अल्पकालिक हितों को छोड़कर मानवता के भविष्य के लिए एकजुट होते हैं।

इसके अलावा, सुरक्षा की परिभाषा भी अब केवल सैन्य हमलों तक सीमित नहीं रह गई है। आज हम 'गैर-पारंपरिक सुरक्षा खतरों' (Non-traditional Security Threats) के दौर में जी रहे हैं। साइबर युद्ध, ऊर्जा सुरक्षा, खाद्य सुरक्षा और बड़े पैमाने पर होने वाला पलायन या शरणार्थी संकट ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें कोई भी सेना अकेले हल नहीं कर सकती। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन हमें यह समझने में मदद करता है कि कैसे कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं (जैसे संयुक्त राष्ट्र, विश्व स्वास्थ्य संगठन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) के माध्यम से इन जटिल समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है। वर्तमान में रूस-यूक्रेन युद्ध और मध्य-पूर्व के संकटों ने यह भी दिखा दिया है कि यथार्थवादी शक्ति राजनीति आज भी प्रभावी है, लेकिन उसके परिणाम वैश्विक अर्थव्यवस्था के लिए कितने घातक हो सकते हैं। इसलिए, शक्ति सन्तुलन को बनाए रखने और संघर्षों को टालने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धांतों का ज्ञान राजनीतिज्ञों और नीति-निर्धारकों के लिए अनिवार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की पृष्ठभूमि और इसका विकास यह दर्शाता है कि यह विषय मानव समाज की बदलती जरूरतों के साथ निरंतर विकसित हुआ है। वेस्टफेलिया की संप्रभुता से शुरू होकर आज हम 'वैश्विक नागरिकता' और 'डिजिटल कूटनीति' के युग में पहुँच गए हैं। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में इसकी आवश्यकता इसलिए भी अधिक है क्योंकि आज हमारे पास विनाश की तकनीकें (जैसे परमाणु हथियार और AI-आधारित हथियार) बहुत शक्तिशाली हैं, जबकि सहयोग के हमारे तंत्र अभी भी विकासशील अवस्था में हैं। यदि हमें एक सुरक्षित, न्यायपूर्ण और समृद्ध विश्व का निर्माण करना है, तो हमें राष्ट्रों के बीच के इन जटिल सम्बन्धों को गहराई से समझना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध केवल एक शैक्षणिक विषय नहीं है, बल्कि यह वह मार्गदर्शिका है जो हमें युद्ध के अंधेरों से निकालकर शांति और सहयोग के प्रकाश की ओर ले जा सकती है। यह हमें सिखाता है कि विभिन्न संस्कृतियों, विचारधाराओं और हितों के बावजूद, मानवता का भविष्य एक-दूसरे के साथ जुड़ा हुआ है।

1.2. उद्देश्य

- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की संकल्पना, अर्थ एवं परिभाषा का सम्यक् बोध कराना, ताकि विद्यार्थी इसके विषय-क्षेत्र, परिधि तथा प्रमुख वैचारिक आधारों को स्पष्ट रूप से समझ सकें।
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के महत्व एवं स्वरूप का विश्लेषण कराना, जिससे विद्यार्थी इसके राजनीतिक, आर्थिक, सामरिक, कूटनीतिक तथा वैश्विक आयामों की प्रकृति को समझ सकें।
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विभिन्न उपागमों का अध्ययन कराना, ताकि विद्यार्थी यथार्थवादी, आदर्शवादी, व्यवहारवादी, मार्क्सवादी, तंत्र तथा निर्णय-निर्माण उपागमों की विशेषताओं और सीमाओं का विवेचन कर सकें।
- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र-राज्य, शक्ति, राष्ट्रीय हित, संप्रभुता तथा शक्ति-संतुलन जैसे मूलभूत तत्त्वों की समझ विकसित करना, जिससे विषय के आधारभूत सिद्धांतों का गहन अध्ययन संभव हो सके।
- समकालीन वैश्विक घटनाओं और समस्याओं के विश्लेषण की क्षमता विकसित करना, ताकि विद्यार्थी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, सहयोग, वैश्वीकरण, शांति एवं सुरक्षा जैसे मुद्दों को सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में समझ सकें।
- विद्यार्थियों में आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास करना, जिससे वे विभिन्न सिद्धांतों, अवधारणाओं और वैश्विक प्रक्रियाओं का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन कर सकें।

1.3. अर्थ एवं परिभाषा

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अर्थ आधुनिक युग में अत्यन्त व्यापक और बहुआयामी हो गया है। मूलतः, 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग सबसे पहले जेरेमी बेंथम ने 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया था, जिसका उद्देश्य राष्ट्रों के बीच के विधिक सम्बन्धों को स्पष्ट करना था। संकुचित अर्थों में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अर्थ विभिन्न संप्रभु राष्ट्रों की सरकारों के बीच के राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन है। इसमें मुख्य रूप से युद्ध, कूटनीति, संधियाँ और गठबंधन शामिल होते हैं। लेकिन जैसे-जैसे वैश्विक व्यवस्था जटिल होती गई, इसका अर्थ भी विस्तृत होता गया। आज इसमें न केवल राज्यों के सम्बन्ध, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, गैर-सरकारी संगठनों, बहुराष्ट्रीय निगमों और यहाँ तक कि वैश्विक जनमत एवं आंदोलनों का अध्ययन भी समाहित है। आधुनिक अर्थों में यह विषय

इस बात का विश्लेषण करता है कि विश्व की विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे के साथ कैसे अंतःक्रिया करती हैं और उन अंतःक्रियाओं का वैश्विक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है।

दो या दो से अधिक संप्रभु राष्ट्रों के मध्य अपने राष्ट्रीय हितों को पोषित करने के लिए बनाये गये सम्बन्ध अंतर्राष्ट्रीय संबंध होते हैं . अंतर्राष्ट्रीय संबंध से आशय दो या अधिक देशों के बीच स्थापित संबंधों से है। इन संबंधों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सामरिक पहलू शामिल होते हैं। देशों के बीच संबंध कई आधारों पर निर्धारित होते हैं, जैसे शासन व्यवस्था, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक विकास, विचारधारा तथा ऐतिहासिक परंपराएँ। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय संगठन, वैश्विक व्यापार व्यवस्था तथा नेतृत्व क्षमता भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करती हैं। किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा, विकास और समृद्धि के लिए केवल पड़ोसी देशों ही नहीं, बल्कि अन्य देशों के साथ भी अच्छे और सहयोगपूर्ण संबंध आवश्यक होते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने अंतर्राष्ट्रीय संबंध को अलग-अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की परिभाषा को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं, जिन्हें मुख्यतः दो वर्गों परम्परागत और आधुनिक में विभाजित किया जा सकता है। परम्परागत परिभाषाएँ केवल 'राज्य' को केन्द्र में रखती हैं।कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं –

हंस मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार – "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है।"

क्विन्सी राइट के अनुसार – "अंतर्राष्ट्रीय संबंध उन संबंधों का अध्ययन है जो विश्व के राजनीतिक रूप से संगठित समुदायों के बीच विद्यमान होते हैं।"

पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार – "अंतर्राष्ट्रीय संबंध बदलते हुए शक्ति संबंधों के अंतर्गत राष्ट्रों की परस्पर क्रियाओं का अध्ययन है।"

पामर एवं पर्किन्स के अनुसार – "अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन राष्ट्र-राज्यों तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के मध्य संबंधों का अध्ययन है।"

स्टेनली हॉफमैन के अनुसार – "अंतर्राष्ट्रीय संबंध उन कारकों और गतिविधियों का अध्ययन है जो विश्व राजनीति को प्रभावित करते हैं।"

हंस जे. मॉर्गेन्थो ने इसे 'शक्ति के लिए संघर्ष' के रूप में परिभाषित किया। उनके अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम लक्ष्य चाहे कुछ भी हो, शक्ति सदैव तात्कालिक उद्देश्य होती है। वहीं क्विंसी

राइट ने इसे अधिक व्यापकता प्रदान करते हुए कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में न केवल राष्ट्रों के सम्बन्ध, बल्कि हर प्रकार के मानव समूहों के सम्बन्ध शामिल हैं। पामर और पर्किन्स ने तर्क दिया कि यह विषय विश्व समुदाय के उन तत्वों और शक्तियों के अध्ययन से जुड़ा है जो राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। आधुनिक परिभाषाओं में स्टैनली हॉफमैन का मत महत्वपूर्ण है, जिनके अनुसार यह विषय उन कारकों और गतिविधियों का अध्ययन है जो उन बुनियादी इकाइयों की बाह्य नीतियों और शक्ति को प्रभावित करते हैं जिनमें विश्व विभाजित है। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक ऐसा गतिशील विषय है जो राष्ट्रों की विदेश नीतियों के समन्वय, अंतरराष्ट्रीय विवादों के समाधान और वैश्विक सहयोग की प्रक्रियाओं को परिभाषित और विश्लेषित करता है।

1.4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का महत्व

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का महत्व आज के वैश्वीकृत युग में अपरिहार्य हो गया है। इसका सबसे प्रमुख महत्व वैश्विक शांति और सुरक्षा की स्थापना में है। आज की दुनिया परमाणु हथियारों के साये में जी रही है, जहाँ एक छोटी सी गलतफहमी या कूटनीतिक विफलता सम्पूर्ण मानवता के विनाश का कारण बन सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन हमें उन कारणों और परिस्थितियों को समझने में मदद करता है जिनसे युद्ध की स्थिति उत्पन्न होती है। यह संघर्ष समाधान के सिद्धांतों और शांति स्थापना की रणनीतियों का ज्ञान प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठनों के माध्यम से विवादों का शांतिपूर्ण समाधान कैसे किया जाए, यह इस विषय के अध्ययन का ही एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

राष्ट्रीय हित की सुरक्षा और संवर्धन के लिए भी यह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति के माध्यम से अपने आर्थिक, सैन्य और राजनीतिक हितों को सिद्ध करना चाहता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ज्ञान नीति-निर्धारकों को यह समझने की दृष्टि देता है कि वैश्विक परिदृश्य में अन्य देशों की चालों का मुकाबला कैसे किया जाए और अपने देश के लिए अधिकतम लाभ कैसे सुनिश्चित किया जाए।

आर्थिक परस्पर निर्भरता के दौर में इसका महत्व और बढ़ गया है। आज दुनिया के देश व्यापार, तकनीक और निवेश के लिए एक-दूसरे पर आश्रित हैं। विश्व व्यापार संगठन (WTO), अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और विभिन्न क्षेत्रीय व्यापारिक समझौतों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि आर्थिक विकास के लिए वैश्विक सहयोग क्यों आवश्यक है।

यह विषय जलवायु परिवर्तन, आतंकवाद, और महामारियों जैसी वैश्विक समस्याओं के समाधान के लिए सामूहिक प्रयास की प्रेरणा देता है। ये ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें कोई भी देश अकेले हल नहीं कर

सकता। अंततः, यह विषय एक 'वैश्विक नागरिकता' की भावना विकसित करता है, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम' के आदर्श को व्यावहारिक धरातल पर उतारने में सहायक है।

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का स्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप निरंतर परिवर्तनशील और अन्त:विषयक (Interdisciplinary) है। इसका स्वरूप स्थिर नहीं है, क्योंकि यह वैश्विक राजनीति की बदलती परिस्थितियों के साथ विकसित होता रहता है। वेस्टफेलिया की संधि (1648) के समय इसका स्वरूप केवल संप्रभु राज्यों के बीच औपचारिक संबंधों तक सीमित था, लेकिन आज इसका स्वरूप 'राज्य-केन्द्रित' होने के साथ-साथ 'बहु-केन्द्रित' भी हो गया है। अब इसमें राज्य के अलावा संयुक्त राष्ट्र, यूरोपीय संघ, और यहाँ तक कि विशाल तकनीकी कम्पनियाँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस विषय का एक प्रमुख स्वरूप यह है कि यह शक्ति (Power) पर आधारित है। राष्ट्रों के व्यवहार का मूल प्रेरक तत्व शक्ति की प्राप्ति और उसका प्रयोग ही रहता है, चाहे वह सैन्य शक्ति हो या वैचारिक प्रभाव।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप वैज्ञानिक भी है और कलात्मक भी। व्यवहारवादी क्रांति के बाद से इसमें डेटा, सांख्यिकी और वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग बढ़ा है ताकि वैश्विक घटनाओं का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण किया जा सके। वहीं, कूटनीति और वार्ता के स्तर पर यह एक कला के रूप में प्रकट होता है। इसका एक अन्य महत्वपूर्ण स्वरूप इसकी 'अंतःविषयता' है। इसे समझने के लिए हमें इतिहास की घटनाओं, भूगोल की स्थितियों (भू-राजनीति), अर्थशास्त्र के सिद्धांतों और समाजशास्त्र के सामाजिक ढांचों को समझना पड़ता है। उदाहरण के लिए, रूस और यूक्रेन के संबंधों को समझने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ नाटो (NATO) के विस्तार और ऊर्जा राजनीति (अर्थशास्त्र) को भी समझना आवश्यक है। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है जो निरंतर युद्ध और शांति, संघर्ष और सहयोग, तथा राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रीयवाद के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करता है।

1.6 अध्ययन के उपागम

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के उपागमों से तात्पर्य उन दृष्टिकोणों या सैद्धांतिक ढांचों से है जिनके माध्यम से हम वैश्विक घटनाओं का विश्लेषण करते हैं। उपागम हमें यह बताते हैं कि हमें किन तथ्यों को महत्व देना चाहिए और किनकी उपेक्षा करनी चाहिए। चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत अत्यंत जटिल है, इसलिए कोई भी एक दृष्टिकोण इसे पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सकता। विद्वानों ने समय-समय पर विभिन्न उपागमों का विकास किया है जो विश्व राजनीति को अलग-अलग नजरिए से देखते हैं। कुछ उपागम नैतिकता और शांति पर बल देते हैं, तो कुछ शक्ति और स्वार्थ पर। आधुनिक काल में वैज्ञानिक और आर्थिक पहलुओं को भी अध्ययन का आधार बनाया गया है। इन उपागमों का

अध्ययन हमें यह समझने में मदद करता है कि राष्ट्र क्यों युद्ध करते हैं, क्यों सहयोग करते हैं और उनके निर्णयों के पीछे कौन सी अदृश्य शक्तियाँ कार्य करती हैं।

1.6.1 यथार्थवादी उपागम

यथार्थवादी उपागम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सबसे पुराना और प्रभावशाली सिद्धांत माना जाता है। इसके ऐतिहासिक आधार कौटिल्य, थ्यूसीडाइड्स और मैकियावेली के विचारों में मिलते हैं, जबकि आधुनिक काल में हंस जे. मॉर्गेन्थो ने इसे एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। यथार्थवाद की मूल मान्यता यह है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी और सत्ता का भूखा होता है, और राष्ट्रों का व्यवहार भी इसी मानवीय स्वभाव का प्रतिबिंब है। यह उपागम मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'अराजक' है, क्योंकि यहाँ राज्यों के ऊपर कोई ऐसी केंद्रीय सत्ता नहीं है जो उन्हें नियंत्रित कर सके। इसलिए, प्रत्येक राज्य का प्राथमिक लक्ष्य अपनी 'सुरक्षा' सुनिश्चित करना और अपने 'राष्ट्रीय हित' की रक्षा करना होता है। यथार्थवाद के अनुसार, राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है और नैतिकता का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई स्थान नहीं होता।

मॉर्गेन्थो ने यथार्थवाद के छह सिद्धांत दिए हैं, जिनमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि राजनीति के नियम मानवीय स्वभाव में निहित हैं और राष्ट्रीय हित को केवल शक्ति के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता है। यथार्थवादी मानते हैं कि विश्व में शांति केवल 'शक्ति संतुलन' (Balance of Power) के माध्यम से ही स्थापित की जा सकती है। यदि एक देश बहुत शक्तिशाली हो जाता है, तो अन्य देशों को गठबंधन बनाकर उसकी शक्ति को संतुलित करना चाहिए। यद्यपि यथार्थवाद की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सहयोग की संभावनाओं को नकारता है और युद्ध को अपरिहार्य मानता है, लेकिन आज भी राष्ट्रों की विदेश नीति के विश्लेषण में यह सबसे सटीक उपकरण माना जाता है।

1.6.2 आदर्शवादी उपागम

आदर्शवादी उपागम यथार्थवाद के बिल्कुल विपरीत खड़ा है। यह 'क्या है' के बजाय 'क्या होना चाहिए' पर ध्यान केंद्रित करता है। इस उपागम का विकास विशेष रूप से प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका के बाद हुआ, जब वुड्रो विल्सन जैसे विचारकों ने तर्क दिया कि युद्धों को रोका जा सकता है। आदर्शवाद की मूल मान्यता यह है कि मनुष्य स्वभाव से तर्कसंगत और सहयोगी है। यह उपागम नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और विश्व शांति पर बल देता है। आदर्शवादियों का मानना है कि युद्ध किसी राष्ट्र की स्वाभाविक स्थिति नहीं है, बल्कि यह त्रुटिपूर्ण व्यवस्था और गलत प्रणालियों का परिणाम है। यदि हम लोकतान्त्रिक संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को मजबूत करें, तो युद्धों को हमेशा के लिए समाप्त किया जा सकता है।

आदर्शवाद 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) के सिद्धांत में विश्वास करता है, जिसके अनुसार 'एक के खिलाफ हमला, सबके खिलाफ हमला' माना जाना चाहिए। लीग ऑफ नेशंस और बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसी आदर्शवादी सोच का परिणाम थी। यह उपागम मानता है कि राष्ट्रों को अपने स्वार्थों के बजाय वैश्विक कल्याण को प्राथमिकता देनी चाहिए। आलोचक इसे 'काल्पनिक' और 'अव्यवहारिक' कहते हैं, क्योंकि यह विश्व राजनीति की कठोर वास्तविकताओं और राष्ट्रों की शक्ति की भूख को नजरअंदाज करता है। फिर भी, मानवाधिकारों और अंतरराष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में इस उपागम का महत्व निर्विवाद है।

1.6.3 व्यवहारवादी उपागम

व्यवहारवादी उपागम का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 1950 और 60 के दशक में हुआ। यह परम्परागत ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन पद्धतियों के प्रति एक असंतोष था। व्यवहारवादियों का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अधिक 'वैज्ञानिक' और 'वस्तुनिष्ठ' होना चाहिए। यह उपागम नैतिकता या दार्शनिक मूल्यों के बजाय 'तथ्यों' और 'अवलोकनीय व्यवहार' पर जोर देता है। इसके समर्थकों का मानना है कि हमें राष्ट्रों के कार्यों का सूक्ष्म विश्लेषण करना चाहिए और सांख्यिकी, गणितीय मॉडल तथा डेटा का उपयोग करके सामान्य सिद्धांत बनाने चाहिए।

व्यवहारवादी उपागम में 'मूल्य-निरपेक्षता' (Value-neutrality) एक प्रमुख शर्त है। इसका अर्थ है कि एक शोधकर्ता को अपनी पसंद-नापसंद को अलग रखकर केवल उन्हीं घटनाओं का अध्ययन करना चाहिए जिन्हें मापा या सत्यापित किया जा सके। इस उपागम ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में खेल सिद्धांत (Game Theory), संचार सिद्धांत और प्रणालियों के विश्लेषण को बढ़ावा दिया। हालाँकि, इसकी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह राजनीति के मानवीय और भावनात्मक पहलुओं को पूरी तरह भूल जाता है और जटिल राजनीतिक समस्याओं को केवल अंकों और सूत्रों में समेटने की कोशिश करता है।

1.6.4 मार्क्सवादी उपागम

मार्क्सवादी उपागम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को आर्थिक आधारों और वर्ग-संघर्ष के नजरिए से देखता है। कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रभावित यह उपागम मानता है कि विश्व राजनीति केवल अमीर और गरीब राष्ट्रों के बीच के आर्थिक संघर्ष का विस्तार है। मार्क्सवादियों के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का ढांचा इस तरह बनाया गया है कि विकसित पूँजीवादी देश (उत्तर के देश) विकासशील और पिछड़े देशों (दक्षिण के देश) का शोषण करते रहें। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद: पूँजीवाद की अंतिम अवस्था' में स्पष्ट किया था कि पूँजीवादी राष्ट्र अपने अतिरिक्त माल को खपाने और कच्चे माल पर कब्जा करने के लिए युद्ध और साम्राज्यवाद का सहारा लेते हैं।

इस उपागम के अंतर्गत 'निर्भरता सिद्धांत' (Dependency Theory) और 'विश्व-व्यवस्था सिद्धांत' (World-Systems Theory) का अध्ययन किया जाता है। इनके अनुसार, विश्व राजनीति को 'केन्द्र' (Core) और 'परिधि' (Periphery) में विभाजित किया जा सकता है। केन्द्र के शक्तिशाली देश परिधि के गरीब देशों के संसाधनों का दोहन करते हैं और उन्हें आर्थिक रूप से गुलाम बनाए रखते हैं। मार्क्सवादी उपागम का लक्ष्य एक ऐसी विश्व व्यवस्था की स्थापना करना है जो शोषणमुक्त हो। आलोचक कहते हैं कि यह उपागम राजनीति के सुरक्षा और कूटनीतिक आयामों को पूरी तरह नजरअंदाज कर देता है और केवल अर्थव्यवस्था को ही सब कुछ मान लेता है।

1.6.5 तंत्र उपागम (Systems Approach)

तंत्र उपागम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक व्यापक 'व्यवस्था' या 'तंत्र' के रूप में देखता है। इसके प्रमुख प्रतिपादक मॉर्टन काप्लान हैं। यह उपागम जीव विज्ञान के सामान्य तंत्र सिद्धांत (General Systems Theory) से प्रेरित है। इसके अनुसार, विश्व राजनीति एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ विभिन्न राष्ट्र उसकी 'इकाइयाँ' हैं। ये इकाइयाँ एक-दूसरे से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि यदि एक राष्ट्र के व्यवहार में कोई परिवर्तन आता है, तो उसका प्रभाव पूरे तंत्र पर पड़ता है। तंत्र उपागम का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्थिरता कैसे बनी रहती है और वह किन परिस्थितियों में टूट जाती है।

मॉर्टन काप्लान ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के छह काल्पनिक मॉडल प्रस्तुत किए थे, जैसे; शक्ति संतुलन व्यवस्था, शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था, सुदृढ़ द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था, और सार्वभौमिक व्यवस्था। यह उपागम यह विश्लेषण करता है कि राष्ट्रों की संख्या, उनकी शक्ति का वितरण और उनके बीच के गठबंधन कैसे वैश्विक शांति को प्रभावित करते हैं। यह उपागम विश्व राजनीति को एक 'मशीन' की तरह विश्लेषित करने का प्रयास करता है। आलोचकों का मानना है कि यह उपागम अत्यधिक तकनीकी और अमूर्त (Abstract) है, जिसका वास्तविक राजनीति की जटिलताओं से सम्बन्ध बहुत कम है।

1.6.6 निर्णय-निर्माण उपागम(Decision-Making Approach)

निर्णय-निर्माण उपागम इस मौलिक धारणा पर आधारित है कि राष्ट्र स्वयं कोई कार्य नहीं करते, बल्कि उन राष्ट्रों के नाम पर कुछ विशिष्ट व्यक्ति निर्णय लेते हैं। इस उपागम के प्रमुख विचारक रिचर्ड स्नाइडर हैं। यह उपागम राष्ट्र को एक निर्जीव इकाई मानने के बजाय उन जीवित व्यक्तियों जैसे प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति और विदेश मंत्रियों के व्यवहार का अध्ययन करता है जो नीतियों का निर्धारण करते हैं। यह उपागम यह जानने का प्रयास करता है कि किसी संकट के समय निर्णय लेने वालों के दिमाग में क्या चल रहा था, उन्हें क्या सूचनाएँ उपलब्ध थीं और उनके ऊपर किन आंतरिक व बाह्य शक्तियों का दबाव था।

इस उपागम के अनुसार, किसी निर्णय को प्रभावित करने वाले तीन प्रमुख कारक होते हैं: आंतरिक वातावरण (देश की राजनीति, जनमत), बाहरी वातावरण (अन्तर्राष्ट्रीय दबाव) और निर्णय-निर्माताओं का व्यक्तिगत व्यक्तित्व (उनकी विचारधारा, शिक्षा, अनुभव)। उदाहरण के लिए, क्यूबा मिसाइल संकट के दौरान कैनेडी और ख्रुश्चेव के व्यक्तिगत निर्णयों ने दुनिया को परमाणु युद्ध से बचाया। यह उपागम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को जोड़ता है। इसकी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह व्यक्तिगत कारकों पर इतना अधिक ध्यान देता है कि व्यापक संरचनात्मक और आर्थिक कारणों को भूल जाता है। फिर भी, विदेश नीति के विश्लेषण में यह एक अत्यंत सूक्ष्म और प्रभावी उपकरण है।

1.7. सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर आधारित इस सम्पूर्ण इकाई का सूक्ष्म विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि यह विषय वर्तमान विश्व की जटिलताओं को समझने का सबसे सशक्त वैचारिक ढांचा है। इकाई के प्रारम्भ में हमने देखा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जड़ें भले ही प्राचीन सभ्यताओं और दार्शनिकों के विचारों में रही हों, किन्तु एक व्यवस्थित अकादमिक विषय के रूप में इसका विकास प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका के उपरान्त हुआ। 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि से जिस 'राष्ट्र-राज्य' और 'संप्रभुता' की अवधारणा का उदय हुआ था, वह आज के वैश्वीकृत युग में अत्यन्त व्यापक हो चुकी है। वर्तमान परिदृश्य में यह विषय केवल राष्ट्रों के बीच के सीमा विवादों या कूटनीतिक संधियों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह जलवायु परिवर्तन, वैश्विक आतंकवाद, आर्थिक परस्पर निर्भरता और मानवाधिकारों जैसे साझा मानवीय सरोकारों का एक सघन विमर्श बन चुका है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अब केवल 'राज्यों' का अध्ययन नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और वैश्विक नागरिक समाज के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं का एक विस्तृत जाल है। परमाणु युग में इस विषय का महत्व इसलिए और भी बढ़ गया है क्योंकि यह संघर्ष समाधान के वैज्ञानिक तरीके सुझाता है। आज कोई भी देश एकांत (Isolation) में नहीं रह सकता; उसे अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिए वैश्विक व्यवस्था का हिस्सा बनना ही पड़ता है। यह विषय इसी वैश्विक व्यवस्था की नियमावली को समझने में हमारी सहायता करता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन के उपागम जो हमें विश्व राजनीति को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने की दृष्टि प्रदान करते हैं। यथार्थवादी उपागम ने हमें यह सिखाया कि राष्ट्रों का व्यवहार उनके राष्ट्रीय हितों और शक्ति की आकांक्षा से प्रेरित होता है, जबकि आदर्शवादी उपागम ने हमें नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और विश्व शांति की सम्भावनाओं की ओर प्रेरित किया। व्यवहारवादी उपागम ने अध्ययन की पद्धति में वैज्ञानिकता, डेटा और वस्तुनिष्ठता का समावेश किया, जिससे घटनाओं का पूर्वानुमान लगाना सम्भव हुआ। मार्क्सवादी उपागम ने विश्व राजनीति के पीछे छिपे आर्थिक शोषण और अमीर-गरीब राष्ट्रों के मध्य व्याप्त 'वर्ग-संघर्ष' को उजागर किया। इसी प्रकार, तंत्र उपागम ने पूरी दुनिया को एक

संबंद्ध 'इकाई' के रूप में देखने की पद्धति विकसित की, जहाँ एक राष्ट्र का निर्णय पूरे वैश्विक तंत्र को प्रभावित करता है। अंततः निर्णय-निर्माण उपागम ने हमें उन व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक कारकों से परिचित कराया जो राष्ट्रों की विदेश नीति के पीछे सक्रिय होते हैं।

यह इकाई इस तथ्य की पुष्टि करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक निरंतर प्रवाहमान विषय है। यथार्थवाद से लेकर मार्क्सवाद तक और आदर्शवाद से लेकर व्यवहारवाद तक के सभी सिद्धांत एक-दूसरे के विरोधी होने के बावजूद वैश्विक वास्तविकता के अलग-अलग पहलुओं को उजागर करते हैं। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य, जो कि बहु-ध्रुवीयता और तकनीकी क्रान्ति की ओर अग्रसर है, में इन सिद्धांतों की समझ और भी प्रासंगिक हो गई है। यह इकाई न केवल सैद्धांतिक आधार प्रदान करती है, बल्कि समकालीन वैश्विक घटनाओं, युद्धों, व्यापारिक समझौतों और कूटनीतिक वार्ताओं का गहन और तार्किक विश्लेषण करती है । अंततः, इस इकाई का मूल उद्देश्य हमें एक ऐसे भविष्य की ओर ले जाना है जहाँ राष्ट्र अपने संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर एक न्यायपूर्ण और शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था की स्थापना में सहयोग कर सकें।

1.8. शब्दावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध: राष्ट्रों, अंतरराष्ट्रीय संगठनों और गैर-राज्य अभिकर्ताओं के मध्य होने वाली राजनीतिक, आर्थिक एवं सुरक्षात्मक अंतःक्रियाओं का व्यवस्थित अध्ययन।

2. यथार्थवाद: शक्ति और राष्ट्रीय हित को केंद्र में रखने वाला दृष्टिकोण, जो अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को अराजक मानता है और संघर्ष को अपरिहार्य स्वीकार करता है।

3.आदर्शवाद: अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता, कानून और सहयोग पर बल देने वाली विचारधारा, जो विश्व शांति और संस्थागत सुधारों को प्राथमिकता देती है।

4. राष्ट्र-राज्य: संप्रभुता, निश्चित भू-भाग और जनसंख्या वाली वह बुनियादी राजनीतिक इकाई, जिस पर आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का ढांचा टिका हुआ है।

5. उपागम: अंतरराष्ट्रीय घटनाओं के विश्लेषण और अध्ययन हेतु प्रयुक्त वह विशिष्ट सैद्धांतिक दृष्टिकोण या पद्धति जो तथ्यों को समझने का आधार प्रदान करती है।

6. शक्ति संतुलन: अंतरराष्ट्रीय शांति हेतु राष्ट्रों के मध्य शक्ति का ऐसा वितरण, जिससे कोई भी एक राष्ट्र इतना शक्तिशाली न हो सके कि वह दूसरों पर हावी हो जाए।

1.9. अभ्यास प्रश्न

1. 'पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स' (Politics Among Nations) पुस्तक के लेखक कौन हैं?

   (अ) वुड्रो विल्सन (ब) हंस जे. मॉर्गेन्थो (स) ई.एच. कार (द) मार्टन काप्लान

   उत्तर: (ब)

2. किस संधि को आधुनिक 'राष्ट्र-राज्य' प्रणाली का जन्मदाता माना जाता है?

   (अ) वरसाय की संधि (ब) पेरिस समझौता (स) वेस्टफेलिया की संधि (द) वियना कांग्रेस

   उत्तर: (स)

3. अंतरराष्ट्रीय संबंधों में 'यथार्थवाद' का मुख्य आधार क्या है?

   (अ) नैतिकता (ब) अंतरराष्ट्रीय कानून (स) शक्ति और राष्ट्रीय हित (द) विश्व शांति

   उत्तर: (स)

4. सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) का सिद्धांत किस उपागम से निकटता से जुड़ा है?

   (अ) यथार्थवाद (ब) आदर्शवाद (स) मार्क्सवाद (द) तंत्र उपागम

   उत्तर: (ब)

5. अंतरराष्ट्रीय राजनीति को एक 'व्यवस्था' (System) के रूप में विश्लेषित करने वाला विचारक कौन है?

   (अ) रिचर्ड स्नाइडर (ब) कार्ल मार्क्स (स) मार्टन काप्लान (द) पामर एवं पर्किन्स

   उत्तर: (स)

6. मार्क्सवादी उपागम अंतरराष्ट्रीय संबंधों को किस आधार पर देखता है?

   (अ) वर्ग संघर्ष और आर्थिक शोषण (ब) मनोवैज्ञानिक निर्णय (स) कूटनीतिक संधियाँ (द) धार्मिक आधार

   उत्तर: (अ)

7. व्यवहारवादी उपागम किस पर सर्वाधिक बल देता है?

(अ) ऐतिहासिक तथ्यों पर (ब) नैतिकता पर (स) वैज्ञानिक पद्धति और डेटा विश्लेषण पर (द) कानून पर

उत्तर: (स)

8. 'शक्ति का अर्थ केवल सैन्य शक्ति नहीं बल्कि वैचारिक प्रभाव भी है',यह विचार किस अवधारणा से मेल खाता है?

   (अ) हार्ड पावर (ब) सॉफ्ट पावर (स) संप्रभुता (द) अराजकता

   उत्तर: (ब)

9. निर्णय-निर्माण उपागम (Decision-Making Approach) के मुख्य प्रतिपादक हैं:

   (अ) हंस जे. मॉर्गेन्थो (ब) रिचर्ड स्नाइडर (स) वुड्रो विल्सन (द) लेनिन

   उत्तर: (ब)

10. अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एक स्वतंत्र विषय के रूप में उद्भव किस वर्ष माना जाता है?

    (अ) 1648 (ब) 1945 (स) 1919 (द) 1991

    उत्तर: (स)

1.9. निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के स्वरूप पर निबन्ध लिखिये।

प्रश्न 2: विभिन्न उपागमों की तुलना कीजिये।

प्रश्न 3: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के महत्व पर प्रकाश डालिये।

1.10. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, डॉ. पुखराज, *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति*, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. फड़िया, डॉ. बी.एल.: *अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध*, साहित्य भवन, आगरा।
3. पंत, पुष्पेश: *21वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध*, टाटा मैकग्रा हिल।

4. खन्ना, वी.एन.: *अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध*, विकास पब्लिशिंग हाउस।

1. Morgenthau, Hans J.: *Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace*, McGraw Hill.
2. Baylis, John, Steve Smith, and Patricia Owens: *The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations*, Oxford University Press.
3. Palmer, Norman D. and Howard C. Perkins: *International Relations: The World Community in Transition*, CBS Publishers.
4. Waltz, Kenneth: *Theory of International Politics*, Addison-Wesley.
5. Goldstein, Joshua S. and Jon C. Pevehouse: *International Relations*, Pearson.

ई-स्रोत (Digital Resources):

- संयुक्त राष्ट्र (United Nations) की आधिकारिक वेबसाइट (un.org)।
- विदेश मंत्रालय, भारत सरकार (mea.gov.in) की वार्षिक रिपोर्ट।
- JSTOR और Google Scholar पर उपलब्ध शोध पत्र।

इकाई 2: प्रथम विश्वयुद्ध-कालीन विद्यमान स्थितियाँ

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विश्व की स्थिति: पृष्टभूमि
2.3.1 उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप और विश्व
2.3.2 राष्ट्रवाद का उदय
2.3.3 द्वितीय औद्योगिक क्रांति और आर्थिक प्रतिस्पर्धा
2.3.4 सैन्यावाद और शस्त्र प्रतिस्पर्धा
2.3.5 नौसैनिक प्रतिस्पर्धा
2.4 अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सैन्य खेमेबंदी
2.5 युद्ध की ओर बढ़ता विश्व
2.5.1 1904-1905 रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय
2.5.2 1905-1906 का मोर्रोक्को संकट
2.5.3 1904 ब्रिटेन-रूस समझौता
2.5.4 1900 के प्रारम्भ में दक्षिण-पूर्वी यूरोप (बाल्कन प्रायद्वीप)
2.5.5 1908 का बोस्निया संकट
2.5.6 अगादिर संकट 1911
2.5.7 प्रथम बाल्कन युद्ध (1912)
2.5.8 द्वितीय बाल्कन युद्ध (1913)
2.6 विश्व युद्ध की पहली चिंगारी
2.7 युद्ध घोषणा का कालक्रम
2.8 प्रथम विश्व युद्ध घटनाक्रम
2.9 विश्व युद्ध के परिणाम
2.10 सारांश
2.11 अभ्यास प्रश्न
2.12 शब्दावली
2.13 निबंधात्मक प्रश्न
2.14 संदर्भ ग्रंथ
2.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.1 प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918) आधुनिक विश्व इतिहास के सबसे विनाशकारी घटनक्रमों में से एक है। इस युद्ध में अभूतपूर्व जनहानि एवं आर्थिक क्षति हुई।

बीसवीं शतब्दी का आरंभ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का चरमोत्कर्ष काल था। विश्व के बड़े भूभाग पर यूरोपीय शक्तियों का प्रभुत्व था। अद्योगिक उत्पादन, नए उपनिवेषों के अधिग्रहण एवं सैन्य क्षमता की वृद्धि जैसे क्षेत्रों में यूरोपीय महाशक्तियों के बीच एक होड़ सी मची थी। इस माहौल में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संदेह, अविश्वास और गुटबंदी के दौर ने युद्ध की संभावना को प्रबल बना दिया।

इस युद्ध का घटनाक्रम अत्यंत विनाशकरी था, हताहत होने वालों की संख्या करोड़ों में थी साथ ही आर्थिक क्षति ने यूरोप को भारी नुकसान पहुंचाया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात शिक्षार्थी —

1. बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विश्व की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों को समझ पाएंगे।
2. उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में व्याप्त शांति, शक्ति-संतुलन एवं कंसर्ट ऑफ यूरोप की अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
3. राष्ट्रवाद के उदय, द्वितीय औद्योगिक क्रांति, सैन्यवाद एवं शस्त्र प्रतिस्पर्धा जैसे कारकों को प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में विश्लेषित कर पाएंगे।
4. अंतर्राष्ट्रीय सैन्य खेमेबंदी (ट्रिपल अलायंस एवं ट्रिपल एंतांत्) की प्रक्रिया एवं उसके परिणामों को समझ पाएंगे।
5. प्रथम विश्व युद्ध के पश्चिमी एवं पूर्वी मोर्चों पर घटित प्रमुख युद्धों, ट्रेंच युद्ध एवं नौसैनिक संघर्षों का अध्ययन कर पाएंगे
6. प्रथम विश्व युद्ध के तात्कालिक परिणामों—जैसे साम्राज्यों का पतन, नए राष्ट्रों का उदय, वर्साय संधि, रूस में क्रांति तथा अमेरिका के उदय—का मूल्यांकन कर पाएंगे

2.3 बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विश्व की स्थिति: पृष्टभूमि

2.3.1 उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप और विश्व

उन्नीसवीं शताब्दी, यूरोप के लिए एक अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण शताब्दी साबित हुई। 1789 की फ्रांसीसी क्रांति और नपोलियन के यूरोप-व्यापी युद्धों के पश्चात काँग्रेस ऑफ वियेना (1815) की संधि हुई। इस संधि से यूरोप में एक लंबी शांति की नींव पड़ी जिसके मूल में था महाशक्तियों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रबंधन। उस दौर में महाशक्तियों द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति में भी सामनजस्य बनये रखने के प्रयास किए गए, इस शक्ति संतुलन और यथास्थिति बनाए रखने की नीति को **कंसर्ट ऑफ यूरोप** के नाम से जाना जाता है। यह एक पूर्ण शांति का दौर तो नहीं कहा जा सकता, क्रिमियाई युद्ध (1853-56) और जर्मन (1859) और इटली (1871) के एकीकरण के संघर्ष में यूरोप के कुछ इलाकों में युद्ध की स्थिति रही, परंतु 1815 से 1853 और 1871 से 1914 तक के दो कल खंडों को यूरोप में प्रायः शांति के काल के रूप में देखा जा सकता है।

यूरोप में शांति के इस लंबे दौर ने, यूरोपीय शक्तियों को अपने औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार करने का अभूतपूर्व अवसर दिया। परिणामस्वरूप इस उन्नीसवीं शताब्दी की अंत तक सम्पूर्ण विश्व यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण में आ चुका था। 1880 एवं 1890 के दशकों में अफ्रीकी महाद्वीप पर अधिकार के लिए यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों के मध्य एक प्रतियोगिता सी शुरू हो गयी जिसे ' अफ्रीका के लिए होड़' **(Scramble for Africa)** कहा जाता है। दो बड़े गैर-यूरोपीय साम्राज्य अपने अवसान की ओर बढ़ रहे थे – तुर्की का ओट्टोमन साम्राज्य एवं चीन का चिंग साम्राज्य, बिखरते हुए इन साम्राज्यों पर यूरोपीय शक्तियों की गिद्ध दृष्टि लगी हुई थी। विश्व के बचे-खुचे स्वाधीन क्षेत्रों के लिए भी यूरोपीय शक्तियों में प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी थी। अफ़ग़ानिस्तान और सायम (थायलैंड) बफ़र राज्य होने के कारण संरक्षित राज्य की स्थिति में अपनी स्वाधीनता कायम रख पाये थे। 1868 में खुलेपन को स्वीकार चुके जापान पर भी उपनिवेशवाद का खतरा मंडराया था परंतु जापान ने आश्चर्यजनक गति से आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण को अपना कर, किसी प्रकार अपना स्वाधीन अस्तित्व बरकरार रखा।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के दौर को यूरोपीय प्रभुत्व, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का उत्कर्ष कहा जा सकता है।

2.3.2 राष्ट्रवाद का उदय

जब यूरोपीय देश, विश्व पर अपना प्रभुत्व जमा रहे थे और अपने औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार कर रहे थे, उसी समय यूरोप में राष्ट्रवाद की भावना का भी तीव्र गति से उदय हो रहा था। राष्ट्रवाद एक राजनीतिक विचारधारा है, जिसके अनुसार समान भाषा, संस्कृति, इतिहास तथा साझा पहचान वाले लोग एक विशिष्ट सामाजिक/राजनीतिक समुदाय के भाग होते हैं, जिसे राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है और हर राष्ट्र को एक स्वतंत्र एवं संप्रभु राज्य के रूप में संगठित होने का अधिकार है।

यूरोप में 1848 हुई क्रांतियाँ राष्ट्रवाद की भावना से भी प्रेरित थीं, खासकर, औस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य तथा ओट्टोमन साम्राज्य जैसे 'बहुराष्ट्रीय' साम्राज्यों में हुई क्रांतियाँ। इन साम्राज्यों में कई प्रकार के भाषायी और जातीय समूह के लोग एक साथ रहते थे। मध्य एवं पूर्वी यूरोप के चेक, स्लोवाक, माग्यार(हंगेरियन), पोलिष, सर्ब, क्रोट, स्लोवीन, रोमेनियन आदि समुदाय स्वयं को राष्ट्र के रूप में देखने लगे और अपने लिए स्वायत्त अथवा स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की आकांक्षा करने लगे।

इटली और जर्मनी के एकीकरण ने भी इन राष्ट्रों को स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। राष्ट्रवाद (खासकर बाल्कन क्षेत्र) में प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ का एक बड़ा कारण बना।

2.3.3 द्वितीय औद्योगिक क्रांति औए आर्थिक प्रतिस्पर्धा

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप की अर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन आया। प्रारम्भिक औद्योगिक क्रान्ति का आधार मशीन-आधारित उत्पादन, कारखाना प्रणाली आदि थे। इसके पश्चात, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण वृहद उत्पादन (mass production) का एक नया दौर प्रारम्भ हुआ जिसे द्वितीय औद्योगिक क्रांति (1870-1914) के नाम से जाना जाता है। यह दौर उत्पादन एवं विनिर्माण के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति का दौर था। इसके परिणामस्वरूप, यूरोपीय राष्ट्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक एवं सैन्य प्रतिस्पर्धा के एक नए दौर की शुरुआत हुई।

1. उत्पादन क्षमता में प्रतिस्पर्धा

भले ही ब्रिटेन औद्योगिक क्रांति में अग्रणी रहा हो, परंतु अन्य राष्ट्रों जैसे की जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका ने भी तीव्र गति से औद्योगिक विकास किया। जर्मनी, इस्पात उद्योग के क्षेत्र में ब्रिटेन का प्रमुख प्रतिद्वंदी बनकर सामने आया।

2. कच्चे माल के लिए प्रतिस्पर्धा

यूरोपीय देशों के दिन-प्रतिदिन बढ़ते उद्योगों को कच्चे माल की निरंतर आवश्यकता थी- जैसे की कपास, लौह अयस्क, रबर, कोयला इत्यादि। सीमित भू-भाग वाले तथा स्वयं के प्रकृतिक संसाधनों का पहले ही उपयोग कर चुके, यूरोपीय राष्ट्रों की नज़र विश्व के अन्य कोनों पर पड़ी। इस प्रवृत्ति ने उपनिवेशवाद को और शक्ति दी। उपनिवेश (colonies), उपनिवेशवादी शक्तियों के लिए कच्चे माल का सस्ता और बंधुवा स्रोत (cheap and captive source) बन कर उभरे।

3. बाज़ार के लिए प्रतिस्पर्धा

बढ़ते उत्पादन के लिए औद्योगिक शक्तियों को बाज़ारों की भी आवश्यकता थी। साम्राज्यवादी औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने उपनिवेशों को अपने औद्योगिक उत्पादन के लिए बंधुवा बाज़ार (captive market) के रूप में विकसित किया गया।

4. समुद्री एवं व्यापारिक मार्गों पर नियंत्रण की प्रतिस्पर्धा

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बढ़ते महत्व के कारण अद्योगिक शक्तियाँ -जो की उस समय की प्रभावशील साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी शक्तियाँ भी थीं- समुद्री एवं व्यापारिक मार्गों पर नियंत्रण के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगीं।

औद्योगिक क्रांति भले ही आर्थिक क्षेत्र में आई हो परंतु उसने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और अंत में महशक्तियों के मध्य सैन्य प्रतिस्पर्धा को भी बढ़ावा दिया

2.3.4 सैन्यावाद (militarism) और शस्त्र प्रतिस्पर्धा (arms race)

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोपीय राष्ट्रों में सैन्यवाद की प्रवृत्ति सामने आई । सैन्यावाद से तात्पर्य है ऐसी राजनीतिक या सामाजिक प्रवृत्ति है, जिसमें एक राष्ट्र की शक्ति और उसकी प्रतिष्ठा उसकी सैन्य शक्ति एवं युद्ध में सफलता से मापी जाती है। इस कालखंड में सभी यूरोपीय शक्तियों द्वारा अपनी सेना का विस्तार किया गया, अपने अस्त्र शस्त्रों के भंडारों को बढ़ाया गया। औद्योगिक शक्ति को अस्त्र -शस्त्र और असलहे के निर्माण में लगाया गया। सैन्य शक्ति का विस्तार, राष्ट्रीय नीति का एक अभिन्न अंग बन गया। कुछ राष्ट्रों में सेना की संख्या वृद्धि के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा (conscription) भी लागू की गयी। इस प्रवृत्ति ने शास्त्रों की होड़ (arms race) को भी जन्म दिया।

2.3.5 नौसैनिक प्रतिस्पर्धा

थल सेना के साथ समुद्री शक्ति के क्षेत्र में भी महाशक्तियों में प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई। नौसेना सैन्य शक्ति का एक मानदंड ही नहीं उपनिवेषवादी शक्तियों के साम्राज्यवादी एवं व्यावसायिक हितों की रक्षा का प्रमुख साधन भी था।

उपनिवेश की दौड़ में पीछे छूटे जर्मनी द्वारा ब्रिटेन को नौसेना के क्षेत्र चुनौती दी गयी। जर्मन एकीकरण के पश्चात क़ैसर विल्हेल्म द्वितीय ने विशाल नौसेना निर्माण कार्यक्रम को प्रारम्भ किया। एड्मिरल अलफ्रेड वॉन ट्रिपिट्ज़ की नौसेना नीति के अंतर्गत ब्रिटेन की समुद्री शक्ति को चुनौती देने के लिए अनेक आधुनिक युद्धपोतों का निर्माण करवाया गया।

1906 मेँ ब्रिटेन द्वारा एचएमएस ड्रेडनॉट नमक अत्याधुनिक युद्धपोत का निर्माण किया गया। इस कारण नौसेना तकनीक के क्षेत्र में नयी क्रांति आई। इसके पश्चात जर्मनी और ब्रिटेन में युद्धपोत निर्माण की प्रतिस्पर्धा और तेज़ हो गयी।

सैन्यावाद, अस्त्र-शस्त्र एवं नौसेना प्रतिस्पर्धा ने यूरोप में भय, संदेह और असुरक्षा का भाव और गहरा कर दिया। इस संदेह की स्थिति में गुप्त संधियों का दौर शुरू हो गया।

2.4 अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सैन्य खेमेबंदी

यूरोपीय राष्ट्रों के आपसी मतभेद अब टकरार का कारण बनाने लगे थे। विश्व की प्रमुख शक्तियाँ अब दो धड़ों में विभाजित होने लगीं। आपसी मतभेद एवं आशंकाओं के कारण यूरोप की विभिन्न शक्तियाँ आपस में सैन्य समझौते, और परस्परिक रक्षा संधियाँ करने लगे, इस प्रकार विश्व सशस्त्र खेमों में बांटने लगा। **1882** में **जर्मनी**, **ऑस्ट्रीया-हंगरी** और **इटली** ने एक रक्षात्मक सैन्य समझौता किया जिसे **ट्रिपल अलायंस** के नाम से जाना जाता है।

1894 में **फ्रांस** और **रूस** के मध्य समझौता **(डूअल एंतांत्)** और **1904** में **फ्रांस** और **ब्रिटेन** के मध्य **(एंतांत् कोरडियाल)** और आखिर में **1907** में **ब्रिटेन** और **रूस** के मध्य समझौता। इस प्रकार ब्रिटेन, फ्रांस और रूस एक संयुक्त पक्ष के रूप में सामने आए जिसे **ट्रिपल एंतांत्** के नाम से जाना जाता है

कई इतिहासकर विश्व के दो प्रतिकूल पक्षों **(ट्रिपल अलायंस और ट्रिपल एंतांत्)** में विभाजित होने को प्रथम विश्व युद्ध का सबसे प्रबल कारण मानते हैं।

2.5 युद्ध की ओर बढ़ता विश्व

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की ऐसी कई घटनाएँ हुई जिन्होंने इन सशस्त्र पक्षों के एक दूसरे के समक्ष लाकर खड़ा कर दिया

2.5.1 1904-1905 रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय

एक एशियाई राष्ट्र द्वारा एक बड़ी यूरोपीय शक्ति की युद्ध में पराजय, वैश्विक स्तर पर एक बड़ी घटना थी। उपनिवेशवाद के चरम के उस दौर में एक गैर-यूरोपीय और गैर-श्वेत राष्ट्र द्वारा एक यूरोपीय ताकत की पराजय, उस समय व्याप्त श्वेत-वर्चस्व और नस्लवादी विचारों को बड़ी चुनौती थी। यह विचार उपनिवेश और साम्राज्यवाद के मूल में थे। उपनिवेशों में अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे पराधीन राष्ट्रों के लिए यह एक प्रेरणादायक क्षण था। इस पराजय ने यह साबित कर दिया की यूरोपीय शक्तियाँ अपराजेय नहीं थी। कुछ चार दशक पूर्व ही आधुनिकीकरण और औद्योगिकीकरण की राह पर चले जापान द्वारा एक स्थापित यूरोपीय शक्ति की पराजय, के कई परिणाम हुए।

रूस की कमजोर स्थिति सभी के सामने आ गयी जिसने उसे **एंतांत् शक्तियों की तरफ धकेला।**

युद्ध भूमि पर प्रयुक्त तकनीक और रणनीति, जैसे **ट्रेंच युद्ध** और **मशीन गन** जैसे तेज़ी से फायर करने वाले आग्नेयास्त्रों के प्रयोग के कारण, इस युद्ध को **वर्ल्ड वार ज़ीरो** भी कहा जाता है।

2.5.2 1905-1906 का मोर्रोक्को संकट

जर्मनी द्वारा फ्रांस और ब्रिटेन के मध्य हुए एंतांत् कोरडियाल को परखने का अवसर मोर्रोक्को संकट में मिला। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच अपने औपनिवेशिक हितों के आधार पर एक आपसी सहमति बन गयी थी – फ्रांस द्वारा ब्रिटेन के मिस्र पर अधिकार को स्वीकृति बदले में ब्रिटेन फ्रांस द्वारा मोर्रोक्को पर अधिकार स्थापित करने के प्रयास को सहमति प्रदान करेगा। जर्मनी द्वारा यह घोषणा की गयी की मोर्रोक्को की स्वतन्त्रता को कायम रखने में वह मोर्रोक्को के सुल्तान की हर संभव सहायता करेगा। इस मुद्दे पर आपसी सहमति बनाने के लिए जनवरी 1906 में स्पेन के अलगेसीरस में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच शत्रुत्व के लंबे इतिहास के कारण जर्मनी एंतांत् कोरडियाल को गंभीरता से नहीं ले रहा था। परंतु ब्रिटेन, जर्मनी के अंतर्राष्ट्रीय विश्व में बढ़ते प्रभुत्व से व्यथित था, इसी क्रम में अलगेसीरस सम्मेलन में ब्रिटेन, रूस, स्पेन और इटली द्वारा फ्रांस का समर्थन किया गया और फ्रांस द्वारा मोर्रोक्को की पुलिस और केंद्रीय बैंक पर अधिकार करने की मांग को जायज़ करार दिया गया। यहाँ पर महत्वाकांशी जर्मनी की बड़ी कूटनीतिक हार हुई।

2.5.3 1904 ब्रिटेन-रूस समझौता

भले ही उन्नीसवीं शतब्दी में ब्रिटेन और रूस के बीच कई मतभेद और संघर्ष रहे जैसे की क्रीमीया युद्ध और ईरान एवं मध्य एशिया पर प्रभुत्व का संघर्ष (ग्रेट गेम), परंतु जापान से युद्ध में पराजित होना के बाद कमजोर हुआ रूस, ब्रिटेन से समझौते के पक्ष में दिखने लगा। आर्थिक रूप से अन्य यूरोपीय देशों की तुलना में रूस अविकसित था, उसकी कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था को औद्योगिकीकरण की आवश्यकता थी, उसे इस में ब्रिटेन की पूंजी के निवेश की आवश्यकता थी। इन कारणों से दोनों राष्ट्रों के बीच सहयोग का युग प्रारम्भ हुआ जिसके अंतर्गत 1904 में ब्रिटेन-रूस समझौता हुआ।

2.5.4 1900 के प्रारम्भ में दक्षिण-पूर्वी यूरोप (बाल्कन प्रायद्वीप)

यूरोप के दक्षिण पूर्व के भाग अर्थात यूनान, बालकन प्रायद्वीप (आज के अल्बानिया, बोस्निया हेर्ज़ेगोविना, बल्गेरिया, क्रोएशिया, उत्तर मेसेडोनिया, मोंटेनेग्रो, रोमानिया एवं तुर्किये का यूरोपीय क्षेत्र) 1800 के प्रारम्भ में तुर्की के ओट्टोमन साम्राज्य के अधीन था। 1800 के पूर्वार्ध में ओट्टोमन साम्राज्य का कमज़ोर होना शुरू हो गया, 1830 में ग्रीस की स्वतन्त्रता के बाद साम्राज्य के अन्य यूरोपीय क्षेत्रों में भी स्वाधीनता आंदोलनों का प्रारम्भ हो गया जिन्हें पश्चिमी शक्तियों द्वारा सहयोग एवं समर्थन मिला। पश्चिमी शक्तियाँ ओट्टोमन साम्राज्य के विघटन की राह देख रही थीं। ओट्टोमन

साम्राज्य के अवसान के दिन निकट देख उसे यूरोप का बीमार आदमी (**Sickman of Europe**) कहा जाने लगा। 1878 में सर्बिया, मोंटेनेग्रो, रोमानिया ने ओट्टोमन साम्राज्य से स्वतंत्रता प्राप्त की। बल्गेरिया को 1878 में स्वायत्त घोषित किया गया और अंततः 1908 में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई। पश्चिमी शक्तियाँ अपने राष्ट्र हितों के लिए बाल्कन प्रायद्वीप में दिलचस्पी रखती थीं। ऑस्ट्रीया अपने क्षेत्र को बढ़ाना चाहता था, तो रूस अपने प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत करना चाहता था, फ्रांस और ब्रिटेन यह सुनिश्चित करना चाहते थे की कोई और शक्ति को ओट्टोमन साम्राज्य के विघटन का अत्यधिक लाभ न मिल सके। इन स्थितियों के कारण लंबे सामय तक बाल्कन प्रायद्वीप में अस्थिरता का बोलबाला रहा इस कारण ही बाल्कन प्रायद्वीप को **यूरोप का पाउडर-केग** (विस्फोटक रखने का बक्सा) कहा जाने लगा।

1908 का बोस्निया संकट

तुर्की में क्रांति का फ़ायदा उठाते हुए ऑस्ट्रीया ने तुर्की के बोस्निया प्रांत पर कब्ज़ा कर लिया। बोस्निया की जनसंख्या मिश्रित थी । वहाँ सर्बियन, क्रोएशियन और मुस्लिम (बोस्नियेक) मुख्य समुदाय थे। बोस्निया के 30 लाख सर्बियन लोगों के कारण सर्बिया, बोस्निया के इलाके को सर्बिया में सम्मिलित करना चाहता था, इस कारण ऑस्ट्रीया द्वारा बोस्निया पर कब्जे से सर्बिया अत्यंत व्यथित हुआ। इस बात का समाधान निकालने और सर्बिया के समर्थन के लिए रूस द्वारा एक यूरोपीय संगोष्ठी बुलाई गयी। (रूस सर्बिया को एक मित्र राष्ट्र के रूप में देखता था क्योंकि सर्बिया एक स्लाविक देश है, स्लाविक एक नृजातीय-भाषायी समूह है जिसमें रूसी, यूक्रेनियन, सर्बियन, क्रोएशियन, चेक़, स्लोवाक और पॉलिश जैसी भाषाएँ आती हैं।) रूस द्वारा बुलाई गयी यूरोपीय संगोष्ठी का कोई परिणाम नहीं निकला, क्योंकि जर्मनी ने ऑस्ट्रीया का पूरा समर्थन किया और इस कारण फ्रांस और ब्रिटेन पीछे हट गए। इसके दो परिणाम हुए - एक सर्बिया ऑस्ट्रीया के मध्य वैमनस्य पैदा हो गया। बोस्निया में सर्बिया से विलय के लिए आंदोलन प्रारम्भ हुआ जिसका त्रासद परिणाम हम आगे देखेंगे। दूसरा अपनी कूटनीतिक पराजय और अपने मित्रा राष्ट्रों के रवैये को देख रूस ने सैन्य तैयारियां प्रारम्भ कर दी।

2.5.6 अगादिर संकट 1911

मोर्रोक्को में सुलतान के विरुद्ध हुई क्रांति को रोकने के लिए फ्रांसीसी सेना ने मोर्रोको की राजधानी फेज़ (Fez) पर कब्ज़ा कर लिया। यह आशंका थी की फ्रांस अंततः मोर्रोक्को पर पूर्ण कब्ज़ा कर लेगा। ऐसी स्थिति फ्रांस पर दबाव बनाने के लिए जर्मनी द्वारा अपना युद्ध-पोत पैंथर को मोर्रोक्को के अगादिर बन्दरगाह पर भेजा गया। जर्मनी को यह आशा थी की फ्रांस मोर्रोक्को में उसके कब्ज़े को स्वीकारने की एवज़ में जर्मनी को फ्रेंच कोंगों (पश्चिमी अफ्रीका) का कुछ भाग देने को तैयार हो जाएगा। ब्रिटेन को आशंका थी की अगादिर में जर्मन युद्ध पोत की मौजूदगी उसके सामरिक हितों

(संवेदनशील समुद्री मार्ग) के लिए एक खतरा थी, अतः ब्रिटेन भी फ्रांस के समर्थन में आ गया। जर्मनी को मोर्रोक्को को एक फ्रांसीसी संरक्षित राज्य (protectorate) के रूप में स्वीकारना पड़ा जिसके बदले उसे थोड़ी सी भूमि फ्रेंच कोंगों में दे दी गयी। इसका परिणाम हुआ की जर्मनी की जनता में ब्रिटेन और फ्रांस के प्रति गहरा विद्वेष उत्पन्न हो गया।

2.5.7 प्रथम बाल्कन युद्ध (1912)

सर्बिया, ग्रीस, मेंटेनेग्रो और बल्गेरिया की संयुक्त बाल्कन लीग ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया और तुर्की के यूरोप में बचे हुए क्षेत्र पर कब्ज़ा कर लिया। ब्रिटिश विदेश सचिव सर एडवर्ड ग्रे (Edward Grey) ने इस संघर्ष को वृहत रूप लेने से रोकने के लिए लंदन में शांति सम्मेलन का आयोजन किया। तुर्की से कब्ज़ा किए गए क्षेत्र के बँटवारे से सर्बिया को निराशा हाथ लगी। स्थल-रुद्ध (land bound) सर्बिया, अल्बानिया का क्षेत्र चाहता था ताकि उसे समुद् तट का इलाका मिल सके, परंतु सर्बिया को निराशा ही हाथ लगी क्योंकि ऑस्ट्रीया के दबाव में अल्बानिया को एक स्वायत्त राष्ट्र बना दिया गया।

2.5.8 द्वितीय बाल्कन युद्ध (1913)

बल्गेरिया भी प्रथम बाल्कन युद्ध के परिणाम और तुर्की से अधिग्रहित क्षेत्र के बँटवारे से असंतुष्ट था। वह मेसेडोनिया का क्षेत्र चाहता था परंतु उसे सर्बिया को दे दिया गया। मेसेडोनिया पर अधिकार के लिए बल्गेरिया ने सर्बिया पर आक्रमण कर दिया। सर्बिया के समर्थन में तुर्की, ग्रीस और रोमानिया उठ खड़े हुए और बलगेरिया की भरी हार हुई।

बाल्कन घटनाक्रम के दूरगामी परिणाम हुए, **प्रथम विश्व युद्ध का प्रार्थमिक कारण** इस संघर्ष की पृष्ठभूमि में था।

2.6 विश्व युद्ध की पहली चिंगारी

ऑस्ट्रीया-हंग्री साम्राज्य के सम्राट फ्रांज़ जोज़ेफ के भतीजे और उत्तराधिकारी आर्चड्यूक फ्रांज़ फर्डिनेंड (Archduke Franz Ferdinand) बोस्निया में आधिकारिक यात्रा पर आए हुए थे। **28 जून 1914** को बोस्निया की राजधानी सारायेवो (Sarajevo) में एक सर्बियन आतंकवादी गेवरीलो प्रिंसेप (Gavrilo Princip) ने उनकी तथा उनकी पत्नी आर्चडचेस्स सोफी (Archduchess Sophie) की गोली मार कर हत्या कर दी। ऑस्ट्रीया ने सर्बिया को इस घटना का जिम्मेदार ठहराया और उसे चेतावनी देते हुए उस पर कई शर्तें लगाईं जिनमें से मुख्य शर्तें सर्बिया ने मान भी लीं। इसके बावजूद ऑस्ट्रीया-हंग्री ने जर्मन सहयोग से आश्वस्त हो कर **28 जुलाई** को भी सर्बिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। रूस ने इस बार सर्बिया के सहयोग में पीछे न रहते हुए 29 जुलाई को ही सैन्य

लामबंदी (general mobilization) घोषित कर दिया। जर्मनी ने रूस पर 1 अगस्त को और फ्रांस पर 3 अगस्त को युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए तटस्थ बेल्जियम से अपनी सेना भेजी, ब्रिटेन ने 1839 में बेल्जियम की तटस्थता की रक्षा के लिए संधि की थी, इस संधि के आलोक में ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध 4 अगस्त को युद्ध की घोषणा कर दी। ऑस्ट्रीया-हंग्री ने भी रूस के विरुद्ध 6 अगस्त को युद्ध घोषित कर दिया।

2.7 युद्ध घोषणा का कालक्रम

28 जून, 1914 - आर्चड्यूक फ्रांज़ फर्डिनेंड की हत्या

28 जुलाई, 1914 – ऑस्ट्रीया की सर्बिया के विरुद्ध युद्ध घोषणा

1 अगस्त, 1914 – जर्मनी की रूस के विरुद्ध युद्ध घोषणा

3 अगस्त, 1914 - जर्मनी की फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषणा

4 अगस्त, 1914 – जर्मनी द्वारा बेल्जियम की सीमाओं का उल्लंघन

ब्रिटेन द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा

6 अगस्त, 1914 – ऑस्ट्रीया की रूस के विरुद्ध युद्ध घोषणा

2.8 प्रथम विश्व युद्ध का घटनाक्रम

पक्ष

मित्र राष्ट्र (Allied Powers): ब्रिटेन, फ्रांस, रूस (1917 तक), इटली (1915 से), संयुक्त राज्य अमेरिका (1917 से), जापान, सर्बिया, बेल्जियम, रोमानिया और अन्य सहयोगी देश।

केन्द्रीय शक्तियाँ (Central Powers): जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी, ऑटोमन साम्राज्य और बुल्गारिया।

1914

पश्चिमी फ्रंट

युद्ध के प्रारम्भ के साथ ही जर्मनी ने अपने पूर्व-निर्धारित श्लीफ़ेन योजना (Schlieffen Plan) के तहत तटस्थ बेल्जियम पर आक्रमण किया। इस योजना का उद्देश्य बेल्जियम के रास्ते उत्तरी फ्रांस पर तीव्र गति से कब्जा करना था, ताकि ब्रिटिश सेना के आगमन से पहले इंगलिश चैनल के बन्दरगाहों

पर कब्जा किया जा सके। परंतु बेल्जियम द्वारा अप्रत्याशित प्रतिरोध और ब्रिटिश एक्सपेडिश्नरी फ़ोर्स (British Expeditionary Force) के समय से पहुँचने के कारण श्लीफ़ेन प्लान, सफल नहीं हो पाया। यद्यपि जर्मन सेना पेरिस के 20 मील दूर तक तो पहुँच गयी फिर भी वह नगर पर कब्जा नहीं कर पायी।

सितंबर में फ्रांसीसी सेना ने मार्शल जोफ़्फ्र (Joffre) के नेतृत्व में मार्न के युद्ध (Battle of Marne) में जर्मनी को हारा कर, जर्मन सेना को आइन (Aisne) नदी के पार धकेल दिया। इसके बाद दोनों तरफ की सेनाओं ने आइन (Aisne) नदी से सागर तक, ट्रेंच (trench) या खंदक खोद लिए। इसके बाद में पश्चिमी मोर्चे पर ट्रेंच युद्ध (Battle of trenches) शुरू हो गया। ट्रेंचों का युद्ध अत्यंत कष्टदायक था, जिसमें भारी जनहानि होने के बावजूद किसी भी पक्ष के लिए निर्णायक सफलता प्राप्त करना कठिन था। श्लीफ़ेन प्लान असफल रहा, जर्मनी फ्रांस पर त्वरित विजय प्राप्त नहीं कर सका, इस कारण उसे दो मोर्चों पर युद्ध (two front war) लड़ने पर मजबूर होने पड़ा।

पूर्वी फ्रंट

रूस ने ऑस्ट्रीया-हंगरी के विरुद्ध कुछ प्रारम्भिक सफलताएँ प्राप्त करी और गलिसिया (Galicia) के बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। जर्मनी सेना ने हिंडनबर्ग (Hindenburg) के नेतृत्व में टेनेनबर्ग (Tannenburg) और मसूरियन लेक्स (Massurian Lakes) के युद्ध में रूस को करारी शिकस्त दी।

ओट्टोमान तुर्की, केंद्रीय शक्तियों की तरफ से युद्ध में उतरा, यह रूस के लिए गंभीर स्थिति थी। तुर्की डार्डनेल्स (Dardanelles) जलडमरूमध्य को नियंत्रित करता था, जो रूस और भूमध्य सागर के बीच एकमात्र समुद्री मार्ग था। इस मार्ग के अवरुद्ध हो जाने से रूस का अपने सहयोगी राष्ट्रों के साथ समुद्री संपर्क बाधित हो गया और उसे सैन्य तथा आर्थिक दृष्टि से गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

1915

पश्चिमी फ्रंट

पश्चिमी फ्रंट पर ट्रेंचों के युद्ध में लंबे समय तक, यथास्थिति बनी रही। इस गतिरोध को तोड़ने के लिए, ब्रिटिश सेना ने न्यूव शापेल (Neuve Chapelle), लूस (Loos) में और फ्रांस ने शैम्पेन (Champagne) में जर्मन ट्रेंचों पर आक्रमण किया पर असफल रहे। उसी प्रकार जर्मनी ने भी यह कोशिश, ईप्र (Ypres) में की, परंतु ट्रेंच युद्ध की प्रकृति, सुदृढ़ रक्षा व्यवास्था तथा आधुनिक हथियारों के प्रयोग के कारण भारी जनहानि के बावजूद कोई भी पक्ष निर्णायक बढ़त प्राप्त करने में असफल रहा।

पूर्वी फ्रंट

रूस ने ऑस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध कुछ सफलताएँ प्राप्त कीं, परंतु तुर्की द्वारा डार्डनेल्स (Dardanelles) जलडमरूमध्य की नाकाबंदी (blockade) के कारण उसे भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रूस की सहायता के लिए ब्रिटेन ने गैलीपोली (Gallipoli) अभियान की शुरुआत की। गैलीपोलीअभियान के अंतर्गत ब्रिटेन डार्डनेल्स (Dardanelles) पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए गैलीपोली प्रायद्वीप (Gallipoli Peninsula) के रास्ते इस्तांबुल पर कब्जा करना चाहता था, परंतु यह अभियान पूरी तरह असफल रहा और ब्रिटिश सेना को भारी हानि उठानी पड़ी।

मई में इटली ने भी केंद्रीय शक्तियों पर युद्ध की घोषणा की और ऑस्ट्रिया-हंगरी के इतालवी-भाषी प्रान्तों पर अधिकार करने के उद्देश्य से ऑस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया।

1916

पश्चिमी फ्रंट

जर्मनी ने फ़ोल्केनहाइन (Falkenhayn) के नेतृत्व में वेर्दाँ (Verdun) पर हमला किया। मार्शल पेताँ (Pétain) के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना ने कठोर प्रतिरोध किया। दोनों सेनाओं को भारी हानि हुई। इस अभियान में जर्मनी के लगभग 3,15,000 तथा फ्रांस के लगभग 2,80,000 सैनिक हताहत हुए, परंतु किसी भी पक्ष को निर्णायक बढ़त प्राप्त नहीं हुई।

सोम (Somme) में ब्रिटिश सेना ने जुलाई से नवंबर 1916 तक यथास्थिति बदलने के लिए लगातार आक्रमण किए। जर्मनी ने भी कड़ा प्रतिरोध किया। इस अभियान में दोनों पक्षों को भारी हानी हुई। लगभग 6,50,000 जर्मन सैनिक, 4,18,000 ब्रिटिश सैनिक और 1,94,000 फ्रांसीसी सैनिक हताहत हुए। परंतु इस अभियान के अंत में भी युद्ध स्थल पर मित्र राष्ट्र सिर्फ कुछ मील ही आगे बढ़ सके। इस अभियान में हुए निरर्थक संहार के कारण ब्रिटिश जनरल हैग (General Haig) को भारी आलोचना का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप ब्रिटिश प्रधानमंत्री एस्क्विथ (Asquith) को इस्तीफा देना पड़ा और डेविड लॉयड जॉर्ज (David Lloyd George) ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने।

पूर्वी फ्रंट

ब्रूसीलोव के नेतृत्व में रूस ने ऑस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध नया अभियान प्रारम्भ किया और उल्लेखनीय सफलता हासिल की। परंतु इसी समय रोमानिया ने ऑस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी ने रोमानिया पर आक्रमण कर उसके अधिकांश भाग पर कब्जा कर लिया।

समुद्री युद्ध (1914-1917)

ब्रिटेन की शक्तिशाली नौसेना को चुनौती देने के लिए जर्मनी ने पनडुब्बियों (U-boats) के माध्यम से ब्रिटिश समुद्री आपूर्ति को बाधित करने का प्रयास किया। 1916 में जटलैंड (Jutland) का युद्ध दोनों पक्षों के बीच सबसे बड़ा नौसैनिक संघर्ष था, किंतु इसका कोई निर्णायक परिणाम नहीं निकला।

इसके बाद जर्मनी ने अप्रतिबंधित पनडुब्बी युद्ध (Unrestricted Submarine Warfare) की नीति अपनाई, जिसके तहत उसने नागरिक (व्यावसायिक एवं यात्री) जहाजों को भी निशाना बनाना प्रारम्भ किया जिससे मित्र राष्ट्रों को भारी क्षति पहुंची। यह रणनीति 1917 में संयुक्त राज्य अमेरिका के युद्ध में प्रवेश का एक प्रमुख कारण भी बनी।

1917

पश्चिमी फ्रंट

निवेल (Nivelle) अभियान में फ्रांस ने एक और असफल आक्रमण किया। ब्रिटिश सेना को भी पास्शेंडेल (Passchendaele) के युद्ध में कड़े जर्मन प्रतिरोध के चलते भारी हानि हुई। यथास्थिति में कुछ बदलाव का प्रारम्भ कैम्ब्रे (Cambrai) के युद्ध में टैंकों के बड़े पैमाने पर इस्तेमाल से हुआ। कैम्ब्रे का युद्ध मित्र राष्ट्रों के लिए आगे की रणनीति का आधार बना, क्योंकि इससे उन्हें यह समझ आया कि ट्रेंच युद्ध में टैंकों का प्रभावी ढंग से किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

वहीं कापोरेटो (Caporetto) में इतालवी सेना की भारी हार हुई।

पूर्वी फ्रंट

रूस ने युद्ध से पाँव खींच लिए। यह मित्र राष्ट्रों के लिए भरी झटका था। पूर्वी मोर्चे पर बंधी हुई जर्मनी की सेना अब पश्चिमी मोर्चे के लिए मुक्त हो चुकी थी।

संयुक्त राज्य अमरीका का युद्ध में प्रवेश

जर्मनी की अप्रतिबंधित पनडुब्बी युद्ध (Unrestricted Submarine Warfare) की नीति से अमेरिका पहले ही परेशान था। ज़िमरमैन टेलीग्राम (Zimmermann Telegram) के सार्वजनिक होने पर जब अमेरिका को यह पता चला कि जर्मनी मेक्सिको को उसके विरुद्ध युद्ध के लिए उकसा रहा है, तब अमेरिका ने खुलकर मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में प्रवेश किया। अमेरिका के संसाधनों का युद्ध के अंतिम परिणामों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

1918

लुडेनडोर्फ के नेतृत्व में जर्मनी ने युद्ध जीतने के लिए आखिरी बादहवास कोशिश की। मार्च 1918 में सोम से आगे बढ़ते हुए वह पेरिस के लगभग 40 मील करीब आ गया, परंतु मार्शल फ़ोश (Foch) के कुशल नेतृत्व में मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ डटी रही और जर्मन सेना का अचानक बढ़ा मनोबल धीरे-धीरे कमजोर होने लगा।

अगस्त 1918 में मित्र राष्ट्रों ने आमियाँ (Amiens) में प्रतिआक्रमण प्रारम्भ किया। लंबे युद्ध से थक चुकी जर्मन सेनाएँ पीछे हटने पर मजबूर होने लगीं। जर्मन नेतृत्व का एक वर्ग यह मान चुका था कि अब जर्मनी पराजय की ओर बढ़ रहा है और युद्ध जर्मनी के गृह क्षेत्र तक पहुँचने से पहले ही वह संधि करने के पक्ष में था। इसी क्रम में 11 नवंबर 1918 को युद्धविराम (Armistice) की घोषणा हुई।

2.9 प्रथम विश्व युद्ध के तात्कालिक परिणाम

1. केन्द्रीय शक्तियों की पराजय – युद्ध विराम के साथ ही जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी, ऑटोमन (तुर्की) साम्राज्य तथा बुल्गारिया पराजित हुए। प्रत्येक के साथ मित्र राष्ट्रों ने अलग-अलग शांति संधियाँ कीं।

वर्साय की संधि (Treaty of Versailles), जर्मनी के साथ हुई,जिसके अंतर्गत जर्मनी पर कठोर आर्थिक, सैन्य प्रतिबंध लगाए गए साथ ही उससे भारी युद्ध क्षतिपूर्ति (Reparations) की मांग भी की गई।

सेंट-जर्मेन की संधि (Treaty of Saint-Germain-en-Laye) ऑस्ट्रिया के साथ तथा ट्रियानॉन की संधि (Treaty of Trianon) हंगरी के साथ हुई। इन संधियों के परिणामस्वरूप ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य का औपचारिक विघटन सुनिश्चित हो गया।

न्यूई की संधि (Treaty of Neuilly-sur-Seine), बुल्गारिया के साथ हुई, जिसके तहत बुल्गारिया को अपने भूभाग का बड़ा हिस्सा खोने पड़ा।

सेव्र की संधि (Treaty of Sèvres), ऑटोमन (तुर्की) साम्राज्य के साथ हुई। जिसमें ऑटोमन (तुर्की) साम्राज्य के विगठन का मसौदा था। इसके चलते तुर्की में राष्ट्रीय आंदोलन प्रारम्भ हुआ और गणराज्य की स्थापना हुई। तुर्की गणराज्य से पुनः लॉज़ान की संधि (1923) की गयी।

2. रूस में साम्यवादी क्रांति – जिससे ज़ारशाही का अंत और बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई। इस क्रांति का एक प्रमुख कारण प्रथम विश्व युद्ध का रूस पर पड़ा प्रभाव भी माना जाता है।

3. साम्राज्यों का पतन और नए राष्ट्रों का उदय- ऑस्ट्रो-हंगेरियन, ऑटोमन तथा रूसी साम्राज्य का अंत हो गया जिसके परिणामस्वरूप पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फ़िनलैंड, एस्टोनिया, लातविया और लिथुआनिया जैसे नए राष्ट्र अस्तित्व में आए। प्रथम विश्व युद्ध से यूरोप का राजनीतिक मानचित्र पूरी तरह बदल गया।

4. अभूतपूर्व मानवीय एवं आर्थिक क्षति-

युद्ध में अभूतपूर्व मानवीय क्षति हुई। प्रथम विश्व युद्ध में अनुमानित 90 लाख से 1 करोड़ 10 लाख सैनिकों की मृत्यु हुई। इसके अतिरिक्त लगभग 60 लाख से 1 करोड़ 30 लाख नागरिकों की भी मृत्यु हुई।

इस भयानक विभीषिका ने यूरोप को झकझोर दिया तथा उसकी अर्थव्यवस्था, उद्योग और आधारभूत संरचना को भी भारी नुकसान पहुँचा।

5. अमरीका का विश्व शक्ति के रूप में उदय – संयुक्त राज्य अमरीका विश्व पटल पर अपनी अभी तक चलती आई अलगाव (isolation) की नीति से बाहर आकर एक प्रमुख शक्ति बन कर उभरा। जहां यूरोपीय शक्तियों को प्रथम विश्व युद्ध में भारी नुकसान उठाना पड़ा अमरीका के सैन्य संसाधनों, औद्योगिक उत्पादन तथा आर्थिक शक्ति शक्ति को इस युद्ध से और बल मिला।

2.10 सारांश

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान पश्चिमी और पूर्वी दोनों मोर्चों पर भीषण संघर्ष हुए। ट्रेंच युद्ध, पनडुब्बी युद्ध तथा नए हथियारों के प्रयोग ने युद्ध को अत्यंत विनाशकारी बना दिया। 1917–18 के दौरान रूस के युद्ध से हटने और अमेरिका के युद्ध में प्रवेश ने युद्ध की दिशा बदल दी। अंततः 11 नवंबर 1918 को युद्धविराम हुआ और केंद्रीय शक्तियों की पराजय हुई। युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप का राजनीतिक मानचित्र बदल गया, अनेक साम्राज्यों का अंत हुआ, नए राष्ट्र अस्तित्व में आए तथा अमेरिका विश्व शक्ति के रूप में उभरा।

2.11 अभ्यास प्रश्न

1. प्रथम विश्व युद्ध का युद्धविराम (Armistice) कब घोषित हुआ?

(अ) 28 जून 1919

(ब) 11 नवंबर 1918

(स) 4 अगस्त 1914

(द) 10 जनवरी 1920

2. जर्मनी के साथ कौन-सी शांति संधि हुई थी?

(अ) सेंट-जर्मेन

(ब) ट्रियानॉन

(स) वर्साय

(द) न्यूई

3. निम्नलिखित में से कौन-सा साम्राज्य प्रथम विश्व युद्ध के बाद समाप्त नहीं हुआ?

(अ) ऑटोमन साम्राज्य

(ब) ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य

(स) रूसी साम्राज्य

(द) ब्रिटिश साम्राज्य

4. प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका के युद्ध में प्रवेश का एक प्रमुख कारण क्या था?

(अ) ट्रियानॉन की संधि

(ब) ज़िमरमैन टेलीग्राम

(स) ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की संधि

(द) लोकर्नो संधि

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ब)

2. (स)

3. (द)

4. (ब)

2.12 शब्दावली (Glossary)

1. **युद्धविराम (Armistice)** – युद्ध रोकने का औपचारिक समझौता।
2. **क्षतिपूर्ति (Reparations)** – युद्ध से हुई क्षति की आर्थिक भरपाई।
3. **ट्रेंच (Trench)** – सैनिकों द्वारा बनाई गई रक्षात्मक खंदक।
4. **पनडुब्बी युद्ध** – समुद्र में पनडुब्बियों द्वारा संचालित युद्ध।
5. **केंद्रीय शक्तियाँ** – जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी आदि का गठबंधन।
6. **मित्र राष्ट्र** – ब्रिटेन, फ्रांस, रूस तथा बाद में अमेरिका का गठबंधन।
7. **अलगाववाद (Isolationism)** – अन्य देशों के मामलों से दूरी रखने की विदेश नीति।

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रथम विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों का विस्तार से वर्णन कीजिए। राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, सैन्यवाद एवं गठबंधन प्रणाली की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि इन कारकों ने किस प्रकार युद्ध को अनिवार्य बना दिया।

2. बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में घटित निम्नलिखित संकटों का विश्लेषण कीजिए—

- 1905-06 का मोर्रोक्को संकट
- 1908 का बोस्निया संकट
- 1911 का अगादिर संकट

इन संकटों ने किस प्रकार यूरोपीय शक्तियों के मध्य तनाव को बढ़ाया और अंततः प्रथम विश्व युद्ध का मार्ग प्रशस्त किया? स्पष्ट कीजिए।

3. बाल्कन प्रायद्वीप को 'यूरोप का पाउडर-केग' (बारूद का बक्सा) क्यों कहा जाता है?" प्रथम एवं द्वितीय बाल्कन युद्ध (1912-13) की घटनाओं का वर्णन करते हुए बताइए कि किस प्रकार इन युद्धों ने विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की।

2.14 संदर्भ ग्रंथ

1. Lowe, N. (2017). *Mastering Modern World History* (6th ed.). London: Red Globe Press.

2. Stevenson, D. (2004). *1914–1918: The History of the First World War*. London: Penguin Books.

3. Strachan, H. (2003). *The First World War: Volume I – To Arms*. Oxford: Oxford University Press.

4. Gilbert, M. (1994). *The First World War: A Complete History*. New York: Henry Holt and Company.

5. माथुर, एल. पी. (2018). *विश्व इतिहास*. आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स।

7.महाजन, वी. डी. (2019). *आधुनिक विश्व का इतिहास*. नई दिल्ली: एस. चाँद एंड कम्पनी।

2.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Keegan, J. (1998). *The First World War*. London: Pimlico.

2. शर्मा, एम. एल. (2021). *आधुनिक विश्व इतिहास*. जयपुर: कॉलेज बुक डिपो।

3. जैन, सतीश चन्द्र. (2020). *विश्व इतिहास (1789–1950)*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान।

4. Hobsbawm, E. (1994). *The Age of Extremes: The Short Twentieth Century, 1914–1991*. London: Michael Joseph.

5. Hobsbawm, E. J. (1987). *The Age of Empire, 1875–1914*. London: Weidenfeld & Nicolson.

इकाई 3: प्रथम विश्वयुद्धोत्तरकालीन अंतर्राष्ट्रीय स्थितियाँ, राष्ट्र संघ की असफलता

इकाई संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 इकाई के उद्देश्य
3.3 प्रथम विश्व युद्ध के बाद की दुनिया
3.4 राष्ट्र संघ की स्थापना और संरचन
3.5 राष्ट्र संघ की संरचनात्मक कमजोरियाँ
3.6 युद्धोत्तर परिस्थितियाँ: राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अंतर्राष्ट्रीय आयाम
3.7 प्रमुख संकट और राष्ट्र संघ की विफलता
3.8 द्वितीय विश्व युद्ध की ओर और राष्ट्र संघ का अंत
3.9 सारांश
3.10 शब्दावली
3.11 निबंधात्मक प्रश्न
3.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

3.1 प्रस्तावना

सन् 1918 में प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् समस्त विश्व के लोगों में एक ही गहन आकांक्षा जागृत हुई थी — कि ऐसी विनाशकारी घटना पुनः कभी न घटे। युद्ध में लगभग दो करोड़ व्यक्तियों की जानें चली गईं, अनेक समृद्ध शहर खंडहर में बदल गए, तथा संपूर्ण पीढ़ियाँ नष्ट हो गईं। इस अभूतपूर्व मानवीय त्रासदी से उत्पन्न वेदना ने एक नई आशा को जन्म दिया — **राष्ट्र संघ (League of Nations)** की स्थापना के रूप में।

राष्ट्र संघ की अवधारणा को समझने के लिए एक उपयुक्त उपमा ली जा सकती है। कल्पना कीजिए कि एक बड़े गाँव में विभिन्न परिवारों के बीच लंबे समय तक चला घोर संघर्ष अंततः विनाशकारी रूप ले लेता है, जिसमें अनेक घर ध्वस्त हो जाते हैं, खेती-बाड़ी नष्ट हो जाती है और कई जीवन चले जाते हैं। इस त्रासदी के बाद सभी परिवार एकत्र होकर निर्णय लेते हैं कि आगे से किसी भी विवाद की स्थिति में वे हिंसा या हथियारों का सहारा नहीं लेंगे, बल्कि एक **सामुदायिक परिषद् (Community Council)** का गठन कर संवाद, नियमों और सामूहिक सहमति के आधार पर समस्याओं का समाधान करेंगे।

राष्ट्र संघ ठीक यही था — संप्रभु राष्ट्रों की एक अंतर्राष्ट्रीय परिषद्, जिसका उद्देश्य युद्ध को रोकना और विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की एक स्थायी व्यवस्था खड़ी करना था।

किंतु जो सोचा गया था, वह व्यवहार में नहीं हो सका। राष्ट्र संघ की स्थापना के मात्र बीस वर्ष बाद ही विश्व दूसरी बार और भी अधिक विनाशकारी विश्व युद्ध की चपेट में आ गया। इस विफलता का कारण क्या था? इसमें कौन-सी संरचनात्मक, राजनीतिक और वैचारिक कमियाँ थीं? इन्हीं प्रश्नों के गहन विश्लेषण की दिशा में यह इकाई आपको ले जाएगी।

यह इकाई आपको 1919 के बाद की विश्व व्यवस्था से परिचित कराएगी — एक ऐसी दुनिया जो प्रथम विश्व युद्ध के गहरे घावों से उभरने का प्रयास कर रही थी, नए अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों का निर्माण कर रही थी, किंतु साथ ही पुरानी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं, उग्र राष्ट्रवाद और शक्ति-संतुलन की पारंपरिक राजनीति के बोझ से भी दबी हुई थी।

3.2 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद विद्यार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सक्षम होंगे:

1. प्रथम विश्व युद्ध के बाद की अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों को समझना।
2. वर्साय की संधि (1919) और उसके प्रमुख प्रावधानों का आलोचनात्मक विश्लेषण करना।
3. राष्ट्र संघ की स्थापना, संरचना और मूल सिद्धांतों का मूल्यांकन करना।
4. राष्ट्र संघ की संरचनात्मक कमजोरियों और उनके परिणामों को पहचानना।
5. मंचूरिया संकट, अबीसीनिया संकट और राइनलैंड पुनःशस्त्रीकरण जैसी प्रमुख घटनाओं में राष्ट्र संघ की भूमिका का परीक्षण करना।
6. यथार्थवाद और उदारवाद जैसे सैद्धांतिक ढाँचों के माध्यम से राष्ट्र संघ की विफलता की व्याख्या करना।
7. राष्ट्र संघ की विफलता से प्राप्त सीखों को संयुक्त राष्ट्र संघ और वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से जोड़ना।

3.3 प्रथम विश्व युद्ध के बाद की दुनिया

3.3.1 प्रथम विश्व युद्ध: विनाश का स्वरूप

प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918) आधुनिक इतिहास की सबसे विनाशकारी घटनाओं में से एक था। इस युद्ध में लगभग दो करोड़ लोग मारे गए तथा दो करोड़ से अधिक व्यक्ति घायल हुए। यूरोप के प्रमुख राष्ट्र आर्थिक रूप से पूर्णतः दिवालिया हो गए। ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य और ओटोमन साम्राज्य जैसे विशाल साम्राज्यों का विखंडन हो गया तथा नये राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ।

युद्ध ने केवल भौतिक संसाधनों और मानवीय जीवन को ही नष्ट नहीं किया, बल्कि सभ्यता, नैतिकता तथा मानव प्रगति के प्रति विश्वास को भी गहरा आघात पहुँचाया। युद्धोत्तर काल में एक ओर गहरी थकान, शोक और निराशा छाई हुई थी, तो दूसरी ओर यह आशा भी जागृत थी कि अब विश्व एक नई, बेहतर व्यवस्था की ओर अग्रसर हो सकता है। इसी मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में जनवरी 1919 में पेरिस शांति सम्मेलन का आयोजन हुआ।

3.3.2 वुडरो विल्सन के चौदह सूत्र (1918)

अमेरिकी राष्ट्रपति **वुडरो विल्सन** ने 8 जनवरी 1918 को अपने प्रसिद्ध चौदह सूत्र प्रस्तुत किए। ये सूत्र युद्धोत्तर विश्व शांति के लिए उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद (Liberal Internationalism) पर आधारित एक व्यापक कार्यक्रम थे।

नीचे इन चौदह सूत्रों को श्रेणीबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है:

क्रमांक	सूत्र का विषय	मुख्य प्रस्ताव
1	खुली कूटनीति (Open Diplomacy)	सभी अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ खुली होंगी, कोई गुप्त संधि नहीं होगी।
2	समुद्री स्वतंत्रता (Freedom of the Seas)	युद्ध और शांति दोनों अवस्थाओं में समुद्री मार्ग सभी राष्ट्रों के लिए स्वतंत्र होंगे।
3	आर्थिक बाधाओं का उन्मूलन	अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की बाधाओं को यथासंभव कम किया जाएगा।
4	निःशस्त्रीकरण (Reduction of Armaments)	सभी देशों में हथियारों की संख्या न्यूनतम स्तर तक घटाई जाएगी।
5	उपनिवेशों का निष्पक्ष समाधान	उपनिवेशों के भविष्य का निर्णय स्थानीय जनता के हितों और संबंधित सरकारों के हितों को ध्यान में रखकर किया जाएगा।
6	बेल्जियम की स्वतंत्रता	जर्मनी द्वारा कब्जे वाले बेल्जियम को पूर्ण स्वतंत्रता दी जाएगी।
7	फ्रांस का पुनर्निर्माण	फ्रांस से जर्मनी द्वारा कब्जे वाले क्षेत्र (अलसास-लोरेन) वापस लौटाए जाएंगे।
8	इटली की सीमाओं का पुनर्निर्धारण	इटली की सीमाओं को स्पष्ट रूप से पुनर्निर्धारित किया जाएगा।
9	ऑस्ट्रिया-हंगरी के लोगों को स्वायत्तता	ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के विभिन्न राष्ट्रों को स्वायत्तता प्रदान की जाएगी।
10	बाल्कन राज्यों (बाल्कन प्रायद्वीप) की स्वतंत्रता	बाल्कन क्षेत्र के विभिन्न राष्ट्रों को स्वतंत्रता दी जाएगी।
11	ओटोमन साम्राज्य का विखंडन	तुर्की के शासन वाले क्षेत्रों में गैर-तुर्की जनजातियों को स्वायत्तता दी जाएगी।
12	पोलैंड की स्वतंत्रता	स्वतंत्र और स्वायत्त पोलैंड राष्ट्र का गठन किया जाएगा।

क्रमांक	सूत्र का विषय	मुख्य प्रस्ताव
13	राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धांत	यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों को अपनी इच्छा से अपना भविष्य निर्धारित करने का अधिकार होगा।
14	राष्ट्र संघ की स्थापना	एक सामान्य अंतर्राष्ट्रीय संगठन (League of Nations) का गठन किया जाएगा, जो सामूहिक सुरक्षा और विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए कार्य करेगा।

विल्सन के चौदह सूत्रों में 14वाँ सूत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, क्योंकि इसी के आधार पर राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। किंतु पेरिस शांति सम्मेलन (1919) में इन सूत्रों का अधिकांश हिस्सा या तो कमजोर कर दिया गया या पूर्णतः उपेक्षित कर दिया गया, जिसके कारण वर्साय संधि दंडात्मक स्वरूप वाली बन गई।

3.3.3 वर्साय की संधि (1919)

जून 1919 में हस्ताक्षरित **वर्साय की संधि** पेरिस शांति सम्मेलन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दस्तावेज था। इस संधि ने पराजित जर्मनी पर अत्यंत कठोर एवं दंडात्मक शर्तें थोपीं। जर्मनी की लगभग 13 प्रतिशत भूमि और 10 प्रतिशत जनसंख्या छीन ली गई। उसकी सेना को मात्र एक लाख सैनिकों तक सीमित कर दिया गया, अनिवार्य सैन्य भर्ती समाप्त कर दी गई तथा भारी आयुधों का निर्माण निषिद्ध कर दिया गया।

संधि के **आर्टिकल 231** (War Guilt Clause) में जर्मनी तथा उसके सहयोगी देशों को युद्ध का एकमात्र दोषी ठहराया गया। इस खंड के आधार पर जर्मनी पर 132 अरब सोने के अंक (Gold Marks) का भारी हर्जाना थोपा गया।

प्रसिद्ध ब्रिटिश अर्थशास्त्री **जे.एम. कीन्स** ने उसी समय चेतावनी दी थी कि ये आर्थिक एवं अपमानजनक शर्तें जर्मनी को स्थिरता प्रदान करने के बजाय उसे और अधिक अस्थिर तथा प्रतिशोधी बना देंगी। इतिहास ने उनके इस पूर्वानुमान को सही सिद्ध किया। वर्साय संधि द्वारा पैदा किया गया आर्थिक संकट, राष्ट्रीय अपमान की भावना तथा राजनीतिक अस्थिरता ने बाद में हिटलर और नाजी पार्टी के उदय की उर्वर भूमि तैयार की।

3.4 राष्ट्र संघ की स्थापना और संरचना

3.4.1 स्थापना और वाचा (Covenant)

राष्ट्र संघ की औपचारिक स्थापना **10 जनवरी 1920** को हुई, जब वर्साय की संधि लागू हुई। संधि के प्रथम भाग में ही राष्ट्र संघ की **वाचा (Covenant)** समाहित थी, जिसमें कुल 26 अनुच्छेद थे। यह वाचा संगठन का मूल संवैधानिक दस्तावेज थी।

वाचा का मूल उद्देश्य **सामूहिक सुरक्षा (Collective Security)** की व्यवस्था स्थापित करना था। इसका केंद्रीय सिद्धांत यह था कि किसी भी सदस्य देश द्वारा दूसरे देश के विरुद्ध आक्रमण या विवाद को शांतिपूर्ण साधनों से सुलझाने से इनकार करने की स्थिति में सभी सदस्य देश मिलकर आर्थिक, राजनयिक तथा अंतिम रूप में सैन्य दबाव (Sanctions) डालेंगे। इस व्यवस्था को "एक के लिए सभी, सभी के लिए एक" के सिद्धांत पर आधारित माना गया था।

3.4.2 संगठनात्मक संरचना

राष्ट्र संघ की कार्यप्रणाली चार प्रमुख अंगों पर आधारित थी:

अंग	संरचना एवं सदस्यता	प्रमुख कार्य एवं विशेषताएँ
सभा (Assembly)	सभी सदस्य देशों का समावेश, प्रत्येक देश को एक मत	वार्षिक बैठक, सामान्य नीतियों पर चर्चा, बजट स्वीकृति। निर्णय के लिए सर्वसम्मति आवश्यक।
परिषद (Council)	स्थायी सदस्य: ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान (बाद में जर्मनी 1926 में शामिल) अस्थायी सदस्य: चुने गए अन्य देश	अंतर्राष्ट्रीय संकटों पर त्वरित कार्रवाई, विवादों का समाधान। शक्ति-संतुलन का प्रमुख अंग।
सचिवालय (Secretariat)	जिनेवा (स्विट्ज़रलैंड) स्थित स्थायी प्रशासनिक निकाय	दैनिक प्रशासन, दस्तावेज़ीकरण, बैठक आयोजन, रिपोर्ट तैयार करना। महासचिव इसका प्रमुख होता था।

अंग	संरचना एवं सदस्यता	प्रमुख कार्य एवं विशेषताएँ
स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय (PCIJ)	हेग (नीदरलैंड) स्थित	देशों के बीच कानूनी विवादों का न्यायिक समाधान। अंतर्राष्ट्रीय कानून का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्र संघ के अधीन कई विशेष एजेंसियाँ (जैसे ILO, स्वास्थ्य संगठन आदि) भी कार्यरत थीं।

3.4.3 सदस्यता तथा प्रमुख अनुपस्थितियाँ

अपने चरम पर राष्ट्र संघ में **58 सदस्य देश** थे। किंतु इसकी सबसे बड़ी संरचनात्मक कमजोरी इसके सदस्यों की गुणवत्ता और संख्या में छिपी थी।

- **अमेरिका की अनुपस्थिति**: सबसे गंभीर कमी यह थी कि जिस राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने राष्ट्र संघ की अवधारणा दी थी, उसी का देश अमेरिका कभी इसका सदस्य नहीं बना। अमेरिकी सीनेट ने वर्साय संधि की पुष्टि करने से इनकार कर दिया। मुख्य कारण यह था कि सीनेटरों को आशंका थी कि सामूहिक सुरक्षा की जिम्मेदारी अमेरिका को यूरोप के भविष्य के युद्धों में अनावश्यक रूप से घसीट लेगी। इस अनुपस्थिति ने संगठन को विश्व की सबसे शक्तिशाली अर्थव्यवस्था और सैन्य शक्ति से वंचित कर दिया।
- **प्रारंभिक बहिष्कार**: जर्मनी को 1926 तक और सोवियत संघ को 1934 तक सदस्यता से वंचित रखा गया।
- **1930 के दशक में निकास**: सबसे घातक झटका तब लगा जब आक्रामक शक्तियाँ क्रमशः संगठन छोड़ने लगीं — जापान (1933), जर्मनी (1933) और इटली (1937)।

परिणामस्वरूप, जिस संगठन को विश्व की समस्त राष्ट्रों की व्यापक पंचायत बनना था, वह वास्तव में कुछ पश्चिमी यूरोपीय शक्तियों और उनके सहयोगी देशों का क्लब बनकर रह गया। इस सीमित सदस्यता ने राष्ट्र संघ की वैधता, प्रभावशीलता और सार्वभौमिकता को गंभीर रूप से क्षति पहुँचाई।

3.5 राष्ट्र संघ की संरचनात्मक कमजोरियाँ

3.5.1 सर्वसम्मति की बाध्यता

राष्ट्र संघ की सबसे घातक कमजोरी यह थी कि किसी भी निर्णय के लिए सभा और परिषद में सर्वसम्मति जरूरी थी। इसका मतलब था कि जिस देश पर आरोप हो, वह भी वीटो कर सकता था। ऐसे में कोई ठोस कार्रवाई करना लगभग असंभव हो जाता था।

3.5.2 सेना का अभाव

राष्ट्र संघ के पास अपनी कोई स्थायी सेना नहीं थी। यदि किसी देश के खिलाफ सैन्य कार्रवाई की जरूरत होती, तो सदस्य देशों से स्वैच्छिक आधार पर सेना माँगनी पड़ती। ब्रिटेन और फ्रांस — दोनों प्रमुख देश — अपने साम्राज्यों की जिम्मेदारियों से दबे थे और किसी दूर के संघर्ष के लिए सैनिक भेजने को तैयार नहीं थे। बिना दाँत के इस संगठन की गरज से कोई नहीं डरता था।

3.5.3 वाचा की अस्पष्टताएँ

राष्ट्र संघ की वाचा के कई अनुच्छेद जानबूझकर या अनजाने में अस्पष्ट रखे गए थे। अनुच्छेद 10 में क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा का वादा था, लेकिन यह स्पष्ट नहीं था कि इसे लागू करने की जिम्मेदारी किस पर है। अनुच्छेद 16 के प्रतिबंध स्वचालित नहीं थे — सदस्य देश अपनी मर्जी से इन्हें लागू कर सकते थे या छोड़ सकते थे। यह राष्ट्र संघ को एक बाघ की जगह एक कागजी शेर बना देता था।

3.5.4 महाशक्तियों का स्वार्थ

शायद सबसे मौलिक समस्या यह थी कि राष्ट्र संघ उन देशों के भरोसे टिका था जो अपने राष्ट्रीय हित को हमेशा पहले रखते थे। ब्रिटेन और फ्रांस कभी-कभी आक्रामक देशों के साथ समझौते करना ज्यादा सुविधाजनक पाते थे बजाय राष्ट्र संघ के सिद्धांतों को बनाए रखने के। इस व्यवहार ने राष्ट्र संघ की विश्वसनीयता को धीरे-धीरे खोखला कर दिया।

3.6 युद्धोत्तर परिस्थितियाँ: राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अंतर्राष्ट्रीय आयाम

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति (1918) के पश्चात् विश्व न केवल भौतिक एवं मानवीय तबाही से जूझ रहा था, बल्कि एक गहन परिवर्तनकारी संक्रमण काल से भी गुजर रहा था। युद्ध ने पुरानी यूरोपीय व्यवस्था को तोड़ दिया और नई राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक वास्तविकताओं को जन्म दिया। वर्साय संधि, विल्सन के चौदह सूत्र तथा राष्ट्र संघ की स्थापना इन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि थे, किंतु युद्धोत्तर विश्व की जटिलता इनसे कहीं अधिक व्यापक थी। इस खंड में हम इन परिस्थितियों का स्वतंत्र एवं गहन विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि राष्ट्र संघ की विफलता केवल संरचनात्मक कमियों का परिणाम नहीं, बल्कि इन गहरी संरचनात्मक विरोधाभासों का भी परिणाम थी।

3.6.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ

युद्ध के अंत ने यूरोप के चार प्रमुख साम्राज्यों — जर्मन, ऑस्ट्रिया-हंगरी, ओटोमन तथा रूसी — के विखंडन को जन्म दिया। इस विखंडन से **नए राष्ट्र-राज्यों** का उदय हुआ। वर्साय, सेंट जर्मेन, ट्रियानॉन तथा सेव्रेस संधियों के माध्यम से पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया (सर्ब, क्रोएट तथा स्लोवेन राज्यों का राज्य), बाल्टिक गणराज्य (एस्टोनिया, लातविया, लिथुआनिया) तथा हंगरी जैसे स्वतंत्र राष्ट्रों का गठन हुआ।

इस प्रक्रिया ने एक ओर **राष्ट्रीय आत्म-निर्णय** (national self-determination) के सिद्धांत को साकार किया, तो दूसरी ओर **सत्ता-शून्यता (power vacuum)** पैदा की। नए राज्य कमजोर, आर्थिक रूप से अस्थिर और आंतरिक रूप से विभाजित थे। सबसे गंभीर समस्या **अल्पसंख्यक प्रश्न** थी। नई सीमाओं के निर्धारण में जातीय, भाषाई तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों की उपेक्षा हुई, जिसके फलस्वरूप लाखों लोग बिना सुरक्षा के रह गए। उदाहरणस्वरूप, चेकोस्लोवाकिया में सूडेटन जर्मन, पोलैंड में जर्मन तथा यूक्रेनी अल्पसंख्यक, और युगोस्लाविया में क्रोएट-सर्ब तनाव बाद के दशकों में गंभीर संकट का कारण बने।

इसके साथ ही **रूसी क्रांति (1917)** और बोल्शेविक शासन की स्थापना ने पूरे यूरोप में **कम्युनिज्म के भय** को जन्म दिया। पश्चिमी शक्तियों में यह आशंका फैल गई कि क्रांति का संक्रमण अन्य देशों में फैल सकता है। इस भय ने यूरोपीय राजनीति को दक्षिणपंथी तथा रूढ़िवादी दिशा में धकेला और लोकतंत्र की स्थिरता को चुनौती दी।

3.6.2 आर्थिक परिस्थितियाँ

युद्धोत्तर अर्थव्यवस्था अत्यंत अस्थिर थी। युद्ध ऋणों, हर्जाने तथा भौतिक विनाश ने यूरोप की पुरानी आर्थिक व्यवस्था को चरमरा दिया।

- **जर्मनी की हाइपरइन्फ्लेशन (1923)**: वर्साय संधि के हर्जाने (132 अरब सोने के अंक) ने जर्मन अर्थव्यवस्था को तबाह कर दिया। मुद्रास्फीति इतनी अधिक हो गई कि 1923 में एक डॉलर के बदले 4.2 ट्रिलियन मार्क की दर से विनिमय होने लगा।
- **1920 के दशक का संकट**: युद्ध ऋणों की समस्या (अमेरिका ब्रिटेन तथा फ्रांस का कर्जदार) और हर्जानों की अदायगी ने अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था को जटिल बना दिया।
- **1929 की महामंदी (Great Depression)**: वॉल स्ट्रीट क्रैश के बाद विश्वव्यापी मंदी ने बेरोजगारी, बैंकिंग संकट तथा औद्योगिक उत्पादन में भारी गिरावट पैदा की। जर्मनी में बेरोजगारी 1932 तक 40 प्रतिशत से ऊपर पहुँच गई। इस मंदी ने राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा दिया और उदारवादी लोकतंत्रों के प्रति जनता का विश्वास घटाया।

इन आर्थिक संकटों ने राष्ट्रवाद, संरक्षणवाद तथा आर्थिक राष्ट्रवाद को बल दिया, जिसने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की संभावनाओं को कमजोर किया।

3.6.3 सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ

युद्ध ने "खोई हुई पीढ़ी" (Lost Generation) को जन्म दिया। लाखों युवा सैनिकों की मृत्यु तथा विकलांगता ने पूरे समाज में गहरी थकान और **शांति-वादी भावना (pacifism)** पैदा की। युद्ध-विरोधी साहित्य (जैसे एरिक मारिया रेमार्क का *All Quiet on the Western Front*) और शांति आंदोलन इस मनोदशा के प्रतीक थे।

किंतु इसी के साथ **उग्र राष्ट्रवाद** तथा प्रतिशोध की भावना भी बढ़ी। जर्मनी में "पीठ में छुरा घोंपने" (stab-in-the-back myth) की अफवाह, इटली में "विकृत विजय" (mutilated victory) की भावना और फ्रांस में सुरक्षा की तीव्र इच्छा ने फासीवाद तथा नाजीवाद के उदय की सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार की। युवा वर्ग में बेरोजगारी, सामाजिक असुरक्षा तथा पारंपरिक मूल्यों के विघटन ने इन अतिवादी विचारधाराओं को आकर्षक बना दिया।

3.6.4 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्थिरता तथा अंतर्निहित तनाव

1920 का दशक पूर्णतः अराजक नहीं था। 1924–1929 के बीच **आंशिक स्थिरता** का काल था, जिसे "लोकार्नो युग" भी कहा जाता है।

- **लोकार्नो संधियाँ (1925)**: जर्मनी ने अपनी पश्चिमी सीमाओं (फ्रांस-बेल्जियम) को स्वीकार किया तथा ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ सुरक्षा समझौते किए गए। जर्मनी को 1926 में राष्ट्र संघ की सदस्यता मिली।
- **केलॉग-ब्रियां समझौता (1928)**: 62 देशों ने युद्ध को "राष्ट्रीय नीति के साधन" के रूप में त्यागने का वादा किया।

ये समझौते उस समय की **आशा** के प्रतीक थे। किंतु यह स्थिरता **कागजी और नाजुक** थी। पूर्वी यूरोप की सीमाओं को जर्मनी ने स्वीकार नहीं किया, अमेरिका की अनुपस्थिति बनी रही और आर्थिक संकट ने इन संधियों को व्यर्थ बना दिया। 1930 के दशक में जब आक्रामक शक्तियाँ (जापान, जर्मनी, इटली) उभरीं, तब यह कृत्रिम स्थिरता ध्वस्त हो गई।

युद्धोत्तर परिस्थितियाँ बहुआयामी विरोधाभासों से भरी थीं — पुरानी व्यवस्था का पतन और नई व्यवस्था का निर्माण, शांति की आकांक्षा और प्रतिशोध की भावना, लोकतंत्र का उदय और अतिवाद का बीज। राष्ट्र संघ इन परिस्थितियों के बीच कार्य कर रहा था, किंतु इन अंतर्निहित कमजोरियों ने ही अंततः उसकी प्रभावशीलता को सीमित कर दिया। इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि राष्ट्र संघ की विफलता केवल उसकी संरचना की नहीं, बल्कि युद्धोत्तर विश्व की समग्र जटिलता की भी देन थी।

3.7 प्रमुख संकट और राष्ट्र संघ की विफलता

3.7.1 मंचूरिया संकट (1931-1933)

सितंबर 1931 में जापान ने एक सुनियोजित बहाने के आधार पर चीन के मंचूरिया प्रांत पर सैन्य आक्रमण कर वहाँ नियंत्रण स्थापित कर लिया। इस आक्रामक कार्रवाई के प्रत्युत्तर में चीन ने राष्ट्र संघ से हस्तक्षेप की अपील की। संघ ने इस प्रकरण की जाँच हेतु लिटन आयोग (Lytton Commission) का गठन किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में जापान की कार्यवाही की स्पष्ट रूप से निंदा की। तथापि, आयोग की रिपोर्ट प्रस्तुत होने तक जापान मंचूरिया में 'मंचूकुओ' नामक एक कठपुतली राज्य की स्थापना कर चुका था।

फरवरी 1933 में राष्ट्र संघ द्वारा की गई निंदा के प्रतिउत्तर में जापान ने संघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इस घटना ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष राष्ट्र संघ की संरचनात्मक दुर्बलताओं और उसकी प्रवर्तन क्षमता की सीमाओं को उजागर कर दिया, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि शक्तिशाली राष्ट्रों के विरुद्ध प्रभावी कार्रवाई करने में संघ असमर्थ था।

3.7.2 अबीसीनिया संकट (1935-1936)

अक्टूबर 1935 में बेनीटो मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवादी इटली ने अफ्रीकी राष्ट्र अबीसीनिया (वर्तमान इथियोपिया) पर आक्रमण कर दिया। उल्लेखनीय है कि इटली स्वयं राष्ट्र संघ का सदस्य था। इस संकट के संदर्भ में राष्ट्र संघ ने अपने सामूहिक सुरक्षा तंत्र को सक्रिय करते हुए इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लागू किए।

हालाँकि, ये प्रतिबंध आंशिक और अप्रभावी सिद्ध हुए, क्योंकि इनमें तेल, कोयला और लौह जैसे महत्वपूर्ण सामरिक संसाधनों को सम्मिलित नहीं किया गया। इस सीमित प्रतिबंध नीति के पीछे ब्रिटेन और फ्रांस की रणनीतिक प्राथमिकताएँ निहित थीं, जो बेनीटो मुसोलिनी को एडोल्फ हिटलर के निकट जाने से रोकना चाहते थे। इसी संदर्भ में होएर-लावल समझौता प्रस्तावित किया गया, जिसका उद्देश्य अबीसीनिया के एक बड़े भाग को इटली को सौंपकर विवाद का समाधान करना था। इस समझौते के सार्वजनिक होने पर व्यापक आलोचना हुई, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश विदेश मंत्री को इस्तीफा देना पड़ा।

किन्तु, इन कूटनीतिक प्रयासों और सीमित प्रतिबंधों के बावजूद स्थिति पर कोई प्रभावी नियंत्रण स्थापित नहीं किया जा सका। मई 1936 तक इटली ने अबीसीनिया पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया और तत्पश्चात प्रतिबंध भी समाप्त कर दिए गए। इस परिप्रेक्ष्य में, अबीसीनिया के सम्राट हेले सेलासी ने राष्ट्र संघ की सभा में अपने प्रसिद्ध भाषण में चेतावनी दी कि सामूहिक सुरक्षा की विफलता के परिणाम व्यापक होंगे—एक ऐसी चेतावनी, जो शीघ्र ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सत्य सिद्ध हुई।

3.7.3 राइनलैंड का पुन:शस्त्रीकरण (1936)

मार्च 1936 में एडोल्फ हिटलर ने जर्मन सेना को राइनलैंड क्षेत्र में पुनः प्रवेश करने का आदेश दिया, जो वर्साय की संधि के अंतर्गत अनैसैनिकीकृत घोषित किया गया था। यह कदम संधि की शर्तों का प्रत्यक्ष उल्लंघन था और यूरोपीय शक्ति-संतुलन के लिए एक गंभीर चुनौती के रूप में देखा गया।

उल्लेखनीय है कि एडोल्फ हिटलर ने बाद में स्वीकार किया कि यदि फ्रांस ने तत्काल सैन्य हस्तक्षेप किया होता, तो जर्मन सेना को पीछे हटने के लिए विवश होना पड़ता। तथापि, फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ने किसी प्रकार की प्रत्यक्ष सैन्य कार्रवाई से परहेज़ किया।

इस परिस्थिति में राष्ट्र संघ ने औपचारिक रूप से इस कार्रवाई की निंदा की, किन्तु उसके पास इसे लागू कराने हेतु कोई प्रभावी तंत्र नहीं था। परिणामस्वरूप, यह प्रकरण राष्ट्र संघ की संस्थागत सीमाओं और उसकी प्रवर्तन क्षमता की कमजोरी को स्पष्ट रूप से उजागर करता है।

इस निष्क्रियता ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्पष्ट संदेश दिया कि स्थापित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को चुनौती देने वाले शक्तिशाली राष्ट्रों के विरुद्ध प्रभावी सामूहिक कार्रवाई संभव नहीं थी। फलस्वरूप, इस घटना ने एडोल्फ हिटलर को आगे आक्रामक कदम उठाने के लिए प्रोत्साहित किया, जिसने अंततः यूरोप को व्यापक संघर्ष की दिशा में अग्रसर कर दिया।

3.8 द्वितीय विश्व युद्ध की ओर और राष्ट्र संघ का अंत

3.8.1 तुष्टिकरण की नीति

1930 के दशक में ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति 'तुष्टिकरण' (Appeasement) के सिद्धांत पर आधारित रही, जिसका उद्देश्य आक्रामक राष्ट्रों को सीमित रियायतें देकर व्यापक युद्ध की संभावना को टालना था। इस नीति का चरम उदाहरण म्यूनिख समझौता था, जिसके अंतर्गत सितंबर 1938 में चेकोस्लोवाकिया के सुडेटेनलैंड क्षेत्र को एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व वाले जर्मनी को सौंप दिया गया, जबकि इस निर्णय में चेकोस्लोवाकिया की संप्रभुता की अनदेखी की गई।

इस समझौते के पश्चात ब्रिटिश प्रधानमंत्री नेविल चेम्बरलेन ने 'हमारे समय के लिए शांति' (Peace for our time) की घोषणा की। तथापि, यह आकलन शीघ्र ही असत्य सिद्ध हुआ, जब मार्च 1939 में एडोल्फ हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के शेष भाग पर भी अधिकार कर लिया। अंततः, सितंबर 1939 में पोलैंड पर जर्मन आक्रमण के साथ द्वितीय विश्व युद्ध का आरंभ हो गया, जिसने तुष्टिकरण नीति की सीमाओं और उसकी विफलता को स्पष्ट कर दिया।

3.8.2 राष्ट्र संघ की विरासत

राष्ट्र संघ ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान प्रभावी रूप से कार्य करना बंद कर दिया और 20 अप्रैल 1946 को औपचारिक रूप से भंग कर दिया गया। इसके पश्चात इसकी संस्थागत संपत्तियाँ और उत्तरदायित्व नवगठित संयुक्त राष्ट्र संघ को हस्तांतरित कर दिए गए।

यद्यपि राष्ट्र संघ को प्रायः उसकी असफलताओं के संदर्भ में देखा जाता है, तथापि उसका योगदान बहुआयामी और महत्वपूर्ण था। इसने कई क्षेत्रीय एवं सीमित विवादों का शांतिपूर्ण समाधान किया तथा श्रमिक अधिकारों, शरणार्थी पुनर्वास और वैश्विक स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन जैसे संस्थानों के माध्यम से श्रम-संबंधी मानकों का विकास हुआ, जबकि शरणार्थी एवं स्वास्थ्य सेवाओं में किए गए प्रयासों ने भविष्य की संस्थाओं की आधारशिला रखी।

इन्हीं प्रयासों के परिणामस्वरूप बाद में विश्व स्वास्थ्य संगठन, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन और संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी उच्चायुक्त जैसी संस्थाओं का विकास संभव हुआ। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि राष्ट्र संघ की विफलताओं ने संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं को एक अधिक सशक्त और प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण हेतु आवश्यक शिक्षाएँ प्रदान कीं।

3.9 सारांश

प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) की समाप्ति के बाद वर्साय संधि (1919) द्वारा एक नई विश्व व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया। इस संधि के **युद्ध-दोष खंड (अनुच्छेद 231)** ने जर्मनी को युद्ध का एकमात्र दोषी ठहराते हुए भारी क्षतिपूर्ति, सैन्य कटौती और भू-भाग हस्तांतरण के लिए बाध्य किया। इस अपमानजनक संधि ने जर्मनी में गहरे असंतोष को जन्म दिया, जो आगे चलकर नाजीवाद के उदय का आधार बनी।

शांति स्थापना हेतु 1920 में **राष्ट्र संघ** की स्थापना की गई। किंतु यह संस्था अपनी संरचनात्मक दुर्बलताओं के कारण प्रारंभ से ही कमज़ोर थी। अमेरिका की अनुपस्थिति, सर्वसम्मति की अनिवार्यता तथा स्वयं की कोई सैन्य शक्ति न होना इसकी मूलभूत कमियाँ थीं।

मंचूरिया संकट (1931) में जापान ने चीन पर आक्रमण कर 'मंचूकुओ' नामक कठपुतली राज्य स्थापित किया। लिटन आयोग की निंदात्मक रिपोर्ट के जवाब में जापान ने 1933 में संघ से इस्तीफा दे दिया — संघ कुछ न कर सका। इसी प्रकार **अबीसीनिया संकट (1935-36)** में इटली के मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। संघ द्वारा लगाए गए आर्थिक प्रतिबंध अधूरे थे क्योंकि तेल, कोयला और इस्पात जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ उनसे बाहर रखी गईं। हेयर-लावल समझौते ने तो संघ की नैतिक साख को पूरी तरह नष्ट कर दिया।

इन असफलताओं से यह स्पष्ट हो गया कि **शक्तिशाली राष्ट्रों को राष्ट्र संघ नहीं रोक सकता।** इसी पृष्ठभूमि में हिटलर का आक्रामक विस्तारवाद और तुष्टीकरण की नीति पनपी, जिसने अंततः द्वितीय विश्वयुद्ध को अनिवार्य बना दिया।

राष्ट्र संघ की विफलता ने भविष्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण सबक दिया — जिसके आधार पर 1945 में **संयुक्त राष्ट्र संघ** की स्थापना में महाशक्तियों को वीटो अधिकार देकर उन्हें संगठन से जोड़े रखने का प्रयास किया गया।

3.10 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1: राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई?

(a) 28 जून 1919

(b) 10 जनवरी 1920

(c) 11 नवंबर 1918

(d) 26 जून 1945

प्रश्न 2: राष्ट्र संघ की सबसे बड़ी कमजोरी क्या थी जो मंचूरिया संकट में स्पष्ट हुई?

(a) राष्ट्र संघ के पास पर्याप्त धन नहीं था

(b) संघ के पास अपनी कोई स्थायी सेना नहीं थी और निर्णय सर्वसम्मति पर निर्भर था

(c) जापान राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था

(d) चीन ने राष्ट्र संघ से मदद नहीं माँगी

प्रश्न 3: वर्साय संधि के 'युद्ध-दोष खंड' (War Guilt Clause) का क्या महत्व था?

(a) इसने जर्मनी को फिर से हथियार बनाने की अनुमति दी

(b) इसने जर्मनी को युद्ध का जिम्मेदार ठहराकर भारी हर्जाना वसूलने का कानूनी आधार दिया

(c) इसने ऑस्ट्रिया-हंगरी को भंग कर दिया

(d) इसने अमेरिका को राष्ट्र संघ में शामिल होने से रोका

प्रश्न 4: अबीसीनिया संकट (1935-36) में राष्ट्र संघ के प्रतिबंध अप्रभावी क्यों रहे?

(a) अबीसीनिया राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था

(b) प्रतिबंधों में तेल, कोयला और लोहे जैसे सबसे जरूरी युद्ध-सामग्री को शामिल नहीं किया गया

(c) केवल अमेरिका ने प्रतिबंधों का समर्थन किया

(d) इटली ने प्रतिबंध लगने से पहले ही युद्ध जीत लिया था

प्रश्न 5: राष्ट्र संघ की विफलता का संयुक्त राष्ट्र संघ पर क्या प्रमुख प्रभाव पड़ा?

(a) संयुक्त राष्ट्र में सर्वसम्मति की नीति और भी कड़ी कर दी गई

(b) संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में महाशक्तियों को स्थायी सदस्यता और वीटो अधिकार दिया गया ताकि वे बाहर न रहें

(c) संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका को कोई विशेष भूमिका नहीं दी गई

(d) संयुक्त राष्ट्र में सैन्य कार्रवाई पूरी तरह प्रतिबंधित कर दी गई

3.10 शब्दावली

राष्ट्र संघ (League of Nations)-1920 में स्थापित विश्व का पहला प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय संगठन, जिसका उद्देश्य सामूहिक सुरक्षा और शांतिपूर्ण विवाद-समाधान के माध्यम से युद्ध को रोकना था।

वर्साय की संधि (Treaty of Versailles)-जून 1919 में हस्ताक्षरित शांति संधि जिसने प्रथम विश्व युद्ध का औपचारिक अंत किया और जर्मनी पर कड़ी शर्तें थोपीं।

सामूहिक सुरक्षा (Collective Security)-यह सिद्धांत कि सभी सदस्य राष्ट्र मिलकर किसी भी आक्रामक देश के विरुद्ध खड़े होंगे — 'एक पर हमला, सब पर हमला'।

तुष्टिकरण (Appeasement)-आक्रामक शक्तियों को रियायतें देकर युद्ध टालने की कूटनीतिक रणनीति; 1930 के दशक में ब्रिटेन और फ्रांस की मुख्य नीति।

युद्ध-दोष खंड (War Guilt Clause)-वर्साय संधि का अनुच्छेद 231, जिसमें जर्मनी और उसके सहयोगियों को युद्ध के लिए जिम्मेदार ठहराया गया और हर्जाने का आधार बनाया गया।

वाचा (Covenant)-राष्ट्र संघ के नियमों और सिद्धांतों का दस्तावेज, जो वर्साय संधि के पहले भाग में शामिल था।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय (Self-Determination)-विल्सन के 14 सूत्रों का मूल विचार — यह सिद्धांत कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सरकार चुनने का अधिकार है।

यथार्थवाद (Realism)-अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का वह सिद्धांत जो मानता है कि राज्य सदैव अपने राष्ट्रीय हित और शक्ति को प्राथमिकता देते हैं।

उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद (Liberal Internationalism)-यह विचार कि लोकतंत्र, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ और व्यापार मिलकर एक शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था बना सकते हैं।

फासीवाद (Fascism)-एक अधिनायकवादी राजनीतिक विचारधारा जो अत्यधिक राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और एकदलीय शासन पर आधारित है; 1930 के दशक में इटली और जर्मनी में उभरी।

नि:शस्त्रीकरण (Disarmament)-सैन्य हथियारों और सशस्त्र बलों को घटाने या समाप्त करने की प्रक्रिया।

प्रतिबंध (Sanctions)-किसी देश को दंडित करने के लिए उस पर लगाए गए आर्थिक या कूटनीतिक प्रतिबंध।

मंचूकुओ (Manchukuo)-1932 में जापान द्वारा मंचूरिया में स्थापित कठपुतली राज्य, जिसे अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने मान्यता नहीं दी।

राइनलैंड (Rhineland)-जर्मनी और फ्रांस की सीमा पर स्थित क्षेत्र जिसे वर्साय संधि के तहत अनैसैनिकीकृत रखा गया था।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. b, 2. b, 3. b, 4. b, 5. b

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. क्या राष्ट्र संघ की विफलता अनिवार्य थी, या सही निर्णयों से इसे बचाया जा सकता था?
2. अमेरिका की अनुपस्थिति कितनी निर्णायक थी? क्या अमेरिकी सदस्यता से परिणाम अलग होता?
3. क्या संरचनात्मक कमजोरियाँ मुख्य कारण थीं, या सदस्य देशों का व्यवहार?

4. राष्ट्र संघ की विफलता आज के संयुक्त राष्ट्र की सीमाओं को समझने में कैसे मदद करती है?
5. यथार्थवाद और उदारवाद में से कौन-सा सिद्धांत राष्ट्र संघ के पतन की बेहतर व्याख्या करता है?

3.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- League of Nations. (1919). The Covenant of the League of Nations. Paris Peace Conference. [वर्साय संधि का भाग I]
- Wilson, W. (1918, January 8). The Fourteen Points Address to a Joint Session of Congress. Washington D.C.: US Government.
- Selassie, H. (1936, June). Address to the League of Nations Assembly. Geneva: League of Nations.
- Lytton Commission. (1932). Report of the Commission of Enquiry into the Sino-Japanese Dispute. Geneva: League of Nations.
- German-French Armistice Agreement. (1918, November 11). Compiegne, France.
- Carr, E. H. (1939). The Twenty Years' Crisis, 1919-1939: An Introduction to the Study of International Relations. London: Macmillan.
- Keynes, J. M. (1919). The Economic Consequences of the Peace. London: Macmillan.
- Walters, F. P. (1952). A History of the League of Nations. London: Oxford University Press.
- Northedge, F. S. (1986). The League of Nations: Its Life and Times, 1920-1946. Leicester: Leicester University Press.
- Zimmern, A. (1936). The League of Nations and the Rule of Law, 1918-1935. London: Macmillan.

- MacMillan, M. (2001). Paris 1919: Six Months That Changed the World. New York: Random House.
- Mazower, M. (2012). Governing the World: The History of an Idea. London: Allen Lane.
- Pedersen, S. (2015). The Guardians: The League of Nations and the Crisis of Empire. Oxford: Oxford University Press.
- Cohrs, P. O. (2006). The Unfinished Peace after World War I: America, Britain and the Stabilisation of Europe, 1919-1932. Cambridge: Cambridge University Press.
- Steiner, Z. (2005). The Lights that Failed: European International History, 1919-1933. Oxford: Oxford University Press.
- Clavin, P. (2013). Securing the World Economy: The Reinvention of the League of Nations, 1920-1946. Oxford: Oxford University Press.
- श्रीवास्तव, एम.पी. (2005). आधुनिक विश्व इतिहास. इलाहाबाद: इलाहाबाद लॉ एजेंसी.
- Chandra, B., Mukherjee, M., & Mukherjee, A. (2008). India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin Books. [अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ हेतु]
- Pande, B. N. (Ed.). (1979). A Centenary History of the Indian National Congress (Vol. 1). New Delhi: Vikas Publishing House.

इकाई – 4: फासीवाद एवं नाज़ीवाद का उद्भव

इकाई संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 फासीवाद एवं नाजीवाद: अर्थ एवं स्वरूप

4.4 फासीवाद एवं नाजीवाद को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ एवं विकास

4.5 फासीवाद एवं नाजीवाद की प्रमुख विशेषताएँ

4.6 फासीवाद एवं नाजीवाद का तुलनात्मक अध्ययन

4.7 वैश्विक राजनीति पर फासीवाद एवं नाजीवाद का प्रभाव

4.8 सारांश

4.9 अभ्यास प्रश्न

4.10 शब्दावली

4.11 संदर्भ सूची

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

यदि देखा जाए तो प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918) के उपरांत यूरोप की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले, जिनके परिणामस्वरूप असंतोष, अस्थिरता एवं निराशा का वातावरण उत्पन्न हुआ। इसी परिप्रेक्ष्य में, इटली एवं जर्मनी जैसे देशों में लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ जनता की अपेक्षाओं को पूर्ण करने में असफल रहीं, जिससे वहाँ के नागरिकों में व्यवस्था के प्रति विश्वास का ह्रास होने लगा।

इसी क्रम में, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात संपन्न वर्साय की संधि (1919) ने जर्मनी को अत्यंत अपमानजनक स्थिति में पहुँचा दिया, जबकि इटली भी अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप लाभ प्राप्त न कर सका। फलस्वरूप, इन दोनों देशों में राष्ट्रीय असंतोष, अपमान एवं असुरक्षा की भावना तीव्र हो गई, जिसने उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, 1920 एवं 1930 के दशक के दौरान आर्थिक संकट, विशेषतः 1929 की महामंदी, ने इन देशों की स्थिति को और अधिक गंभीर बना दिया। बेरोजगारी, महँगाई तथा आर्थिक अव्यवस्था ने जनता को निराश एवं हताश कर दिया, जिससे वे ऐसे नेतृत्व की तलाश में थे जो उन्हें स्थिरता, सुरक्षा एवं राष्ट्रीय गौरव प्रदान कर सके।

फलस्वरूप, इटली में बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद तथा जर्मनी में एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में नाजीवाद का उदय हुआ। ये दोनों विचारधाराएँ सर्वसत्तावादी (Totalitarian) प्रवृत्ति की थीं, जिन्होंने लोकतंत्र, व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं उदारवादी मूल्यों का विरोध करते हुए राज्य की सर्वोच्चता, अनुशासन एवं राष्ट्रवाद को सर्वोपरि माना।

इसी क्रम में, इन विचारधाराओं ने न केवल अपने-अपने देशों की राजनीतिक संरचना को परिवर्तित किया, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को भी गहराई से प्रभावित किया। इनकी आक्रामक नीतियों एवं विस्तारवादी प्रवृत्तियों ने अंततः द्वितीय विश्व युद्ध (1939–1945) की पृष्ठभूमि तैयार की।

इस प्रकार देखें तो फासीवाद एवं नाजीवाद का अध्ययन न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, सत्ता-संरचना एवं वैश्विक राजनीति की प्रकृति को समझने के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

4.2 उद्देश्य

इस प्रकार, किसी भी शैक्षणिक इकाई का उद्देश्य केवल तथ्यों का वर्णन करना नहीं होता, बल्कि विषय के प्रति गहन समझ एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण विकसित करना भी होता है। इसी परिप्रेक्ष्य

में, प्रस्तुत इकाई "फासीवाद एवं नाजीवाद का उद्भव" के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- विद्यार्थियों को फासीवाद एवं नाजीवाद की मूल अवधारणा (Concept) तथा उनके स्वरूप से अवगत कराना।
- फासीवाद एवं नाजीवाद के उद्भव की ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना।
- इन विचारधाराओं की प्रमुख विशेषताओं एवं उनके मूल सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से समझाना।
- फासीवाद एवं नाजीवाद के मध्य समानताओं एवं भिन्नताओं का तुलनात्मक अध्ययन कराना।
- इन विचारधाराओं के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं द्वितीय विश्व युद्ध पर पड़े प्रभावों का अध्ययन करना।
- विद्यार्थियों में समकालीन विश्व राजनीति को समझने की विश्लेषणात्मक क्षमता का विकास करना।

फलस्वरूप, उपर्युक्त उद्देश्यों के माध्यम से विद्यार्थी न केवल फासीवाद एवं नाजीवाद की प्रकृति एवं विशेषताओं को समझ सकेंगे, बल्कि उनके उद्भव, विकास तथा प्रभावों का सम्यक् एवं आलोचनात्मक विश्लेषण करने में भी सक्षम हो सकेंगे।

4.3 फासीवाद एवं नाजीवाद: अर्थ एवं स्वरूप

यदि देखा जाए तो फासीवाद एवं नाजीवाद 20वीं शताब्दी की ऐसी प्रमुख सर्वसत्तावादी विचारधाराएँ हैं, जिन्होंने यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया है। ये दोनों विचारधाराएँ लोकतंत्र एवं उदारवाद के विरुद्ध विकसित हुईं तथा इन्होंने राज्य की सर्वोच्चता, अनुशासन एवं उग्र राष्ट्रवाद को विशेष महत्व प्रदान किया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, फासीवाद का उद्भव इटली में तथा नाजीवाद का विकास जर्मनी में हुआ, परन्तु दोनों विचारधाराओं में कई समानताएँ पाई जाती हैं, जैसे—एकदलीय शासन, निरंकुश नेतृत्व,

विरोध का दमन तथा राष्ट्र के हित को सर्वोपरि मानना। फलस्वरूप, इन विचारधाराओं ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित करते हुए राज्य के नियंत्रण को अत्यधिक सुदृढ़ किया।

इसी क्रम में, यह आवश्यक हो जाता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद के अर्थ एवं स्वरूप को पृथक-पृथक रूप से समझा जाए—

4.3.1 फासीवाद का अर्थ एवं स्वरूप

फासीवाद उन वैचारिक मान्यताओं एवं सिद्धांतों का समुच्चय है, जिनका विकास प्रथम विश्व युद्ध (1914–18) के उपरांत इटली में हुआ और जिन्हें बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व में एक सशक्त राजनीतिक विचारधारा के रूप में स्थापित किया गया। इसी परिप्रेक्ष्य में, फासीवाद का मूल उद्देश्य संपूर्ण राष्ट्र को एक कठोर अनुशासन एवं केंद्रीकृत सत्ता के अधीन संगठित करना था, जिससे राष्ट्रीय एकता एवं शक्ति को सुदृढ़ किया जा सके।

इसी क्रम में, फासीवाद लोकतंत्र (Democracy), समाजवाद (Socialism) एवं साम्यवाद (Communism) जैसी विचारधाराओं का विरोध करता है, क्योंकि इनके अनुसार ये विचारधाराएँ राष्ट्रीय एकता को कमजोर करती हैं। फलस्वरूप, फासीवाद एक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें एक ही दल एवं एक ही नेता सर्वोच्च होता है, तथा उसके आदेशों को ही राष्ट्र की इच्छा के रूप में स्वीकार किया जाता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में, फासीवाद का एक महत्वपूर्ण तत्व सत्तावाद (Authoritarianism) एवं सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) है, जिसके अंतर्गत राज्य को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को सीमित कर दिया जाता है। इस व्यवस्था में नागरिकों से अपेक्षा की जाती है कि वे राज्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखें तथा उसके आदेशों का बिना किसी विरोध के पालन करें।

इसी क्रम में, फासीवाद में राष्ट्रवाद (Nationalism) को अत्यधिक महत्व दिया जाता है तथा राष्ट्र के गौरव एवं शक्ति को सर्वोपरि माना जाता है। इसी के साथ, यह विचारधारा सैन्यवाद एवं विस्तारवाद को भी प्रोत्साहित करती है, क्योंकि इसके अनुसार एक शक्तिशाली राष्ट्र को अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहिए।

फलस्वरूप, फासीवाद एक ऐसी सर्वसत्तावादी विचारधारा के रूप में उभरकर सामने आता है, जिसमें राज्य की शक्ति, अनुशासन, एकता एवं राष्ट्रवाद को प्रमुख स्थान दिया जाता है, जबकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं लोकतांत्रिक मूल्यों को गौण माना जाता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि फासीवाद आधुनिक युग की उन विचारधाराओं में से एक है, जिसने राजनीतिक व्यवस्था को केंद्रीकृत एवं नियंत्रित स्वरूप प्रदान किया।

4.3.2 नाजीवाद का अर्थ एवं स्वरूप

नाजीवाद उन वैचारिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं का समूह है, जिनका विकास प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी में हुआ और जिन्हें एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में एक संगठित राजनीतिक विचारधारा के रूप में स्थापित किया गया। इसी संदर्भ में नाजीवाद को 'राष्ट्रीय समाजवाद' (National Socialism) के नाम से भी जाना जाता है, जबकि देखें तो व्यवहार में यह एक उग्र राष्ट्रवादी एवं सर्वसत्तावादी विचारधारा के रूप में विकसित होते हुए दिखा है।

इस प्रकार देखें तो नाजीवाद फासीवाद से अनेक दृष्टियों से समानता भी रखता है, क्योंकि यह भी फासीवाद के समान ही लोकतंत्र, उदारवाद एवं साम्यवाद का विरोध करता है तथा एकदलीय शासन प्रणाली एवं निरंकुश नेतृत्व का समर्थन करता है। इस प्रकार देखें तो इस विचारधारा में राज्य एवं नेता को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है तथा नागरिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे बिना किसी प्रश्न के शासन के आदेशों का पालन करते रहें।

इसी परिपेक्ष्य में नाजीवाद की सबसे प्रमुख विशेषता प्रजातिवाद (Racism) अथवा नस्लीय श्रेष्ठता के सिद्धांत को स्थापित करना था, जिसके अनुसार जर्मन 'आर्य जाति' को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति माना गया तथा अन्य जातियों, जिसमें विशेषतः यहूदियों को निम्न एवं शत्रु के रूप में चित्रित किया गया। इस प्रकार इस विचारधारा ने समाज में घृणा, विभाजन एवं दमन की प्रवृत्तियों को लगातार जन्म दिया।

जिसके परिणामस्वरूप ही नाजीवाद साम्राज्यवाद (Imperialism) एवं विस्तारवाद को भी प्रोत्साहित करता रहा, क्योंकि इसके अनुसार एक शक्तिशाली राष्ट्र को अपने 'जीवन-क्षेत्र' (Lebensraum) का विस्तार करना चाहिए। इसी उद्देश्य से जर्मनी ने अन्य देशों पर अधिकार स्थापित करने का प्रयास किया, जिसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तनाव एवं संघर्ष को बढ़ा दिया।

इसी प्रकार देखें तो नाजीवाद भी सत्तावाद एवं सर्वाधिकारवाद की अवधारणा पर ही आधारित था, जिसमें राज्य का नियंत्रण समाज के प्रत्येक क्षेत्र पर स्थापित किया गया तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को सीमित कर दिया गया। इस प्रकार, नाजी शासन में विरोध के लिए कोई स्थान नहीं था और शासन के विरुद्ध किसी भी प्रकार की असहमति को कठोरता से दबा दिया जाता था।

फलस्वरूप, नाजीवाद एक ऐसी उग्र एवं दमनकारी विचारधारा के रूप में उभरकर सामने आता है, जिसने न केवल जर्मनी की राजनीतिक एवं सामाजिक संरचना को परिवर्तित किया, बल्कि अपनी आक्रामक नीतियों के माध्यम से समूचे विश्व को भी प्रभावित किया। जिसके परिणामस्वरूप से भी द्वितीय विश्व युद्ध की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिसने मानव इतिहास को गहराई से प्रभावित किया।

4.4 फासीवाद एवं नाजीवाद को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ एवं विकास

यदि फासीवाद एवं नाजीवाद को जन्म देने वाली परिस्थितियों या फिर विकास की बात करें तो फासीवाद एवं नाजीवाद का उद्भव अचानक नहीं हुआ, बल्कि यह प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918)

के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों की एक सतत एवं क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम था। जिसके तहत युद्ध की समाप्ति के साथ ही यूरोप, विशेषकर इटली एवं जर्मनी, गहरे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संकटों से घिर गए, जिसने इन उग्र विचारधाराओं के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने में अपनी अग्रणी भूमिका निभाई।

इस प्रकार देखें तो प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात सबसे पहले राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हुई। जिसमे इटली में संसदीय शासन कमजोर था और सरकारें लगातार बदल रही थीं, जिससे जनता का लोकतंत्र के प्रति विश्वास कम होता गया। इसी क्रम में जर्मनी में **वाइमर गणराज्य** की स्थापना तो हुई, किंतु वह भी राजनीतिक संघर्षों, अस्थिर गठबंधनों एवं कमजोर नेतृत्व के कारण प्रभावी शासन देने में असफल रहा। फलस्वरूप, जनता के मन में यह धारणा बनने लगी कि लोकतांत्रिक व्यवस्था उनकी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती, जिस कारण एक सशक्त एवं निर्णायक नेतृत्व की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

इसी क्रम में देखें तो यह राजनीतिक असंतोष शीघ्र ही आर्थिक संकटों के साथ गहराई से जुड़ गया, जिसने स्थिति को और अधिक गंभीर बना दिया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इटली एवं जर्मनी की अर्थव्यवस्थाएँ कमजोर हो चुकी थीं, जबकि जर्मनी को **वर्साय की संधि** (1919) के अंतर्गत भारी युद्ध क्षतिपूर्ति का बोझ उठाना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप वहाँ महँगाई, बेरोजगारी एवं आर्थिक अस्थिरता अत्यधिक बढ़ गई। इसी परिप्रेक्ष्य में 1929 की महान आर्थिक मंदी ने इन समस्याओं को चरम सीमा तक पहुँचा दिया, जिससे जनता में निराशा एवं असुरक्षा की भावना और अधिक गहरी हो गई। जिससे जनता ऐसे नेतृत्व की ओर आकर्षित होने लगी जो उन्हें आर्थिक स्थिरता, रोजगार एवं राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आश्वासन दे सके।

इस प्रकार देखें तो इस आर्थिक संकट के साथ-साथ इन दोनों क्षेत्रों में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक असंतोष भी तीव्र होता गया। युद्ध के बाद बड़ी संख्या में सैनिक बेरोजगार होकर लौटने लगे, जिससे समाज में लगातार असंतुलन उत्पन्न होने लगा। जिसमे विशेष रूप से मध्यम वर्ग, जो आर्थिक मंदी से सबसे अधिक प्रभावित हुआ था, अपनी स्थिति के प्रति अत्यंत असंतुष्ट हो गया। फलस्वरूप, इस वर्ग ने उन विचारधाराओं का समर्थन करना प्रारंभ किया जो उन्हें राष्ट्रीय गौरव, अनुशासन एवं स्थिरता का आश्वासन देती थीं। इसी प्रकार समाज में असुरक्षा, अपमान एवं भविष्य के प्रति अनिश्चितता की भावना ने उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में वैचारिक एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने इन प्रवृत्तियों को और अधिक मजबूत किया। फासीवाद एवं नाजीवाद ने राष्ट्रवाद को अत्यधिक महत्व देते हुए राष्ट्रीय एकता एवं गौरव की भावना को प्रबल किया। इसके अतिरिक्त, साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव के विरुद्ध भी इन विचारधाराओं को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ, क्योंकि पूँजीपति एवं उच्च वर्ग अपने हितों की रक्षा

के लिए इन आंदोलनों के पक्ष में खड़े हो गए। इस प्रकार आर्थिक एवं वैचारिक समर्थन ने इन विचारधाराओं को सशक्त आधार प्रदान किया।

इसी क्रम में इन सभी परिस्थितियों का व्यावहारिक रूपांतरण इटली में फासीवाद के रूप में दिखाई देता है। बेनिटो मुसोलिनी ने 1919 में फासिस्ट पार्टी की स्थापना की और बढ़ते असंतोष एवं अराजकता का लाभ उठाते हुए 1922 में 'रोम पर मार्च' के माध्यम से सत्ता प्राप्त कर ली। इसके पश्चात उसने क्रमिक रूप से लोकतांत्रिक संस्थाओं को समाप्त कर अधिनायकवादी शासन स्थापित किया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि संकटग्रस्त समाज किस प्रकार निरंकुश शासन को स्वीकार कर सकता है।

इसी प्रकार जर्मनी में भी समान परिस्थितियों के परिणामस्वरूप नाजीवाद का उदय हुआ। एडोल्फ हिटलर ने वर्साय संधि के अपमान, आर्थिक संकट एवं राष्ट्रवादी भावनाओं का लाभ उठाकर जनता का समर्थन प्राप्त किया। 1933 में सत्ता में आने के पश्चात उसने भी लोकतांत्रिक व्यवस्था को समाप्त कर एक सर्वाधिकारवादी शासन स्थापित कर दिया, जिसमें राज्य एवं नेता को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया।

फलस्वरूप, यह स्पष्ट होता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद का विकास एक सतत प्रक्रिया के रूप में हुआ, जिसमें युद्धोत्तर राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक संकट, सामाजिक असंतोष एवं उग्र राष्ट्रवादी विचारधाराओं का क्रमिक संयोजन देखने को मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन विचारधाराओं का उद्भव केवल परिस्थितियों की प्रतिक्रिया नहीं था, बल्कि यह उन परिस्थितियों का संगठित एवं वैचारिक रूपांतरण था, जिसने अंततः विश्व राजनीति को गहराई से प्रभावित किया और द्वितीय विश्व युद्ध की नींव रखी।

4.5 फासीवाद एवं नाजीवाद की प्रमुख विशेषताएँ (अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में)

यदि देखें तो फासीवाद एवं नाजीवाद ऐसी विचारधाराएँ थीं, जिनका मूल उद्देश्य राज्य को सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्थापित करना तथा उसके माध्यम से राष्ट्रीय प्रभुत्व का विस्तार करना था। फलस्वरूप, इन विचारधाराओं ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को शक्ति-प्रधान एवं संघर्षात्मक दिशा में परिवर्तित किया। इसी क्रम में इनकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

4.5.1 राज्य की सर्वोच्चता एवं शक्ति-राजनीति

यदि देखा जाए तो फासीवाद एवं नाजीवाद की मूल आधारशिला राज्य की सर्वोच्चता एवं शक्ति-राजनीति पर आधारित थी। इन विचारधाराओं के अनुसार राज्य को सर्वोच्च एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई माना गया, जबकि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के अधीन समझा गया। इस प्रकार देखें

तो व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को गौण मानते हुए राज्य की शक्ति एवं उसके उद्देश्यों को प्राथमिकता दी गई।

इसी क्रम में इन विचारधाराओं ने शक्ति को राजनीति का प्रमुख आधार मानते हुए यह स्थापित किया कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नैतिकता, सहयोग अथवा अंतर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा शक्ति एवं प्रभुत्व अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। फलस्वरूप, राज्य का मुख्य उद्देश्य अपनी शक्ति का अधिकतम विस्तार करना तथा अन्य राष्ट्रों पर अपना प्रभाव स्थापित करना बन गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में जर्मनी में एडोल्फ हिटलर एवं इटली में बेनिटो मुसोलिनी ने राज्य की शक्ति को अत्यधिक केंद्रीकृत कर दिया। जर्मनी में 1933 के '**एनेबलिंग एक्ट**' के माध्यम से हिटलर ने समस्त विधायी एवं कार्यकारी शक्तियाँ अपने हाथों में ले लीं, जबकि इटली में मुसोलिनी ने '**फासिस्ट ग्रैंड काउंसिल**' के माध्यम से शासन को पूर्णतः नियंत्रित किया। इस प्रकार सत्ता का संपूर्ण केंद्रीकरण राज्य को सर्वशक्तिमान बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ।

इसी क्रम में 'नेतृत्व सिद्धांत' को भी इन विचारधाराओं में विशेष महत्व दिया गया, जिसके अंतर्गत नेता को राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधि एवं सर्वोच्च मार्गदर्शक माना गया। फलस्वरूप, नेता के निर्णयों को अंतिम एवं अपरिवर्तनीय स्वीकार किया गया, जिससे राज्य की शक्ति और अधिक सुदृढ़ हो गई।

फलस्वरूप, यह स्पष्ट होता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद में राज्य की सर्वोच्चता एवं शक्ति-राजनीति ने न केवल आंतरिक शासन को निरंकुश बनाया, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इन राज्यों को आक्रामक एवं विस्तारवादी नीतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित किया। अतः यह कहा जा सकता है कि इन विचारधाराओं ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को सहयोगात्मक स्वरूप से हटाकर शक्ति-प्रधान एवं संघर्षात्मक दिशा में अग्रसर कर दिया।

4.5.2 अधिनायकवादी राजनीतिक संरचना एवं केंद्रीकरण

यदि देखें तो फासीवाद एवं नाजीवाद की एक प्रमुख विशेषता अधिनायकवादी राजनीतिक संरचना की स्थापना करनी भी थी, जिसके अंतर्गत समस्त सत्ता एक ही नेता एवं एक ही दल के हाथों में केंद्रित कर दी गई। इस प्रकार देखें तो लोकतांत्रिक संस्थाओं, बहुदलीय व्यवस्था तथा नागरिक स्वतंत्रताओं को समाप्त कर शासन को पूर्णतः निरंकुश बना दिया गया।

इसी क्रम में इटली में **बेनिटो मुसोलिनी** ने 1922 के पश्चात क्रमिक रूप से लोकतांत्रिक व्यवस्था को समाप्त करते हुए फासिस्ट पार्टी को एकमात्र राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया। वहीं जर्मनी में **एडोल्फ हिटलर** ने 1933 में सत्ता प्राप्त करने के बाद 'एनेबलिंग एक्ट' के माध्यम से संसद

की शक्तियों को निष्प्रभावी बना दिया तथा एकदलीय शासन की स्थापना की। फलस्वरूप, राजनीतिक विरोध एवं विपक्ष का पूर्णतः दमन कर दिया गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में 'नेतृत्व सिद्धांत को संस्थागत रूप प्रदान किया गया, जिसके अनुसार नेता को राष्ट्र की इच्छा का प्रतीक एवं सर्वोच्च निर्णयकर्ता माना गया। इस प्रकार शासन की समस्त नीतियाँ नेता की इच्छा पर आधारित हो गईं, जिससे सत्ता का केंद्रीकरण और अधिक सुदृढ़ हुआ।

इसी क्रम में प्रशासनिक एवं न्यायिक संस्थाओं को भी राज्य के नियंत्रण में कर लिया गया, जिससे सत्ता के विभाजन की अवधारणा समाप्त हो गई। फलस्वरूप, शासन पूर्णतः केंद्रीकृत एवं अधिनायकवादी स्वरूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें नागरिकों के लिए किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकारों या स्वतंत्र अभिव्यक्ति का स्थान नहीं रहा।

फलस्वरूप, यह स्पष्ट होता है कि अधिनायकवादी राजनीतिक संरचना ने फासीवाद एवं नाजीवाद को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में स्थापित किया, जिसमें सत्ता का पूर्ण केंद्रीकरण हुआ तथा लोकतांत्रिक मूल्यों का पूर्णतः पतन हो गया। अतः इस प्रकार की संरचना ने न केवल आंतरिक स्तर पर दमनकारी शासन को जन्म दिया, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आक्रामक एवं अस्थिर नीतियों को अपनाने के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

4.5.3 राष्ट्रवाद एवं वैचारिक आधार

यदि राष्ट्रवाद एवं वैचारिक आधारों के संदर्भ में फासीवाद एवं नाजीवाद की विशेषताओं को समझने का प्रयास किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों विचारधाराओं का मूल आधार उग्र राष्ट्रवाद था, जिसने इन्हें व्यापक जन-समर्थन प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार देखें तो राष्ट्र को सर्वोच्च मानते हुए राष्ट्रीय गौरव, एकता एवं श्रेष्ठता की भावना को अत्यधिक महत्व दिया गया।

इसी क्रम में फासीवाद ने राष्ट्र को एक संगठित एवं अनुशासित इकाई के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र के अधीन माना गया। वहीं दूसरी ओर, नाजीवाद ने राष्ट्रवाद को और अधिक उग्र रूप प्रदान करते हुए नस्लीय श्रेष्ठता के सिद्धांत को अपनाया, जिसके अंतर्गत 'आर्य जाति' को सर्वोच्च घोषित किया गया तथा अन्य जातियों, विशेषतः यहूदियों, को निम्न एवं शत्रु के रूप में चित्रित किया गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में जर्मनी में 1935 के **नूरेमबर्ग कानूनों** के माध्यम से यहूदियों को नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, जो इस नस्लीय नीति का स्पष्ट उदाहरण है। इस प्रकार राष्ट्रवाद केवल एक एकीकृत शक्ति नहीं रहा, बल्कि वह विभाजन एवं दमन का एक सशक्त माध्यम भी बन गया।

इसी क्रम में यदि देखा जाए तो इन विचारधाराओं ने राष्ट्रीय अपमान एवं असंतोष की भावनाओं का भी प्रभावी ढंग से उपयोग किया। जर्मनी में वर्साय की संधि के प्रति असंतोष तथा इटली में अपेक्षित लाभ न मिलने की भावना को राष्ट्रवादी प्रचार के माध्यम से उभारा गया। फलस्वरूप, जनता में एक नई राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ आक्रामक मानसिकता का भी विकास हुआ।

फलस्वरूप, यह स्पष्ट होता है कि उग्र राष्ट्रवाद एवं वैचारिक आधार ने फासीवाद एवं नाजीवाद को केवल एक राजनीतिक व्यवस्था तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे एक व्यापक एवं शक्तिशाली जन-आंदोलन में परिवर्तित कर दिया। अतः यह राष्ट्रवादी विचारधारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विस्तारवाद, संघर्ष एवं प्रभुत्व की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करती हुई अंततः वैश्विक अस्थिरता का कारण बनी।

4.5.4 सैन्यवाद एवं विस्तारवादी नीति

यदि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में फासीवाद एवं नाजीवाद की विशेषताओं का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि इन विचारधाराओं का एक महत्वपूर्ण आधार सैन्यवाद एवं विस्तारवादी नीति था, जिसने न केवल इन राज्यों की नीतियों को सैन्य शक्ति एवं प्रभुत्व की दिशा में उन्मुख किया, बल्कि विश्व राजनीति को भी प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष एवं युद्ध की दिशा में अग्रसर कर दिया। इस प्रकार देखें तो इन विचारधाराओं ने युद्ध को न केवल एक आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार किया, बल्कि उसे राष्ट्रीय गौरव एवं शक्ति के विस्तार का माध्यम भी माना।

इसी क्रम में फासीवादी इटली ने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सैन्य शक्ति के विस्तार पर विशेष बल दिया तथा अफ्रीका में अपने उपनिवेशों का विस्तार करने का प्रयास किया। 1935 में इटली द्वारा इथियोपिया पर आक्रमण इस नीति का स्पष्ट उदाहरण है, जिसने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति-राजनीति को और अधिक तीव्र किया।

वहीं दूसरी ओर, नाजी जर्मनी ने सैन्यवाद को और अधिक संगठित एवं आक्रामक रूप प्रदान किया। एडोल्फ हिटलर ने वर्साय की संधि की शर्तों की अवहेलना करते हुए पुनः शस्त्रीकरण की नीति अपनाई तथा जर्मनी की सैन्य शक्ति को तीव्र गति से बढ़ाया। इसी परिप्रेक्ष्य में 'जीवन-क्षेत्र' की अवधारणा के अंतर्गत जर्मनी ने अपने क्षेत्रीय विस्तार को वैध ठहराने का प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप 1938 में उसने ऑस्ट्रिया का विलय (आनशलुस) कर लिया तथा इसके पश्चात म्यूनिख समझौते के माध्यम से चेकोस्लोवाकिया के सूडेटेन क्षेत्र पर अधिकार स्थापित किया और अंततः 1939 में सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया पर नियंत्रण कर लिया।

इसी क्रम में यह स्पष्ट होता है कि सैन्यवाद एवं विस्तारवाद केवल आंतरिक नीति तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। इन नीतियों के कारण

राष्ट्रों के मध्य अविश्वास, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की प्रवृत्तियाँ निरंतर बढ़ती गईं, जिससे विश्व शांति की संभावनाएँ कमजोर होती गईं।

फलस्वरूप, यह स्पष्ट होता है कि सैन्यवाद एवं विस्तारवादी नीति ने फासीवाद एवं नाजीवाद को एक आक्रामक एवं संघर्ष-प्रधान विचारधारा के रूप में स्थापित किया। अतः इन नीतियों ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अस्थिर करते हुए अंततः द्वितीय विश्व युद्ध जैसी विनाशकारी घटना की पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4.6 फासीवाद एवं नाजीवाद का तुलनात्मक अध्ययन

इसी परिप्रेक्ष्य में यह समझना आवश्यक हो जाता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद यद्यपि दो भिन्न देशों—इटली एवं जर्मनी—में विकसित विचारधाराएँ थीं, तथापि इनके बीच अनेक महत्वपूर्ण समानताएँ एवं भिन्नताएँ विद्यमान थीं। इस प्रकार देखें तो इन दोनों विचारधाराओं ने न केवल अपने-अपने देशों की आंतरिक राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को भी शक्ति-प्रधान एवं संघर्षात्मक दिशा में अग्रसर किया। अतः इनके तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से इनके स्वरूप एवं प्रभाव को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

4.6.1 समानताएँ

- **अधिनायकवाद एवं सर्वाधिकारवाद-**

इस प्रकार देखें तो दोनों विचारधाराएँ अधिनायकवादी एवं सर्वाधिकारवादी थीं, जिनमें राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया तथा व्यक्ति के अस्तित्व को राज्य के अधीन माना गया। फलस्वरूप, राज्य का नियंत्रण केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, बल्कि समाज, अर्थव्यवस्था, शिक्षा एवं संस्कृति तक विस्तारित हो गया, जिससे एक पूर्ण नियंत्रित व्यवस्था स्थापित हुई।

- **एकदलीय एवं निरंकुश शासन व्यवस्था-**

दोनों में एकदलीय शासन प्रणाली स्थापित की गई, जिसमें समस्त राजनीतिक शक्ति एक ही नेता एवं एक ही दल के हाथों में केंद्रित रही। इटली में मुसोलिनी तथा जर्मनी में हिटलर को सर्वोच्च नेता के रूप में स्थापित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप सत्ता का पूर्ण केंद्रीकरण हुआ और शासन निरंकुश स्वरूप में परिवर्तित हो गया।

- **लोकतंत्र एवं उदारवाद का विरोध -**

लोकतंत्र एवं उदारवाद के विरोध के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं ने लोकतंत्र, उदारवाद तथा साम्यवाद का स्पष्ट रूप से विरोध किया तथा नागरिक स्वतंत्रताओं को सीमित कर राज्य को सर्वशक्तिमान बनाने पर बल दिया। इस प्रकार व्यक्तिगत अधिकारों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं राजनीतिक भागीदारी को क्रमशः समाप्त कर दिया गया। फलस्वरूप, इन विचारधाराओं के प्रभाव में लोकतांत्रिक मूल्यों का पूर्णतः पतन हो गया तथा राज्य एक निरंकुश एवं नियंत्रित सत्ता के रूप में स्थापित हो गया।

- **विपक्ष का दमन एवं नियंत्रित समाज -**

विपक्ष के दमन एवं नियंत्रित समाज की स्थापना के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं ने राजनीतिक विरोध को समाप्त कर एक पूर्णतः नियंत्रित एवं अनुशासित समाज की स्थापना पर विशेष बल दिया। फलस्वरूप, शासन के विरुद्ध किसी भी प्रकार की असहमति को स्वीकार नहीं किया गया और विपक्षी दलों तथा उनके नेताओं का व्यवस्थित रूप से दमन किया गया।

इसी क्रम में इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु गुप्त पुलिस, दमनकारी कानूनों एवं कठोर दंडात्मक उपायों का व्यापक रूप से उपयोग किया गया। जर्मनी में 'गेस्टापो' तथा इटली में 'ओवीआरए' जैसी संस्थाओं के माध्यम से नागरिकों की गतिविधियों पर निगरानी रखी गई तथा असंतोष के किसी भी संकेत को प्रारंभिक स्तर पर ही समाप्त कर दिया गया।

इस प्रकार देखें तो समाज में भय एवं आतंक का वातावरण उत्पन्न कर शासन के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता सुनिश्चित की गई। फलस्वरूप, एक ऐसा नियंत्रित समाज विकसित हुआ, जिसमें स्वतंत्र विचार, अभिव्यक्ति एवं राजनीतिक भागीदारी के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहा।

- **उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन -**

उग्र राष्ट्रवाद के समर्थन के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं का मूल आधार राष्ट्रवाद था, जिसने राष्ट्रीय गौरव, एकता एवं श्रेष्ठता की भावना को अत्यधिक प्रबल किया। इस प्रकार राष्ट्र को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति के अस्तित्व को उसके अधीन कर दिया गया तथा नागरिकों में राष्ट्र के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण की भावना विकसित की गई।

इसी क्रम में फासीवाद ने राष्ट्र को एक संगठित एवं अनुशासित इकाई के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें सामाजिक एकता एवं अनुशासन पर बल दिया गया। वहीं दूसरी ओर, नाजीवाद ने राष्ट्रवाद को और

अधिक उग्र एवं संकीर्ण रूप प्रदान करते हुए उसे नस्लीय श्रेष्ठता के सिद्धांत से जोड़ दिया, जिसके अंतर्गत 'आर्य जाति' को सर्वोच्च घोषित किया गया तथा अन्य जातियों, विशेषतः यहूदियों, को निम्न एवं शत्रु के रूप में चित्रित किया गया।

फलस्वरूप, यह उग्र राष्ट्रवाद न केवल राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का माध्यम बना, बल्कि इसके साथ ही समाज में विभाजन, घृणा एवं दमन की प्रवृत्तियों को भी उत्पन्न करने लगा। अतः इस प्रकार का राष्ट्रवाद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्तारवाद, संघर्ष एवं प्रभुत्व की भावना को प्रोत्साहित करता हुआ अंततः वैश्विक अस्थिरता का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

- **सैन्यवाद एवं विस्तारवादी नीति -**

सैन्यवाद एवं विस्तारवादी नीति के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं ने सैन्य शक्ति के विकास को अत्यधिक महत्व प्रदान किया तथा युद्ध को एक आवश्यक एवं वैध साधन के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार सैन्यीकरण को राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण का आधार बनाया गया तथा क्षेत्रीय विस्तार के माध्यम से प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया गया। फलस्वरूप, इन नीतियों ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रतिस्पर्धा, अविश्वास एवं संघर्ष की प्रवृत्तियों को तीव्र कर दिया, जिसने वैश्विक शांति को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

- **प्रचार तंत्र एवं जन-समर्थन का उपयोग -**

प्रचार तंत्र एवं जन-समर्थन के उपयोग के संदर्भ में यदि इन विचारधाराओं का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद ने राज्य-नियंत्रित प्रचार माध्यमों के द्वारा जनता के विचारों एवं भावनाओं को प्रभावित करने का प्रभावी प्रयास किया। इस प्रकार राष्ट्रवाद, नेता के प्रति निष्ठा तथा शासन के प्रति अंधभक्ति की भावना को योजनाबद्ध तरीके से विकसित किया गया। इसके साथ ही मीडिया, शिक्षा एवं सांस्कृतिक संस्थानों को राज्य के नियंत्रण में रखकर एक वैचारिक एकरूपता स्थापित की गई। फलस्वरूप, व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हुआ तथा विरोधी विचारों को कमजोर करते हुए शासन की शक्ति को और अधिक सुदृढ़ किया गया।

4.6.2 भिन्नताएँ

यदि भिन्नताओं के संदर्भ में फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि दोनों विचारधाराएँ अधिनायकवादी थीं, तथापि उनके वैचारिक आधार, उद्देश्यों एवं व्यवहारिक स्वरूप में महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान थे। जिनको निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

- **वैचारिक आधार में अंतर -**

वैचारिक आधार के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं के मूल तत्वों में महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान था। इस प्रकार देखें तो फासीवाद मुख्यतः राष्ट्रवाद, राज्य की सर्वोच्चता तथा राष्ट्रीय एकता पर आधारित विचारधारा थी, जिसमें राज्य को सर्वोपरि मानते हुए व्यक्ति के अस्तित्व को उसके अधीन रखा गया तथा समाज को एक संगठित एवं अनुशासित इकाई के रूप में विकसित करने पर बल दिया गया।

वहीं दूसरी ओर, नाजीवाद ने राष्ट्रवाद को और अधिक संकीर्ण एवं उग्र रूप प्रदान करते हुए उसे नस्लीय श्रेष्ठता के सिद्धांत से जोड़ दिया। जिसमें विशेष रूप से एडोल्फ हिटलर द्वारा प्रतिपादित विचारों के अनुसार 'आर्य जाति' को विश्व की सर्वोच्च एवं शुद्ध जाति माना गया, जबकि यहूदियों तथा अन्य जातियों को निम्न एवं शत्रु के रूप में चित्रित किया गया। इसी परिप्रेक्ष्य में 1935 के नूरेमबर्ग कानूनों के माध्यम से यहूदियों को नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, जो इस नस्लीय विचारधारा का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

फलस्वरूप, जहाँ फासीवाद का वैचारिक आधार मुख्यतः राज्य एवं राष्ट्र की एकता पर केंद्रित था, वहीं नाजीवाद का आधार नस्लीय भेदभाव एवं जातीय श्रेष्ठता पर आधारित था। अतः यह स्पष्ट होता है कि नाजीवाद वैचारिक दृष्टि से अधिक उग्र, संकीर्ण एवं विभाजनकारी था, जबकि फासीवाद तुलनात्मक रूप से व्यापक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण पर आधारित था।

- **नस्लीय सिद्धांत का महत्व** -

नस्लीय सिद्धांत के महत्व के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं के दृष्टिकोण में इस विषय पर महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान था। इस प्रकार देखें तो फासीवाद में नस्लीय भेदभाव कोई केंद्रीय तत्व नहीं था, बल्कि उसका मुख्य जोर राज्य की शक्ति, राष्ट्रीय एकता एवं अनुशासन की स्थापना पर केंद्रित रहा।

वहीं दूसरी ओर, नाजीवाद में नस्लीय श्रेष्ठता का सिद्धांत इसकी मूल आधारशिला के रूप में विकसित हुआ, जिसके अंतर्गत 'आर्य जाति' को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया तथा अन्य जातियों, विशेषतः यहूदियों, को निम्न एवं शत्रु के रूप में चित्रित किया गया। इसके परिणामस्वरूप समाज में व्यापक स्तर पर भेदभाव, दमन एवं अलगाव की नीतियाँ लागू की गईं, जिन्होंने सामाजिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया।

फलस्वरूप, जहाँ फासीवाद में नस्लीय विचार अपेक्षाकृत गौण रहे, वहीं नाजीवाद में यह एक केंद्रीय एवं निर्णायक तत्व के रूप में उभरा। अतः यह स्पष्ट होता है कि नाजीवाद का स्वरूप अधिक

संकीर्ण, उग्र एवं विभाजनकारी था, जबकि फासीवाद तुलनात्मक रूप से कम कठोर एवं व्यापक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण पर आधारित था।

- **विस्तारवाद की प्रकृति में अंतर-**

विस्तारवाद की प्रकृति के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं के विस्तारवादी उद्देश्यों एवं उनके स्वरूप में महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान था। इस प्रकार देखें तो फासीवादी इटली का विस्तारवाद अपेक्षाकृत सीमित एवं क्षेत्रीय था, जिसका मुख्य उद्देश्य भूमध्यसागरीय क्षेत्र तथा अफ्रीका में अपने प्रभाव का विस्तार करना था। इसी क्रम में 1935 में इटली द्वारा इथियोपिया पर आक्रमण इस नीति का एक प्रमुख उदाहरण है।

वहीं दूसरी ओर, नाजी जर्मनी का विस्तारवाद अधिक व्यापक, संगठित एवं आक्रामक स्वरूप का था, जिसका उद्देश्य केवल क्षेत्रीय विस्तार तक सीमित न होकर यूरोप में प्रभुत्व स्थापित करना था। इसी परिप्रेक्ष्य में 'जीवन-क्षेत्र' की अवधारणा के माध्यम से जर्मनी ने अपने विस्तार को वैचारिक आधार प्रदान किया तथा क्रमशः ऑस्ट्रिया के विलय (1938) एवं चेकोस्लोवाकिया पर नियंत्रण स्थापित कर अपने विस्तारवादी लक्ष्यों को आगे बढ़ाया।

फलस्वरूप, जहाँ फासीवाद का विस्तारवाद अपेक्षाकृत सीमित एवं क्षेत्रीय था, वहीं नाजीवाद का विस्तारवाद अधिक उग्र, व्यापक एवं प्रभुत्ववादी स्वरूप का था। अतः यह स्पष्ट होता है कि नाजी विस्तारवाद ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अधिक तीव्र तनाव एवं संघर्ष को जन्म दिया।

- **वैचारिक कठोरता में अंतर-**

वैचारिक कठोरता के संदर्भ में यदि फासीवाद एवं नाजीवाद का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं की संरचना एवं अनुप्रयोग में महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान था। इस प्रकार देखें तो नाजीवाद एक अत्यधिक संगठित एवं अनुशासित वैचारिक प्रणाली के रूप में विकसित हुआ, जिसमें नस्लीय श्रेष्ठता, शुद्धता एवं वैचारिक एकरूपता पर विशेष बल दिया गया तथा इन सिद्धांतों का कठोरता से पालन सुनिश्चित किया गया।

वहीं दूसरी ओर, फासीवाद तुलनात्मक रूप से अधिक लचीला एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने वाली विचारधारा थी, जिसमें परिस्थितियों के अनुसार नीतियों में परिवर्तन की संभावना बनी रहती थी तथा उसमें नाजीवाद जैसी वैचारिक कठोरता एवं एकरूपता का अभाव दिखाई देता है।

फलस्वरूप, जहाँ नाजीवाद एक सख्त एवं सिद्धांत-प्रधान विचारधारा के रूप में उभरकर सामने आता है, वहीं फासीवाद अपेक्षाकृत कम कठोर एवं अधिक व्यवहारिक स्वरूप का परिचायक था।

अतः यह स्पष्ट होता है कि नाजीवाद की वैचारिक कठोरता ने उसे अधिक उग्र एवं दमनकारी बना दिया, जबकि फासीवाद में अपेक्षाकृत लचीलापन विद्यमान रहा।

- **सामाजिक दृष्टिकोण में अंतर -**

सामाजिक संरचना के संदर्भ में फासीवाद एवं नाजीवाद का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों की सामाजिक दृष्टि में उल्लेखनीय अंतर पाया जाता है। इस प्रकार देखें तो फासीवाद ने समाज को एक संगठित, अनुशासित एवं एकीकृत इकाई के रूप में प्रस्तुत करने पर बल दिया, जिसमें सभी वर्गों को राज्य के अधीन रहकर सामूहिक रूप से कार्य करने की अपेक्षा की गई।

वहीं दूसरी ओर, नाजीवाद ने समाज को नस्लीय आधार पर विभाजित करते हुए एक विशेष जाति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया तथा अन्य जातियों को निम्न एवं अधीनस्थ माना। फलस्वरूप, समाज में असमानता, भेदभाव एवं विभाजन की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं, जिसने सामाजिक समरसता को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

अतः यह स्पष्ट होता है कि जहाँ फासीवाद सामाजिक एकता एवं अनुशासन पर आधारित था, वहीं नाजीवाद का सामाजिक दृष्टिकोण विभाजनकारी एवं भेदभावपूर्ण था, जिसने समाज को एकजुट करने के स्थान पर उसे विभिन्न वर्गों में विभाजित कर दिया।

- **उत्पत्ति एवं ऐतिहासिक संदर्भ में अंतर -**

उत्पत्ति एवं ऐतिहासिक संदर्भ के आधार पर फासीवाद एवं नाजीवाद का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों विचारधाराओं के उद्भव की परिस्थितियों में महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान था। इस प्रकार देखें तो फासीवाद का उद्भव इटली में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता, कमजोर लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय असंतोष की पृष्ठभूमि में हुआ, जहाँ जनता एक सशक्त एवं स्थिर नेतृत्व की अपेक्षा कर रही थी।

वहीं दूसरी ओर, नाजीवाद का उद्भव जर्मनी में अधिक जटिल एवं गंभीर परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ, जिसमें वर्साय की संधि द्वारा किए गए अपमान, भारी युद्ध क्षतिपूर्ति, 1929 के आर्थिक संकट तथा व्यापक बेरोजगारी एवं असंतोष की भावना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन परिस्थितियों ने जर्मन समाज को गहराई से प्रभावित किया तथा एक उग्र एवं प्रतिशोधात्मक विचारधारा के विकास के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया।

फलस्वरूप, यह स्पष्ट होता है कि जहाँ फासीवाद का उद्भव मुख्यतः राजनीतिक अस्थिरता एवं नेतृत्व के अभाव से जुड़ा था, वहीं नाजीवाद का उद्भव राजनीतिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक

कारकों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम था। अतः इन भिन्न ऐतिहासिक संदर्भों ने दोनों विचारधाराओं के स्वरूप एवं विकास को अलग-अलग दिशा प्रदान की।

4.7 वैश्विक राजनीति पर फासीवाद एवं नाजीवाद का प्रभाव-

इस प्रकार देखें तो यदि वैश्विक राजनीति पर फासीवाद एवं नाजीवाद के प्रभावों का विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि इन विचारधाराओं ने न केवल अपने-अपने देशों की आंतरिक राजनीतिक एवं सामाजिक संरचना को प्रभावित किया है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप, शक्ति-संतुलन तथा वैश्विक संबंधों की प्रकृति को भी गहराई से परिवर्तित कर दिया था । इस प्रकार देखें तो इन विचारधाराओं ने विश्व राजनीति को सहयोग एवं शांति के मार्ग से हटाकर संघर्ष, प्रतिस्पर्धा एवं प्रभुत्व की दिशा में अग्रसर किया, जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के मूल स्वरूप में ही व्यापक परिवर्तन देखने को मिला।

इसी क्रम में यह परिवर्तन सर्वप्रथम अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति में स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ, जहाँ आक्रामकता, अविश्वास एवं प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्तियाँ तीव्र होती चली गईं। फासीवादी इटली एवं नाजी जर्मनी द्वारा अपनाई गई विस्तारवादी एवं सैन्यवाद-आधारित नीतियों ने विभिन्न राष्ट्रों के मध्य तनाव को निरंतर बढ़ाया तथा सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को कमजोर कर दिया। फलस्वरूप, राष्ट्रों के मध्य सहयोग की भावना क्रमशः क्षीण होती गई और शक्ति-राजनीति का प्रभाव अत्यधिक प्रबल हो गया, जिससे वैश्विक स्तर पर अस्थिरता एवं संघर्ष की स्थितियाँ गहराने लगीं।

इसी बढ़ती हुई अस्थिरता के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी इन परिस्थितियों का प्रभावी ढंग से सामना करने में असफल रहीं। राष्ट्र संघ जैसे संगठन इन आक्रामक नीतियों को नियंत्रित करने में सक्षम नहीं हो सके, जिससे उनकी विश्वसनीयता पर गंभीर प्रश्नचिह्न लग गया। परिणामस्वरूप, वैश्विक स्तर पर शांति एवं स्थिरता बनाए रखना अत्यंत कठिन हो गया और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में असंतुलन एवं अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो गई, जिसने आगे चलकर युद्ध की संभावनाओं को और अधिक प्रबल बना दिया।

इसी पृष्ठभूमि में फासीवाद एवं नाजीवाद की आक्रामक नीतियाँ अंततः द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में परिणत हुईं। जिसमें जर्मनी द्वारा पोलैंड पर आक्रमण (1939) तथा इटली एवं जापान के साथ गठबंधन की नीति ने विश्व को एक व्यापक युद्ध की ओर धकेल दिया। जिस कारण यह संघर्ष एक वैश्विक युद्ध में परिवर्तित हो गया, जिसने विश्व की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संरचनाओं को गहराई से प्रभावित करते हुए अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया।

इस प्रकार देखें तो इन युद्धों के परिणामस्वरूप वैश्विक शक्ति-संतुलन में भी व्यापक एवं दूरगामी परिवर्तन देखने को मिले। जिसमें द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात यूरोप की पारंपरिक शक्तियाँ जिसमे

ब्रिटेन व फ्रांस के नाम प्रमुख थे भी कमजोर हो गईं, और वैश्विक पटल पर दो महाशक्तियों के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ महाशक्तियों का आगमन होता दिखा, फलस्वरूप इस प्रकार के शक्ति परिवर्तन से विश्व राजनीति द्विध्रुवीय संरचना में परिवर्तित हो गई, जिसने आगे चलकर शीत युद्ध जैसी दीर्घकालिक प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को जन्म दिया और वैश्विक राजनीति को दो विरोधी गुटों में विभाजित कर दिया।

इस प्रकार देखें तो इन विचारधाराओं के दमनकारी एवं विनाशकारी स्वरूप ने मानवाधिकारों की सुरक्षा की आवश्यकता को भी वैश्विक स्तर पर स्थापित कर दिया। इस प्रकार देखें तो नाजी शासन द्वारा किए गए नरसंहार एवं अत्याचारों ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को यह अनुभव कराया कि मानवाधिकारों की रक्षा एवं वैश्विक शांति बनाए रखने हेतु सशक्त संस्थागत व्यवस्थाओं की आवश्यकता बहुत ही जरूरी है है। जसके परिणामस्वरूप ही वैश्विक शांति व स्थापना के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना जैसे महत्वपूर्ण प्रयास किए गए, जिसने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं शांति स्थापना की दिशा में एक नई संरचना प्रदान की।

फलस्वरूप, उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद ने वैश्विक राजनीति को गहराई से प्रभावित करते हुए उसे एक संघर्ष-प्रधान, प्रतिस्पर्धात्मक एवं अस्थिर दिशा में अग्रसर किया। अतः इन विचारधाराओं के प्रभावों ने न केवल तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को परिवर्तित किया, बल्कि आधुनिक विश्व राजनीति के स्वरूप, संरचना एवं दिशा को भी स्थायी रूप से निर्धारित किया।

4.8 सारांश

इस प्रकार देखें तो प्रस्तुत इकाई में फासीवाद एवं नाजीवाद के उद्भव, स्वरूप, विशेषताओं तथा उनके वैश्विक प्रभावों का क्रमबद्ध एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों विचारधाराएँ प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक संकट एवं सामाजिक असंतोष की पृष्ठभूमि में विकसित हुईं, जिन्होंने यूरोप की राजनीतिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया।

इसी क्रम में यह भी स्पष्ट हुआ कि फासीवाद एवं नाजीवाद दोनों ही सर्वाधिकारवादी एवं अधिनायकवादी विचारधाराएँ थीं, जिनमें राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया तथा व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को सीमित कर दिया गया। फलस्वरूप, एकदलीय एवं निरंकुश शासन व्यवस्था की स्थापना हुई, जिसमें समस्त शक्ति एक ही नेता एवं दल के हाथों में केंद्रित रही।

इसी परिप्रेक्ष्य में इन विचारधाराओं का वैचारिक आधार उग्र राष्ट्रवाद पर आधारित था, जिसने राष्ट्रीय गौरव, एकता एवं श्रेष्ठता की भावना को अत्यधिक प्रबल किया। विशेष रूप से नाजीवाद में

यह राष्ट्रवाद नस्लीय श्रेष्ठता के सिद्धांत के रूप में विकसित हुआ, जिसने समाज में विभाजन एवं दमन की प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

इसी क्रम में सैन्यवाद एवं विस्तारवादी नीतियों को अपनाते हुए इन विचारधाराओं ने युद्ध को एक आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार किया। फलस्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रतिस्पर्धा, अविश्वास एवं संघर्ष की प्रवृत्तियाँ तीव्र हो गईं, जिसने विश्व शांति को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

इसी परिप्रेक्ष्य में यह भी स्पष्ट हुआ कि फासीवाद एवं नाजीवाद के मध्य अनेक समानताएँ होने के बावजूद उनके वैचारिक आधार, नस्लीय दृष्टिकोण, विस्तारवाद की प्रकृति एवं सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण भिन्नताएँ विद्यमान थीं, जो उनके स्वरूप एवं प्रभाव को अलग-अलग दिशा प्रदान करती हैं।

फलस्वरूप, इन विचारधाराओं का सबसे व्यापक प्रभाव वैश्विक राजनीति पर पड़ा, जहाँ इनके कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में आक्रामकता एवं अस्थिरता बढ़ी, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कमजोर हुईं तथा अंततः द्वितीय विश्व युद्ध जैसी विनाशकारी घटना घटित हुई। इसके साथ ही, युद्ध के पश्चात वैश्विक शक्ति-संतुलन में परिवर्तन, द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था का उदय तथा मानवाधिकारों की रक्षा हेतु नए संस्थागत प्रयास भी देखने को मिले।

अतः यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि फासीवाद एवं नाजीवाद केवल ऐतिहासिक विचारधाराएँ नहीं थीं, बल्कि उन्होंने आधुनिक विश्व राजनीति के स्वरूप, संरचना एवं दिशा को स्थायी रूप से प्रभावित किया। इस प्रकार देखें तो इनका अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति एवं शक्ति-संबंधों को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

4.9 अभ्यास प्रश्न

1. 'वर्साय की संधि' किस वर्ष हुई थी?

(A) 1918 (B) 1919 (C) 1925 (D) 1933

2. 'एनेबलिंग एक्ट' किस देश से संबंधित है?

(A) इटली (B) जर्मनी (C) फ्रांस (D) ब्रिटेन

3. 'जीवन-क्षेत्र' (Lebensraum) की अवधारणा किस विचारधारा से संबंधित है?

(A) फासीवाद (B) नाजीवाद (C) समाजवाद (D) उदारवाद

4. निम्न में से कौन-सा तत्व फासीवाद एवं नाजीवाद दोनों में समान है?

(A) बहुदलीय व्यवस्था (B) लोकतंत्र (C) एकदलीय शासन (D) स्वतंत्र न्यायपालिका

5. 'नूरेमबर्ग कानून' किससे संबंधित हैं?

(A) इटली (B) जर्मनी (C) रूस (D) फ्रांस

6. फासीवाद के उदय में 'रोम पर मार्च' किस वर्ष हुआ?

(A) 1919 (B) 1922 (C) 1933 (D) 1939

7. नाजीवाद में 'आर्य जाति' को क्या माना गया?

(A) निम्न जाति (B) शत्रु जाति (C) सर्वोच्च जाति (D) समान जाति

4.10 शब्दावली

1. **फासीवाद**: एक सर्वाधिकारवादी विचारधारा, जिसमें राज्य को सर्वोच्च मानते हुए एकदलीय एवं निरंकुश शासन स्थापित किया जाता है तथा व्यक्ति के अधिकारों को सीमित कर दिया जाता है।

2. **नाजीवाद**: जर्मनी में विकसित एक उग्र राष्ट्रवादी एवं सर्वाधिकारवादी विचारधारा, जिसमें नस्लीय श्रेष्ठता के सिद्धांत को प्रमुख स्थान दिया गया।

3. **सर्वाधिकारवाद**: ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें राज्य का नियंत्रण समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति एवं संस्कृति के सभी क्षेत्रों पर स्थापित होता है।

4. **अधिनायकवाद**: ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें सत्ता एक व्यक्ति या एक दल के हाथों में केंद्रित होती है और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का अभाव होता है।

5. **उग्र राष्ट्रवाद**: राष्ट्र को सर्वोच्च मानते हुए उसकी श्रेष्ठता एवं गौरव को बढ़ाने की तीव्र भावना, जो अन्य राष्ट्रों के प्रति आक्रामक दृष्टिकोण को जन्म देती है।

6. **नस्लीय श्रेष्ठता**: वह विचार जिसमें एक विशेष जाति को अन्य जातियों की तुलना में श्रेष्ठ माना जाता है, जैसा कि नाजीवाद में 'आर्य जाति' के संदर्भ में देखा गया।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(B) 1919, **2.**(B) जर्मनी, **3.**(B) नाजीवाद, **4.**(C) एकदलीय शासन, **5.**(B) जर्मनी, **6.**(B) 1922, **7.**(C) सर्वोच्च जाति

4.11 संदर्भ सूची-

Heywood, Andrew, 2011, Global Politics, Palgrave Macmillan, Hampshire, England.

Baylis, John; Smith, Steve, 2004, The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations, Oxford University Press, Oxford.

Khanna, V. N., 2013, International Relations, Vikas Publishing House, New Delhi.

Morgenthau, Hans J., 2006, Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace, McGraw-Hill, New York.

Carr, E. H., 2001, The Twenty Years' Crisis 1919–1939, Palgrave Macmillan, London.

Waltz, Kenneth N., 1979, Theory of International Politics, Addison-Wesley, Reading, Massachusetts.

Lowe, Norman, 2015, Mastering Modern World History, Palgrave Macmillan, London.

Sabine, George H., 2009, A History of Political Theory, Oxford University Press, New Delhi.

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.फासीवाद से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए।

2.नाजीवाद का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

3.फासीवाद एवं नाजीवाद के उद्भव की ऐतिहासिक परिस्थितियों का विश्लेषण कीजिए।

4. एवं नाजीवाद की प्रमुख विशेषताओं को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट कीजिए।

5.फासीवाद एवं नाजीवाद के मध्य समानताओं का वर्णन कीजिए।

इकाई 5: द्वितीय विश्व युद्ध के कारण और प्रभाव

इकाई संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि

5.4 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

5.5 द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव

5.6 सारांश

5.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

5.8 शब्दावली

5.9 संदर्भ सूची

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

यदि देखा जाए तो द्वितीय विश्व युद्ध 20वीं शताब्दी की सबसे विनाशकारी एवं निर्णायक वैश्विक घटना के रूप में उभरकर सामने आई है, जिसने विश्व की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक संरचनाओं को गहरा आघात पहुँचाया है। इसी क्रम में, यह उल्लेखनीय है कि नवम्बर 1918 में प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात यह अपेक्षा की गई थी कि विश्व में स्थायी शांति स्थापित होगी, परन्तु मात्र दो दशकों के भीतर ही सितम्बर 1939 में पुनः यूरोप में युद्ध की आग भड़क उठी, जिसने शीघ्र ही सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रभाव में ले लिया।

इसी प्रकार देखें तो प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका के पश्चात वैश्विक शांति एवं समृद्धि की स्थापना हेतु कुछ अंतर्राष्ट्रीय प्रयास भी किए गए, जिनमें विशेष रूप से वर्साय की संधि (1919) एवं राष्ट्र संघ (1920) की संरचना उल्लेखनीय थी। तथापि, ये प्रयास अपने क्षणिक एवं सीमित प्रभाव के कारण व्यापक रूप से स्थापित नहीं हो सके तथा अपने अस्तित्व को वैश्विक स्तर पर सुदृढ़ नहीं कर पाए। फलस्वरूप, ये दीर्घकालिक शांति स्थापित करने में पूर्णतः असफल सिद्ध हुए।

जिन अनेक कारणों की वजह से यूरोप में असंतोष, आर्थिक अस्थिरता तथा राजनीतिक असुरक्षा की भावना निरंतर बढ़ती गई, जिसने अंततः पूरे वैश्विक पटल पर द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस प्रकार, 1939 से 1945 के मध्य लड़े गए इस द्वितीय महायुद्ध में विश्व की प्रमुख शक्तियाँ दो विरोधी गुटों—मित्र राष्ट्रों (जिसमें ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, फ्रांस आदि शामिल रहे) एवं धुरी राष्ट्रों (जिसमें जर्मनी, इटली एवं जापान प्रमुख थे)—में विभाजित होकर आमने-सामने आ खड़ी हुईं, जिसके परिणामस्वरूप व्यापक स्तर पर जन-धन की अपार हानि हुई।

फलस्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में व्यापक, गहन एवं दूरगामी परिवर्तन परिलक्षित हुए, जिसने विश्व को अनेक नई चुनौतियों के साथ-साथ महत्वपूर्ण शिक्षाएँ भी प्रदान कीं। इस प्रकार, यह युद्ध केवल एक सैन्य संघर्ष न होकर एक व्यापक वैश्विक संकट के रूप में सामने आया, जिसने एक नई विश्व व्यवस्था की स्थापना की ठोस नींव रखी।

अतः, द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों एवं प्रभावों का अध्ययन न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से, बल्कि राजनीतिक विज्ञान के व्यापक विश्लेषण के लिए भी अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इसके माध्यम से ही समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति एवं प्रवृत्तियों को भली-भांति समझा जा सकता है।

5.2 उद्देश्य

इस प्रकार, किसी भी शैक्षणिक इकाई का उद्देश्य केवल तथ्यों का प्रस्तुतीकरण करना नहीं होता, बल्कि विषय के प्रति गहन समझ एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का विकास करना भी होता है। इसी

परिप्रेक्ष्य में, प्रस्तुत इकाई "द्वितीय विश्व युद्ध के कारण और प्रभाव" के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- विद्यार्थियों को द्वितीय विश्व युद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत कराना।
- युद्ध के प्रमुख कारणों का क्रमबद्ध एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन कराना।
- द्वितीय विश्व युद्ध के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रभावों को स्पष्ट रूप से समझाना।
- अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में हुए परिवर्तनों तथा नई विश्व व्यवस्था के उद्भव का विश्लेषण करना।
- विद्यार्थियों में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की समकालीन प्रवृत्तियों को समझने की क्षमता विकसित करना।

फलस्वरूप, इन उद्देश्यों के माध्यम से विद्यार्थी न केवल द्वितीय विश्व युद्ध की घटनाओं एवं तथ्यों को समझ सकेंगे, बल्कि उसके कारणों एवं प्रभावों का सम्यक् एवं आलोचनात्मक विश्लेषण करने में भी सक्षम हो सकेंगे।

5.3 द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि

सामान्यतः यह कहा जाता है कि पेरिस की शांति संधियों में ही द्वितीय विश्व युद्ध के बीज निहित थे। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत पेरिस शांति सम्मेलन उन मूलभूत कारणों को समाप्त करने में असफल रहा, जो युद्धोन्मुख प्रवृत्तियों को जन्म दे रहे थे। यद्यपि राष्ट्र संघ ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत को स्वीकार किया, तथापि उसका व्यावहारिक स्वरूप अत्यंत निराशाजनक सिद्ध हुआ। फलस्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थायी शांति की स्थापना संभव नहीं हो सकी।

इसी क्रम में, 1931 से 1939 के मध्य की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि विश्व पुनः एक व्यापक संघर्ष की ओर अग्रसर हो रहा है। 1931-32 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर उस पर अधिकार स्थापित कर लिया, जिसके विरुद्ध चीन द्वारा राष्ट्र संघ में शिकायत की गई, परन्तु राष्ट्र संघ जापान को प्रभावी रूप से रोकने में असफल रहा। इस प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की निष्क्रियता ने आक्रामक राष्ट्रों के मनोबल को और अधिक बढ़ा दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, 1933 में जर्मनी में हिटलर के सत्ता में आने के पश्चात आक्रामक राष्ट्रवाद एवं सैन्यीकरण को बढ़ावा मिला। हिटलर ने वर्साय की संधि की शर्तों की अवहेलना करते हुए पुनः शस्त्रीकरण आरंभ किया तथा जर्मनी को युद्ध के लिए तैयार करने लगा। दूसरी ओर, इटली ने अपनी

साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु इथियोपिया पर आक्रमण किया, परन्तु राष्ट्र संघ की निष्क्रियता के कारण उसे कोई प्रभावी प्रतिरोध नहीं मिला।

फलस्वरूप, जर्मनी, इटली एवं जापान के मध्य पारस्परिक सहयोग एवं समर्थन की भावना विकसित हुई, जिसने आगे चलकर धुरी शक्तियों के रूप में संगठित रूप धारण किया। इसी समय, यूरोप के अन्य राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई तुष्टिकरण की नीति ने भी इन आक्रामक शक्तियों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया।

अतः, 1930 के दशक के उत्तरार्ध तक यह स्पष्ट हो गया कि विश्व एक बार पुनः व्यापक युद्ध की ओर बढ़ रहा है। अंततः, 1 सितम्बर 1939 को जर्मनी द्वारा पोलैंड पर आक्रमण किए जाने के साथ ही द्वितीय विश्व युद्ध का आरंभ हो गया, जिसने सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रभाव में ले लिया।

5.4 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

यदि हम द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों की बात करें तो इसमें कोई एक कारण न होकर के बहुत सारे कारण हैं जिनका जिक्र नीचे निम्नानुसार किया गया है-

1. वर्साय की संधि की कठोरता
2. सामूहिक सुरक्षा का पतन
3. तुष्टिकरण की नीति
4. सर्वसत्तावादी शक्तियों का उत्कर्ष एवं उनकी महत्वाकांक्षाएँ
5. निःशस्त्रीकरण की असफलता
6. दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों का उदय
7. अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट (1929)
8. साम्राज्यवादी भावना
9. अल्पसंख्यक जातियों की समस्या
10. पोलैंड पर जर्मनी का आक्रमण (तात्कालिक कारण)

5.4.1 वर्साय की संधि की कठोरता

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात 1919 में संपन्न वर्साय की संधि को द्वितीय विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों में से एक माना जाता है। इस संधि के माध्यम से विजयी राष्ट्रों, जिनमें विशेषतः ब्रिटेन एवं फ्रांस प्रमुख थे, ने जर्मनी पर अत्यंत कठोर एवं अपमानजनक शर्तें आरोपित कीं। इसी परिप्रेक्ष्य में, वर्साय की संधि के अंतर्गत जर्मनी को प्रथम विश्व युद्ध के लिए पूर्णतः उत्तरदायी ठहराया गया, जिसे 'युद्ध दोष धारा' कहा जाता है। इस धारा के अंतर्गत जर्मनी को युद्ध का एकमात्र दोषी घोषित करते हुए उस पर लगभग 6.6 अरब पाउंड की भारी क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान करने का दायित्व निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त, जर्मनी की सैन्य शक्ति को अत्यंत सीमित कर दिया गया, जिसके अंतर्गत उसकी स्थायी सेना को केवल 1,00,000 सैनिकों तक सीमित किया गया, उसे वायुसेना रखने से प्रतिबंधित किया गया तथा आधुनिक हथियारों, टैंकों एवं पनडुब्बियों के निर्माण एवं उपयोग पर भी कठोर रोक लगा दी गई।

फलस्वरूप, जर्मनी की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई, जिससे वहाँ व्यापक असंतोष एवं अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हुआ। इसी संदर्भ में इतिहासकार ए. जे. पी. टेलर का कथन उल्लेखनीय है कि "वर्साय की संधि ने शांति स्थापित करने के बजाय भविष्य के युद्ध के बीज बो दिए।" इसी प्रकार, सिरिल फ्रांस के अनुसार, "द्वितीय विश्व युद्ध सार रूप से जर्मनी द्वारा प्रारम्भ किया गया एक प्रतिशोधात्मक युद्ध था।"

इस प्रकार, इस संधि ने जर्मन जनता के आत्मसम्मान को गहरा आघात पहुँचाया तथा उनमें प्रतिशोध की भावना को प्रबल किया। इसी असंतोष का लाभ उठाकर एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद एवं सैन्यवाद को पुनर्जीवित किया और वर्साय की संधि को समाप्त करने का संकल्प लिया।

अतः, वर्साय की संधि की कठोर एवं अन्यायपूर्ण शर्तों ने न केवल जर्मनी को अपमानित किया, बल्कि द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5.4.2 सामूहिक सुरक्षा का पतन

प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत विश्व में स्थायी शांति स्थापित करने के उद्देश्य से राष्ट्र संघ की स्थापना की गई थी, जिसका मूल आधार सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत था। इस सिद्धांत के अनुसार यदि कोई राष्ट्र आक्रामक नीति अपनाता है, तो अन्य सभी सदस्य राष्ट्र मिलकर उसका प्रतिरोध करेंगे। तथापि, व्यवहारिक स्तर पर यह सिद्धांत पूर्णतः विफल सिद्ध हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा धीरे-धीरे समाप्त होती चली गई।

इसी परिप्रेक्ष्य में, 1931 में जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण सामूहिक सुरक्षा की विफलता का प्रथम प्रमुख उदाहरण था। चीन द्वारा राष्ट्र संघ में शिकायत किए जाने के बावजूद राष्ट्र संघ जापान के

विरुद्ध कोई ठोस कार्रवाई नहीं कर सका। परिणामस्वरूप, जापान ने न केवल मंचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित किया, बल्कि 1933 में राष्ट्र संघ से बाहर भी निकल गया।

इसी क्रम में, 1935 में इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने इथियोपिया (अबीसीनिया) पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्र संघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाए, परन्तु ये प्रतिबंध प्रभावी सिद्ध नहीं हुए, क्योंकि प्रमुख शक्तियों—ब्रिटेन एवं फ्रांस—ने कठोर कदम उठाने से परहेज किया। फलस्वरूप, इटली ने इथियोपिया पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया, जिससे राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा।

इसी परिप्रेक्ष्य में, जर्मनी द्वारा भी वर्साय की संधि का उल्लंघन करते हुए पुनः शस्त्रीकरण, राइनलैंड का पुनः सैन्यीकरण (1936) तथा ऑस्ट्रिया का विलय (1938) जैसे कदम उठाए गए, परन्तु राष्ट्र संघ एवं अन्य शक्तियाँ उसे रोकने में असफल रहीं। इस प्रकार, आक्रामक राष्ट्रों के विरुद्ध किसी प्रभावी सामूहिक कार्रवाई का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई दिया।

फलस्वरूप, राष्ट्र संघ की निष्क्रियता एवं महान शक्तियों की उदासीनता के कारण सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत पूर्णतः निष्प्रभावी हो गया। इसी संदर्भ में इतिहासकार ई. एच. कार का कथन उल्लेखनीय है कि "सामूहिक सुरक्षा एक आदर्श मात्र बनकर रह गई, जिसका वास्तविक राजनीति में कोई प्रभाव नहीं रहा।"

अतः, सामूहिक सुरक्षा के पतन ने आक्रामक राष्ट्रों को निर्भीक होकर विस्तारवादी नीतियाँ अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया, जिसने अंततः द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5.4.3 तुष्टिकरण की नीति

द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों में तुष्टिकरण की नीति का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे विशेषतः ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा अपनाया गया। तुष्टिकरण का अर्थ है आक्रामक राष्ट्रों की अनुचित मांगों को स्वीकार कर उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करना, ताकि युद्ध को टाला जा सके। प्रारंभिक दृष्टि में यह नीति शांति बनाए रखने का साधन प्रतीत होती थी, परन्तु व्यवहार में यह आक्रामक शक्तियों को प्रोत्साहित करने का माध्यम बन गई।

इसी परिप्रेक्ष्य में, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री नेविल चेम्बरलेन ने जर्मनी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए हिटलर की अनेक मांगों को स्वीकार किया। 1936 में जर्मनी द्वारा राइनलैंड का पुनः सैन्यीकरण तथा 1938 में ऑस्ट्रिया का विलय (Anschluss) जैसे कदमों का प्रभावी विरोध नहीं किया गया। इससे हिटलर के मनोबल में निरंतर वृद्धि होती गई।

इसी क्रम में, 1938 का म्यूनिख समझौता तुष्टिकरण नीति का सबसे प्रमुख उदाहरण माना जाता है, जिसके अंतर्गत ब्रिटेन एवं फ्रांस ने जर्मनी को चेकोस्लोवाकिया के सूडेटेनलैंड क्षेत्र पर अधिकार करने की अनुमति दे दी। इस समझौते को चेम्बरलेन ने "हमारे समय के लिए शांति" (Peace for our time) की संज्ञा दी, परन्तु यह शांति अल्पकालिक सिद्ध हुई।

फलस्वरूप, तुष्टिकरण की नीति ने हिटलर को और अधिक आक्रामक बना दिया तथा उसने 1939 में चेकोस्लोवाकिया के शेष भाग पर भी अधिकार कर लिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि तुष्टिकरण की नीति पूर्णतः विफल हो चुकी है। इसी संदर्भ में इतिहासकार ए. जे. पी. टेलर का मत है कि "तुष्टिकरण की नीति ने युद्ध को रोकने के बजाय उसे और अधिक निकट ला दिया।"

अतः, तुष्टिकरण की नीति ने आक्रामक राष्ट्रों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया तथा उनके विस्तारवादी उद्देश्यों को बल प्रदान किया, जिसने अंततः द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5.4.4 सर्वसत्तावादी शक्तियों का उत्कर्ष एवं उनकी महत्वाकांक्षाएँ

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों में सर्वसत्तावादी शक्तियों का उत्कर्ष एवं उनकी विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण रही हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक संकट तथा लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की कमजोरी के परिणामस्वरूप जर्मनी, इटली एवं जापान में सर्वसत्तावादी शासन प्रणालियों का उदय हुआ, जिन्होंने आक्रामक राष्ट्रवाद एवं सैन्यवाद को बढ़ावा दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, जर्मनी में एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में नाजी शासन की स्थापना (1933) हुई, जिसने 'लेबेन्सराउम' (Lebensraum) अर्थात् 'जीवन-क्षेत्र' की नीति को अपनाते हुए जर्मन विस्तारवाद को वैचारिक आधार प्रदान किया। हिटलर का उद्देश्य जर्मनी की सीमाओं का विस्तार कर उसे एक महान शक्ति के रूप में स्थापित करना था। इसी क्रम में, इटली में बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवादी शासन का उदय हुआ, जिसने प्राचीन रोमन साम्राज्य के पुनर्निर्माण का लक्ष्य निर्धारित किया तथा अफ्रीका एवं भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास किया।

इसी प्रकार, जापान में सैन्यवादी शासन ने पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने हेतु आक्रामक नीतियाँ अपनाई। 1931 में मंचूरिया पर आक्रमण तथा 1937 में चीन पर व्यापक आक्रमण जापान की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। इन तीनों राष्ट्रों—जर्मनी, इटली एवं जापान—ने अपने-अपने क्षेत्रों में विस्तारवादी नीतियों को अपनाते हुए अंतर्राष्ट्रीय शांति को गंभीर चुनौती दी।

फलस्वरूप, इन सर्वसत्तावादी शक्तियों के मध्य वैचारिक एवं रणनीतिक सामंजस्य विकसित हुआ, जिसने आगे चलकर धुरी शक्तियों के रूप में एक संगठित रूप धारण किया। इसी संदर्भ में इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम का मत उल्लेखनीय है कि "सर्वसत्तावादी शासन प्रणालियों का उदय अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों को अनिवार्य बना देता है।"

अतः, सर्वसत्तावादी शक्तियों की आक्रामक नीतियाँ एवं विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएँ द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ में अत्यंत महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुईं, जिन्होंने विश्व को पुनः एक व्यापक संघर्ष की ओर धकेल दिया।

5.4.5 निःशस्त्रीकरण की असफलता

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात विश्व में स्थायी शांति स्थापित करने के उद्देश्य से निःशस्त्रीकरण को एक महत्वपूर्ण उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह माना गया कि यदि राष्ट्र अपनी सैन्य शक्तियों को सीमित कर देंगे, तो भविष्य में युद्ध की संभावना को कम किया जा सकता है। तथापि, व्यवहारिक स्तर पर निःशस्त्रीकरण के प्रयास पूर्णतः असफल सिद्ध हुए, जिसने अंतर्राष्ट्रीय अस्थिरता को और अधिक बढ़ावा दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, 1932 में जिनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें विभिन्न राष्ट्रों ने भाग लिया, परन्तु यह सम्मेलन किसी ठोस परिणाम तक नहीं पहुँच सका, क्योंकि प्रमुख शक्तियों के मध्य आपसी अविश्वास, सुरक्षा संबंधी चिंताएँ तथा राष्ट्रीय हितों के टकराव के कारण निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई प्रभावी सहमति स्थापित नहीं हो पाई।

इसी क्रम में, जर्मनी ने वर्साय की संधि के अंतर्गत लगाए गए सैन्य प्रतिबंधों को अन्यायपूर्ण बताते हुए समान सैन्य अधिकारों की मांग की। जब उसकी मांगों को स्वीकार नहीं किया गया, तो 1933 में जर्मनी ने न केवल निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अपने को अलग कर लिया, बल्कि राष्ट्र संघ की सदस्यता भी त्याग दी। इसके पश्चात हिटलर ने खुले रूप से पुनः शस्त्रीकरण की नीति अपनाई, जिससे अन्य राष्ट्रों में भी सैन्य प्रतिस्पर्धा की भावना को बल मिला।

फलस्वरूप, विश्व में शस्त्रों की होड़ प्रारंभ हो गई, जिसने अंतर्राष्ट्रीय तनाव को और अधिक तीव्र कर दिया। इस प्रकार, निःशस्त्रीकरण की विफलता ने न केवल शांति स्थापना के प्रयासों को कमजोर किया, बल्कि आक्रामक राष्ट्रों को अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित भी किया।

इसी संदर्भ में इतिहासकार ई. एच. कार का कथन उल्लेखनीय है कि "निःशस्त्रीकरण की असफलता अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थवादी प्रवृत्तियों को दर्शाती है, जहाँ शक्ति संतुलन ही सर्वोपरि होता है।"

अतः, निःशस्त्रीकरण की असफलता ने विश्व को पुनः सैन्य प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की दिशा में धकेल दिया, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के उद्भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5.4.6 दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों का उदय

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों में विश्व की शक्तियों का दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों में संगठित होना अत्यंत महत्वपूर्ण था। 1930 के दशक में विभिन्न राष्ट्रों के बीच बढ़ते तनाव, परस्पर अविश्वास तथा राष्ट्रीय हितों के टकराव ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को संघर्ष की दिशा में अग्रसर कर दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, जर्मनी, इटली एवं जापान ने अपने-अपने विस्तारवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आपसी सहयोग की नीति अपनाई। इस सहयोग का परिणाम यह हुआ कि इन राष्ट्रों के मध्य एक संगठित गुट का निर्माण हुआ, जिसे धुरी शक्तियों के रूप में जाना गया। 1936 में जर्मनी एवं इटली के मध्य 'रोम-बर्लिन धुरी' की स्थापना हुई, जिसने दोनों देशों के मध्य राजनीतिक एवं सैन्य सहयोग को सुदृढ़ किया। इसी क्रम में, 1937 में जापान भी इस गुट में सम्मिलित हो गया, जिससे यह गठबंधन और अधिक सशक्त हो गया।

इसी के प्रतिकार स्वरूप, ब्रिटेन एवं फ्रांस जैसे राष्ट्रों ने भी अपने हितों की रक्षा के लिए आपसी सहयोग को बढ़ावा दिया, जिसमें बाद में सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका भी सम्मिलित हो गए। इस प्रकार, एक दूसरा गुट अस्तित्व में आया, जिसे मित्र शक्तियों के रूप में जाना गया, जिसका उद्देश्य धुरी शक्तियों की आक्रामक एवं विस्तारवादी नीतियों का प्रतिरोध करना था।

फलस्वरूप, विश्व की राजनीति दो स्पष्ट विरोधी गुटों में विभाजित हो गई, जिससे अंतर्राष्ट्रीय तनाव और अधिक तीव्र हो गया तथा संघर्ष की संभावना अत्यधिक बढ़ गई। इस प्रकार, इन प्रतिद्वन्द्वी गुटों के मध्य बढ़ती प्रतिस्पर्धा एवं अविश्वास ने युद्ध को लगभग अनिवार्य बना दिया।

इसी संदर्भ में इतिहासकार ई. एच. कार का कथन उल्लेखनीय है कि "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटबंदी की प्रवृत्ति संघर्ष को अनिवार्य बना देती है।"

अतः, दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ, जिसने विश्व को दो विरोधी शक्तियों के बीच टकराव की स्थिति में पहुँचा दिया।

5.4.7 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट (1929)

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों में 1929 का अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट अत्यंत महत्वपूर्ण रहा, जिसने विश्व की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाओं को गहराई से प्रभावित किया। यह

संकट मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रारंभ हुआ और शीघ्र ही विश्व के अधिकांश देशों में फैल गया, जिसके परिणामस्वरूप वैश्विक अर्थव्यवस्था गंभीर मंदी की चपेट में आ गई।

इसी परिप्रेक्ष्य में, 1929 में अमेरिकी शेयर बाजार के पतन ने विश्वव्यापी आर्थिक संकट को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप उद्योग-धंधे ठप पड़ने लगे, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में तीव्र गिरावट आई तथा बेरोजगारी की समस्या व्यापक रूप से फैल गई। फलस्वरूप, अनेक देशों में आर्थिक असंतोष एवं सामाजिक अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हुआ, जिसने लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को कमजोर कर दिया।

इसी क्रम में, जर्मनी जैसे देश, जो पहले से ही वर्साय की संधि की कठोर शर्तों के कारण आर्थिक संकट से जूझ रहे थे, इस वैश्विक मंदी से और अधिक प्रभावित हुए। भारी बेरोजगारी एवं आर्थिक कठिनाइयों के कारण जर्मन जनता में असंतोष बढ़ता गया, जिसका लाभ उठाकर एडोल्फ हिटलर ने सत्ता प्राप्त की और आक्रामक राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया।

इसी प्रकार, इटली एवं जापान जैसे देशों ने भी आर्थिक संकट से उबरने के लिए विस्तारवादी नीतियों को अपनाया, जिससे वे नए क्षेत्रों एवं संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित कर सकें। इस प्रकार, आर्थिक संकट ने इन राष्ट्रों को सैन्यवाद एवं साम्राज्यवाद की दिशा में प्रेरित किया।

फलस्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट ने न केवल वैश्विक अर्थव्यवस्था को कमजोर किया, बल्कि राजनीतिक अस्थिरता एवं आक्रामक राष्ट्रवाद को भी प्रोत्साहित किया। इसी संदर्भ में इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम का मत उल्लेखनीय है कि "महामंदी ने विश्व राजनीति को कट्टरपंथ एवं संघर्ष की दिशा में धकेल दिया।"

अतः, 1929 का अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट द्वितीय विश्व युद्ध के उद्भव का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ, जिसने विश्व को आर्थिक अस्थिरता से निकालकर राजनीतिक एवं सैन्य संघर्ष की ओर अग्रसर कर दिया।

5.4.8 साम्राज्यवादी भावना

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों में साम्राज्यवादी भावना का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है, जिसने विभिन्न राष्ट्रों को अपने क्षेत्रीय विस्तार एवं संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात भी अनेक राष्ट्रों में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति समाप्त नहीं हुई, बल्कि आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण यह और अधिक तीव्र हो गई।

इसी परिप्रेक्ष्य में, जर्मनी, इटली एवं जापान जैसे राष्ट्रों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से आक्रामक नीतियाँ अपनाईं। जर्मनी, जो वर्साय की संधि के कारण अपने उपनिवेशों से वंचित हो

चुका था, पुनः अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करना चाहता था। इसी क्रम में, इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने 1935 में इथियोपिया पर आक्रमण कर अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों को साकार करने का प्रयास किया।

इसी प्रकार, जापान ने पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए 1931 में मंचूरिया पर अधिकार किया तथा 1937 में चीन पर व्यापक आक्रमण किया। जापान का उद्देश्य एशिया में एक व्यापक साम्राज्य स्थापित करना था, जिसे वह 'पूर्वी एशिया का सह-समृद्धि क्षेत्र' के रूप में प्रस्तुत करता था।

फलस्वरूप, इन राष्ट्रों की साम्राज्यवादी नीतियों ने अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं संतुलन को गंभीर रूप से प्रभावित किया। संसाधनों, बाजारों तथा कच्चे माल की प्राप्ति की होड़ ने राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष को और अधिक तीव्र कर दिया। इस प्रकार, साम्राज्यवाद की यह प्रवृत्ति अंततः विश्व को व्यापक युद्ध की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध हुई।

इसी संदर्भ में इतिहासकार लेनिन का मत उल्लेखनीय है कि "साम्राज्यवाद पूँजीवाद का उच्चतम चरण है, जो अंततः युद्धों को जन्म देता है।"

अतः, साम्राज्यवादी भावना ने राष्ट्रों के बीच प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष को बढ़ावा दिया, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के उद्भव में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5.4.9 अल्पसंख्यक जातियों की समस्या

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों में अल्पसंख्यक जातियों की समस्या का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है, जिसने यूरोप की राजनीतिक स्थिरता को गंभीर रूप से प्रभावित किया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात विभिन्न संधियों के माध्यम से यूरोप का राजनीतिक पुनर्गठन किया गया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक नए राष्ट्रों का उदय हुआ, परन्तु इन नए राष्ट्रों की सीमाएँ जातीय, भाषाई एवं सांस्कृतिक आधार पर संतुलित नहीं थीं।

इसी परिप्रेक्ष्य में, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया तथा अन्य नवगठित राज्यों में बड़ी संख्या में जर्मन, हंगेरियन तथा अन्य अल्पसंख्यक जातियाँ रह गईं। अनुमानतः यूरोप में लगभग 3 करोड़ से अधिक लोग ऐसे थे, जो अपने मूल राष्ट्र से अलग होकर अन्य राज्यों के अधीन रहने को विवश थे। इससे इन अल्पसंख्यकों में असंतोष की भावना उत्पन्न हुई, जो समय के साथ राजनीतिक संकट का रूप धारण करती गई।

इसी क्रम में, जर्मनी के नेता एडोल्फ हिटलर ने इन अल्पसंख्यक जर्मनों की समस्या को अपने विस्तारवादी उद्देश्यों के लिए एक औजार के रूप में प्रयोग किया। उसने चेकोस्लोवाकिया के

सूडेटेनलैंड क्षेत्र में रहने वाले जर्मनों के अधिकारों की रक्षा के नाम पर 1938 में उस क्षेत्र पर अधिकार स्थापित कर लिया। इसी प्रकार, पोलैंड में रहने वाले जर्मनों के मुद्दे को भी जर्मनी ने आक्रमण का आधार बनाया।

फलस्वरूप, अल्पसंख्यक जातियों की समस्या ने अंतर्राष्ट्रीय विवादों को जन्म दिया तथा राष्ट्रों के बीच अविश्वास एवं तनाव को बढ़ावा दिया। राष्ट्र संघ भी इस समस्या का प्रभावी समाधान प्रस्तुत करने में असफल रहा, जिससे यह समस्या और अधिक जटिल होती चली गई।

इसी संदर्भ में इतिहासकार ए. जे. पी. टेलर का मत उल्लेखनीय है कि "अल्पसंख्यक जातियों की समस्या यूरोप की शांति के लिए एक स्थायी संकट बन गई थी।"

अतः, अल्पसंख्यक जातियों की समस्या ने न केवल यूरोप की राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ाया, बल्कि द्वितीय विश्व युद्ध के उद्भव में एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में कार्य किया, जिसने विभिन्न राष्ट्रों के मध्य संघर्ष की स्थितियों को और अधिक तीव्र बना दिया।

5.4.10 पोलैंड पर जर्मनी का आक्रमण (तात्कालिक कारण)

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक कारण के रूप में 1 सितम्बर 1939 को जर्मनी द्वारा पोलैंड पर किया गया आक्रमण अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। यह आक्रमण केवल एक क्षेत्रीय विवाद का परिणाम नहीं था, बल्कि इसके पीछे जर्मनी की विस्तारवादी नीति तथा यूरोप में अपनी प्रभुत्व स्थापित करने की महत्वाकांक्षा निहित थी।

इसी परिप्रेक्ष्य में, हिटलर ने पोलैंड से 'डांजिग' (Danzig) क्षेत्र तथा 'पोलिश कॉरिडोर' पर अपना अधिकार स्थापित करने की मांग की, जिससे जर्मनी का मुख्य भूभाग पूर्वी प्रशा से जुड़ सके। जब पोलैंड ने इन मांगों को अस्वीकार कर दिया, तब जर्मनी ने सैन्य आक्रमण का मार्ग अपनाया।

इसी क्रम में, 23 अगस्त 1939 को जर्मनी एवं सोवियत संघ के मध्य 'नाजी-सोवियत अनाक्रमण संधि' संपन्न हुई, जिसके अंतर्गत दोनों राष्ट्रों ने एक-दूसरे पर आक्रमण न करने का आश्वासन दिया तथा पूर्वी यूरोप को आपस में विभाजित करने की गुप्त योजना भी बनाई। इस संधि ने हिटलर को पोलैंड पर आक्रमण करने के लिए निर्भीक बना दिया।

फलस्वरूप, 1 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने 'ब्लिट्ज़क्रिग' (आकाशीय एवं तीव्र युद्ध रणनीति) का प्रयोग करते हुए पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। इसके प्रत्युत्तर में 3 सितम्बर 1939 को ब्रिटेन एवं फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, जिससे यह क्षेत्रीय संघर्ष एक व्यापक विश्व युद्ध में परिवर्तित हो गया।

इसी संदर्भ में इतिहासकार ए. जे. पी. टेलर का मत उल्लेखनीय है कि "पोलैंड पर जर्मनी का आक्रमण द्वितीय विश्व युद्ध का प्रत्यक्ष आरंभ था, जिसने यूरोप को पूर्णतः युद्ध की स्थिति में पहुँचा दिया।"

अतः, पोलैंड पर जर्मनी का आक्रमण द्वितीय विश्व युद्ध का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ, जिसने लंबे समय से विकसित हो रहे तनावों को एक निर्णायक युद्ध में परिवर्तित कर दिया।

5.5 द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव अत्यंत व्यापक एवं दूरगामी रहे, जिन्होंने विश्व की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं अंतर्राष्ट्रीय संरचना को मूल रूप से परिवर्तित कर दिया। यह युद्ध केवल एक सैन्य संघर्ष तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसके परिणामस्वरूप वैश्विक शक्ति संतुलन, आर्थिक व्यवस्थाएँ तथा सामाजिक संरचनाएँ गहराई से प्रभावित हुईं।

इस प्रकार, द्वितीय विश्व युद्ध के पूरे विश्व पर व्यापक प्रभाव देखने को मिले हैं, जिन्हें हम निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समझने का प्रयत्न करेंगे—राजनीतिक प्रभाव, आर्थिक प्रभाव, सामाजिक एवं मानवीय प्रभाव, अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव तथा मनोवैज्ञानिक एवं वैचारिक प्रभाव।

इसी परिप्रेक्ष्य में, इस युद्ध के राजनीतिक प्रभावों के रूप में यूरोप की पारंपरिक शक्तियाँ—ब्रिटेन एवं फ्रांस—का पतन हुआ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ दो महाशक्तियों के रूप में उभरकर सामने आए। फलस्वरूप, विश्व की शक्ति-संरचना द्विध्रुवीय स्वरूप में परिवर्तित हो गई, जिसमें एक ओर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दूसरी ओर सोवियत संघ प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे, जिसने आगे चलकर शीत युद्ध की स्थिति को जन्म दिया।

इसी क्रम में, आर्थिक दृष्टि से यह युद्ध अत्यंत विनाशकारी सिद्ध हुआ। यूरोप के अधिकांश देश आर्थिक रूप से कमजोर हो गए, उद्योग-धंधे नष्ट हो गए तथा व्यापक स्तर पर बेरोजगारी एवं गरीबी बढ़ गई। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक रूप से सुदृढ़ होकर विश्व की प्रमुख आर्थिक शक्ति बन गया तथा उसने 'मार्शल योजना (1947)' के माध्यम से यूरोप के पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सामाजिक दृष्टि से भी द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव अत्यंत गंभीर रहे। इस युद्ध में करोड़ों लोगों की मृत्यु हुई तथा बड़ी संख्या में लोग विस्थापित हो गए। विशेष रूप से यहूदियों के विरुद्ध नाजी शासन द्वारा किए गए नरसंहार (होलोकॉस्ट) ने मानवता को गहरा आघात पहुँचाया, जिससे मानवाधिकारों की सुरक्षा की आवश्यकता को वैश्विक स्तर पर स्वीकार किया गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थायी शांति स्थापित करने के उद्देश्य से 1945 में संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य विश्व शांति एवं सहयोग को बनाए रखना था। इसके अतिरिक्त, उपनिवेशवाद के अंत की प्रक्रिया भी तेज हुई, जिसके परिणामस्वरूप एशिया एवं अफ्रीका के अनेक देशों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

फलस्वरूप, द्वितीय विश्व युद्ध ने विश्व व्यवस्था को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया तथा एक नए युग की शुरुआत की, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति, शक्ति संतुलन एवं वैश्विक राजनीति का स्वरूप बदल गया।

अतः, द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव न केवल तत्कालीन समय तक सीमित रहे, बल्कि उन्होंने आधुनिक विश्व की संरचना को भी गहराई से प्रभावित किया, जिसके परिणाम आज भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

5.5.1 राजनीतिक प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के राजनीतिक प्रभाव अत्यंत व्यापक एवं दूरगामी रहे, जिन्होंने विश्व की शक्ति-संरचना तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को मूल रूप से परिवर्तित कर दिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप की पारंपरिक शक्तियाँ—ब्रिटेन एवं फ्रांस—राजनीतिक रूप से कमजोर हो गईं, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ दो प्रमुख महाशक्तियों के रूप में उभरकर सामने आए।

इसी परिप्रेक्ष्य में, युद्ध के उपरांत विश्व की शक्ति-संरचना द्विध्रुवीय स्वरूप में परिवर्तित हो गई, जिसमें एक ओर पूंजीवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला सोवियत संघ प्रमुख शक्ति के रूप में स्थापित हुआ। फलस्वरूप, इन दोनों महाशक्तियों के मध्य वैचारिक प्रतिस्पर्धा एवं राजनीतिक तनाव बढ़ा, जिसने आगे चलकर शीत युद्ध की स्थिति को जन्म दिया।

इसी क्रम में, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात स्थायी शांति एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1945 में संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना की गई, जिसने वैश्विक राजनीति में एक नई संस्थागत व्यवस्था को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप में अनेक नए राजनीतिक परिवर्तन भी हुए, जैसे जर्मनी का विभाजन तथा पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना।

फलस्वरूप, द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल विश्व की राजनीतिक शक्तियों के संतुलन को परिवर्तित किया, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की दिशा एवं प्रकृति को भी नए सिरे से परिभाषित किया।

अतः, यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के राजनीतिक प्रभावों ने आधुनिक विश्व व्यवस्था के निर्माण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसने वैश्विक राजनीति को दीर्घकालिक रूप से प्रभावित किया।

5.5.2 आर्थिक प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के आर्थिक प्रभाव अत्यंत व्यापक एवं विनाशकारी रहे, जिन्होंने विश्व की अर्थव्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप विशेषतः यूरोप के देशों की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई, क्योंकि युद्ध के दौरान उनके उद्योग-धंधे, परिवहन व्यवस्था एवं आधारभूत संरचनाएँ व्यापक रूप से नष्ट हो गई थीं।

इसी परिप्रेक्ष्य में, अनुमानतः इस युद्ध में करोड़ों डॉलर की संपत्ति का विनाश हुआ तथा अनेक देशों की अर्थव्यवस्था पूर्णतः चरमरा गई। उद्योग उत्पादन में भारी गिरावट आई, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बाधित हुआ तथा बेरोजगारी एवं गरीबी की समस्या व्यापक रूप से फैल गई।

इसी क्रम में, इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक दृष्टि से अत्यंत सुदृढ़ होकर उभरा। युद्ध के दौरान उसके औद्योगिक उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई तथा वह विश्व का प्रमुख ऋणदाता राष्ट्र बन गया। 1947 में अमेरिका द्वारा 'मार्शल योजना' प्रारंभ की गई, जिसके अंतर्गत यूरोप के पुनर्निर्माण हेतु लगभग 13 अरब डॉलर की आर्थिक सहायता प्रदान की गई, जिससे यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था को पुनः सशक्त बनाने में सहायता मिली।

इसी प्रकार, इस युद्ध के परिणामस्वरूप विश्व अर्थव्यवस्था में भी संरचनात्मक परिवर्तन हुए। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1944 में ब्रेटन वुड्स सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक जैसी संस्थाओं की स्थापना की गई, जिन्होंने वैश्विक आर्थिक स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

फलस्वरूप, द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल वैश्विक आर्थिक ढांचे को पुनर्गठित किया, बल्कि आर्थिक शक्ति संतुलन को भी परिवर्तित कर दिया, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रमुख आर्थिक महाशक्ति के रूप में स्थापित हुआ।

अतः, यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के आर्थिक प्रभावों ने आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था की दिशा एवं संरचना को गहराई से प्रभावित किया, जिसके परिणाम आज भी वैश्विक आर्थिक व्यवस्था में परिलक्षित होते हैं।

5.5.3 सामाजिक एवं मानवीय प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के सामाजिक एवं मानवीय प्रभाव अत्यंत व्यापक एवं हृदयविदारक रहे, जिन्होंने मानव समाज को गहराई से प्रभावित किया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप अभूतपूर्व स्तर पर जन-धन की हानि हुई तथा विश्व के अनेक भागों में सामाजिक संरचनाएँ पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो गईं।

इसी परिप्रेक्ष्य में, अनुमानतः इस युद्ध में लगभग 6 से 7 करोड़ लोगों की मृत्यु हुई, जिनमें बड़ी संख्या में निर्दोष नागरिक भी शामिल थे। इसके अतिरिक्त, करोड़ों लोग घायल हुए तथा लाखों लोग बेघर होकर शरणार्थी बनने को विवश हुए। फलस्वरूप, अनेक देशों में सामाजिक अस्थिरता एवं मानवीय संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई।

इसी क्रम में, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाजी जर्मनी द्वारा यहूदियों के विरुद्ध किए गए नरसंहार, **जिसे 'होलोकॉस्ट'** के नाम से जाना जाता है, मानव इतिहास की सबसे भयावह घटनाओं में से एक है। अनुमानतः लगभग 60 लाख यहूदियों की निर्ममता से हत्या की गई, जिसने सम्पूर्ण विश्व को झकझोर कर रख दिया तथा मानवाधिकारों की सुरक्षा की आवश्यकता को वैश्विक स्तर पर स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया।

इसी प्रकार, इस युद्ध के परिणामस्वरूप महिलाओं की सामाजिक भूमिका में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। युद्ध के दौरान पुरुषों के मोर्चे पर जाने के कारण महिलाओं ने उद्योगों, कारखानों एवं अन्य क्षेत्रों में कार्य करना प्रारंभ किया, जिससे समाज में उनकी भूमिका एवं स्थिति में परिवर्तन आया।

फलस्वरूप, द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल मानव जीवन को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया, बल्कि सामाजिक संरचनाओं एवं मानवीय मूल्यों को भी गहराई से परिवर्तित कर दिया। इसी संदर्भ में इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम का मत उल्लेखनीय है कि "द्वितीय विश्व युद्ध ने मानवता को उसकी सीमाओं और संभावनाओं दोनों का कठोर अनुभव कराया।"

अतः, यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के सामाजिक एवं मानवीय प्रभाव अत्यंत गहरे एवं दीर्घकालिक रहे, जिन्होंने आधुनिक समाज की संरचना एवं मानवाधिकारों की अवधारणा को नई दिशा प्रदान की।

5.5.4 अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव अत्यंत व्यापक एवं दूरगामी रहे, जिन्होंने वैश्विक व्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति को मूल रूप से परिवर्तित कर दिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप विश्व स्तर पर स्थायी शांति, सहयोग एवं सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए नई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं का उदय हुआ।

इसी परिप्रेक्ष्य में, 1945 में संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना की गई, जिसका मुख्य उद्देश्य विश्व शांति बनाए रखना, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना तथा भविष्य में युद्धों को रोकना था। यह संस्था राष्ट्र संघ की कमियों को दूर करने के प्रयास के रूप में स्थापित की गई, जिसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नई संस्थागत संरचना प्रदान की।

इसी क्रम में, द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप उपनिवेशवाद के अंत की प्रक्रिया भी तीव्र हो गई। एशिया एवं अफ्रीका के अनेक देशों ने स्वतंत्रता प्राप्त की, जिससे एक नए वैश्विक राजनीतिक मानचित्र का निर्माण हुआ। भारत (1947), इंडोनेशिया (1949) तथा अनेक अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता इस परिवर्तन के प्रमुख उदाहरण हैं।

इसी प्रकार, युद्ध के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं मानवाधिकारों के संरक्षण पर विशेष बल दिया गया। 1948 में मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को स्वीकार किया गया, जिसने मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए एक वैश्विक मानक स्थापित किया।

फलस्वरूप, द्वितीय विश्व युद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को एक नई दिशा प्रदान की, जिसमें सहयोग, संस्थागत व्यवस्था एवं मानवाधिकारों को विशेष महत्व दिया गया। इसी संदर्भ में इतिहासकार क्विन्सी राइट का मत उल्लेखनीय है कि "द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय संबंध अधिक संगठित एवं संस्थागत रूप में विकसित हुए।"

अतः, यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के अंतर्राष्ट्रीय प्रभावों ने आधुनिक वैश्विक व्यवस्था के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसने विश्व राजनीति को स्थायित्व एवं दिशा प्रदान की।

5.5.5 मनोवैज्ञानिक एवं वैचारिक प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के मनोवैज्ञानिक एवं वैचारिक प्रभाव अत्यंत गहरे एवं दीर्घकालिक रहे, जिन्होंने मानव समाज की सोच, दृष्टिकोण तथा वैचारिक प्रवृत्तियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इस युद्ध ने मानवता को विनाश, भय एवं असुरक्षा की ऐसी अनुभूति कराई, जिसने लोगों के मन में स्थायी शांति एवं सह-अस्तित्व की आवश्यकता को और अधिक प्रबल बना दिया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, युद्ध के दौरान व्यापक विनाश, नरसंहार तथा परमाणु बम के प्रयोग ने मानव मानस पर गहरा प्रभाव डाला। विशेष रूप से 1945 में हिरोशिमा एवं नागासाकी पर गिराए गए परमाणु बमों ने मानवता को यह एहसास कराया कि आधुनिक युद्ध कितने विनाशकारी हो सकते हैं। फलस्वरूप, विश्व में शांति, निरस्त्रीकरण तथा युद्ध-विरोधी आंदोलनों को बल मिला।

इसी क्रम में, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात लोकतंत्र एवं मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता में भी वृद्धि हुई। नाजीवाद एवं फासीवाद जैसी सर्वसत्तावादी विचारधाराओं की पराजय के बाद विश्व में

लोकतांत्रिक मूल्यों एवं स्वतंत्रता के सिद्धांतों को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप, मानवाधिकारों की रक्षा एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा को वैश्विक स्तर पर स्वीकृति प्राप्त हुई।

इसी प्रकार, इस युद्ध ने वैचारिक स्तर पर भी विश्व को दो प्रमुख ध्रुवों—पूंजीवाद एवं साम्यवाद—में विभाजित कर दिया, जिससे वैचारिक संघर्ष की एक नई प्रवृत्ति विकसित हुई, जो आगे चलकर शीत युद्ध के रूप में सामने आई।

फलस्वरूप, द्वितीय विश्व युद्ध ने न केवल मानव मानस को गहराई से प्रभावित किया, बल्कि वैश्विक विचारधाराओं एवं मूल्यों को भी नई दिशा प्रदान की। इसी संदर्भ में इतिहासकार आर्नोल्ड टॉयनबी का मत उल्लेखनीय है कि "महायुद्धों ने मानवता को आत्ममंथन के लिए विवश किया और उसे नई वैचारिक दिशा प्रदान की।"

अतः, यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के मनोवैज्ञानिक एवं वैचारिक प्रभावों ने आधुनिक विश्व की सोच, मूल्यों एवं अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को गहराई से प्रभावित किया, जिसके परिणाम आज भी वैश्विक समाज में परिलक्षित होते हैं।

5.6 सारांश

इस प्रकार, द्वितीय विश्व युद्ध 20वीं शताब्दी की एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं विनाशकारी घटना के रूप में सामने आया, जिसके कारण एवं प्रभाव दोनों ही अत्यंत व्यापक एवं दूरगामी रहे। इस युद्ध की पृष्ठभूमि में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात उत्पन्न परिस्थितियाँ, विशेषतः वर्साय की संधि की कठोरता, राष्ट्र संघ की विफलता तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक सुरक्षा के पतन जैसे कारक प्रमुख रूप से उत्तरदायी रहे।

इसी क्रम में, तुष्टिकरण की नीति, सर्वसत्तावादी शक्तियों का उत्कर्ष, निःशस्त्रीकरण की असफलता, आर्थिक संकट, साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ तथा अल्पसंख्यक जातियों की समस्या ने इस युद्ध की परिस्थितियों को और अधिक जटिल एवं तीव्र बना दिया। अंततः, 1939 में जर्मनी द्वारा पोलैंड पर आक्रमण ने इस युद्ध को प्रत्यक्ष रूप से प्रारंभ कर दिया।

फलस्वरूप, इस युद्ध के प्रभावों ने विश्व व्यवस्था को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। राजनीतिक दृष्टि से विश्व द्विध्रुवीय शक्ति-संरचना में विभाजित हो गया, आर्थिक रूप से यूरोप कमजोर हुआ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रमुख आर्थिक शक्ति के रूप में उभरा। सामाजिक एवं मानवीय स्तर पर व्यापक जन-धन की हानि हुई तथा मानवाधिकारों के संरक्षण की आवश्यकता को वैश्विक स्तर पर स्वीकार किया गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना हुई तथा उपनिवेशवाद के अंत की प्रक्रिया को गति मिली। साथ ही, इस युद्ध ने मानव समाज की सोच एवं वैचारिक प्रवृत्तियों को भी गहराई से प्रभावित किया, जिससे शांति, सहयोग एवं सह-अस्तित्व की भावना को बल मिला।

अतः, यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों एवं प्रभावों का अध्ययन न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति एवं प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

5.7 अभ्यास प्रश्न

1.वर्साय की संधि (1919) का मुख्य उद्देश्य क्या था?

(A) जर्मनी को मजबूत बनाना

(B) विश्व शांति स्थापित करना

(C) जर्मनी को दंडित करना

(D) राष्ट्र संघ को समाप्त करना

2. 'युद्ध दोष धारा' (War Guilt Clause) किस संधि से संबंधित है?

(A) वर्साय की संधि

(B) पेरिस संधि

(C) म्यूनिख समझौता

(D) जेनेवा सम्मेलन

3. सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत किस संस्था से संबंधित था?

(A) संयुक्त राष्ट्र संघ

(B) राष्ट्र संघ

(C) नाटो

(D) वारसा संधि

4. तुष्टिकरण की नीति मुख्यतः किन देशों द्वारा अपनाई गई थी?

(A) जर्मनी एवं इटली

(B) ब्रिटेन एवं फ्रांस

(C) अमेरिका एवं सोवियत संघ

(D) जापान एवं चीन

5. 1932 का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन कहाँ आयोजित हुआ था?

(A) पेरिस

(B) जिनेवा

(C) लंदन

(D) बर्लिन

5.8 शब्दावली

1.वर्साय की संधि (Treaty of Versailles):

1919 में संपन्न वह संधि जिसके अंतर्गत जर्मनी पर कठोर एवं दंडात्मक शर्तें लगाई गईं, जिससे उसमें असंतोष एवं प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई।

2.सामूहिक सुरक्षा (Collective Security):

वह सिद्धांत जिसके अनुसार किसी एक राष्ट्र पर आक्रमण को सभी राष्ट्रों पर आक्रमण माना जाता है और सामूहिक रूप से उसका प्रतिरोध किया जाता है।

3.तुष्टिकरण की नीति (Appeasement Policy):

आक्रामक राष्ट्रों की मांगों को स्वीकार कर युद्ध टालने की नीति, जिसे विशेषतः ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा अपनाया गया।

4.सर्वसत्तावाद (Totalitarianism):

ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें राज्य का पूर्ण नियंत्रण समाज, राजनीति एवं अर्थव्यवस्था पर होता है, जैसे नाजीवाद एवं फासीवाद।

5.नि:शस्त्रीकरण (Disarmament):

राष्ट्रों द्वारा अपनी सैन्य शक्ति एवं हथियारों को सीमित करने का प्रयास, जिससे युद्ध की संभावना कम हो।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(C), 2.(A), 3.(B), 4.(B), 5.(B)

5.9 संदर्भ सूची

Heywood, Andrew (2011), Global Politics, Palgrave Macmillan, Hampshire, England.

Baylis, John; Steve Smith (2004), The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations, Oxford University Press.

फाडिया, बी.एल. (2010), अंतर्राष्ट्रीय राजनीति: सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे, साहित्य भवन पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

चतुर्वेदी, बी.आर. (2007), अंतर्राष्ट्रीय राजनीति: सिद्धांत एवं व्यवहार, न्यू एकेडमिक पब्लिशिंग कंपनी, जालंधर।

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए।

2.वर्साय की संधि की कठोरता किस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध का प्रमुख कारण बनी? स्पष्ट कीजिए।

3.सामूहिक सुरक्षा के पतन एवं राष्ट्र संघ की विफलता का द्वितीय विश्व युद्ध के संदर्भ में विश्लेषण कीजिए।

4.तुष्टिकरण की नीति की व्याख्या करते हुए इसके प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए।

5.सर्वसत्तावादी शक्तियों के उत्कर्ष एवं उनकी महत्वाकांक्षाओं ने द्वितीय विश्व युद्ध को किस प्रकार प्रभावित किया?

6.द्वितीय विश्व युद्ध के राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

इकाई-6 गुट निरपेक्षता: अर्थ, उद्देश्य, विशेषताएँ, प्रासंगिकता

इकाई संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 गुटनिरपेक्षता का अर्थ एवं परिभाषा

6.4 गुटनिरपेक्षता के तत्व

6.5 गुटनिरपेक्षता की विशेषतायें

6.6 गुटनिरपेक्षता को अपनाने के कारण

6.7 भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के विकास के विभिन्न चरण

6.8 गुटनिरपेक्ष सम्मेलन

6.9 गुट-निरपेक्ष आंदोलन की उपलब्धियाँ

6.10 गुट-निरपेक्षता की प्रासंगिकता

6.11 आत्म-मूल्यांकन हेतु अभ्यास-वस्तुनिष्ठ प्रश्न

6.12 सारांश

6.13 शब्दावली

6.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.15 निबंधात्मक प्रश्न

6.16 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त द्विधुरवीय विश्व-व्यवस्था का जन्म और शीतयुद्ध की आग उगलती दुनिया में एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों को बड़ी पीड़ा हुई क्योंकि दोनों महाशक्तियां नवोदित राष्ट्रों को अपने-अपने खेमे में संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी विश्व और सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी विश्व, घसीटना एवं स्वहित में उनका प्रयोग करना चाहती थीं। अतः नवोदित राष्ट्रों के समक्ष अपनी स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता को बनाये रखना ज्वलन्त महत्त्व का प्रश्न था और उनकी पीड़ा स्वाभाविक थी। अस्तु उन्होंने अपने राष्ट्रीय हित में गुटों से अलग रहने की विदेशनीति - गुटनिरपेक्षता का वरण किया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण आयाम है और यह भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं में से एक रहा है। भारतीय विदेश नीति के मूल सिद्धांत के रूप में गुटनिरपेक्षता का अर्थ है - विभिन्न शक्ति गुटों से समान और सिद्धांतगत दूरी बनाए रखना, सभी देशों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध रखना, किसी भी सैन्य गठबंधन का हिस्सा न बनना तथा स्वतंत्र विदेश नीति का अनुसरण करना। सामान्यतः यह माना जाता है कि गुटनिरपेक्षता की नीति का उद्भव शीत युद्ध की राजनीतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ, जिसकी शुरुआत द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद हो गई थी।

इस नीति के विकास में भारत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है और आज भी वह इस आन्दोलन के प्रमुख देशों में शामिल है। जब गुटनिरपेक्षता को महत्व दिया जा रहा था, उस समय विश्व शीत युद्ध के प्रभाव में था और दो प्रमुख शक्ति गुटों-संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ,में विभाजित हो चुका था। एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी यूरोप और दक्षिण-पूर्व एशिया के कई देश शामिल थे, जबकि दूसरी ओर सोवियत संघ के साथ पूर्वी यूरोप और चीन जुड़े हुए थे।

इसी समय भारत सहित अनेक विकासशील देश राष्ट्र-निर्माण और आर्थिक विकास के उपयुक्त मॉडल की तलाश में थे। ऐसे में किसी एक गुट से जुड़ने का अर्थ दूसरे गुट की सहायता से वंचित होना था। इसलिए इन नवस्वतंत्र देशों ने दोनों गुटों से समान दूरी बनाए रखते हुए, दोनों से सहयोग प्राप्त कर अपने विकास को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। इस संदर्भ में गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाना एक व्यावहारिक और उपयुक्त विकल्प सिद्ध हुआ।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम गुटनिरपेक्षता की अवधारणा, उसके अर्थ तथा उन प्रमुख कारणों का अध्ययन करेंगे, जिनसे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का जन्म हुआ। वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है कि विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता कितनी प्रासंगिक है? इस इकाई के अध्ययन के बाद हम-

- गुटनिरपेक्षता की अवधारणा और उसकी प्रमुख विशेषताओं को समझ सकेगे।
- भारतीय विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता के अर्थ, विशेषताओं और महत्व को स्पष्ट रूप से जान सकेंगे।
- विभिन्न समय अवधियों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के विकास और उसके कार्यान्वयन की प्रक्रिया को समझ पाएंगे।
- हम उत्तर-शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्षता की नीति की प्रासंगिकता का विश्लेषण करने में सक्षम हो सकेंगे।

6.3 गुटनिरपेक्षता का अर्थ एवं परिभाषा

गुटनिरपेक्षता के अर्थ पर विद्वानों में प्रारम्भ से ही मतभेद है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि असंलग्नता तटस्थता है। असंलग्नता और तटस्थता में मौलिक अन्तर है। तटस्थता एक निषेधात्मक दृष्टिकोण है जिसे एक राष्ट्र जो युद्ध नहीं कर रहा है युद्धरत देशों के प्रति अपनाता है परन्तु यह आवश्यक है कि युद्धरत राष्ट्र इस तीसरे राष्ट्र की निष्पक्षता की स्थिति को मान्यता प्रदान करें जिसके फलस्वरूप युद्धरत राष्ट्र तथा निष्पक्ष राष्ट्र के बीच अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं। इसके विपरीत असंलग्नता एक सकारात्मक दृष्टिकोण है। वस्तुतः असंलग्नता शीत युद्ध से स्वयं को अलग रखने एवं विश्व समस्याओं पर सकारात्मक तथा स्वतंत्र ढंग से विचार करने की नीति है। गुटनिरपेक्षता के शिल्पी पं. नेहरू ने स्पष्ट कहा है कि-

''जब हम कहते हैं कि हमारी नीति असंलग्नता की है स्पष्टतया हमारा अभिप्राय सैनिक गुटों के साथ असंलग्नता से हैं। यह एक नकारात्मक नीति नहीं है। यह एक सकारात्मक, एक निश्चित और मैं आशा करता हूं एक गतिशील नीति है लेकिन जैसा कि आज सैनिक गुट है और शीत युद्ध से चिन्तित है हम अपने को किसी गुट में शामिल नहीं करते............ वह स्वयं में हमारे सर्वोत्तम निर्णयों के अनुसार कार्य करने तथा हमारे प्रमुख उद्देश्यों और आदर्शों को आगे बढ़ाने की नीति हो सकती है।''

श्रीमती इन्दिरा गांधी के शब्दों में-

''गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय न असम्बद्धता है, न तटस्थता है। यह हमारी निर्णय लेने तथा कार्य करने की आज़ादी का दावा था और है। हमने किसी भी बड़े विवाद के समय अपने दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने में अथवा उचित मामलों का पक्ष लेने में हिचकिचाहट महसूस नहीं की।''

जार्ज लिस्का के शब्दों में-

''किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है कौन गलत है, किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है। किन्तु असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत में भेद करना तथा सदैव सही नीति का समर्थन करना।''

6.4 गुटनिरपेक्षता के तत्व

वास्तव में गुटनिरपेक्षता का स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी में सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बंधना, हर प्रकार की आक्रामक सन्धि से दूर रहना, शीत युद्ध से पृथक रहना और राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेशनीति का संचालन करना। 1961 में गुट निरपेक्षता के कर्णधारों नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके पाँच आधार अथवा तत्व स्वीकार किये थे।

1. सदस्य देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो।

2. सदस्य देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो।

3. सदस्य देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो।

4. सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो।

5. सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की इजाज़त न दी हो।

6.5 गुटनिरपेक्षता की विशेषतायें

संक्षेप में गुटनिरपेक्षता की विशेषताएं निम्नलिखित है-

6.5.1 सकारात्मक, गतिशील एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण- असंलग्नता की प्रमुख विशेषता उसका सकारात्मक, गतिशील एवं विश्व समस्याओं पर स्वतन्त्र ढंग से व्यवहार करने की सुस्पष्ट नीति है। 13 अक्टूबर 1949 को संयुक्त राज्य कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए भारतीय प्रधानमंत्री पं. नेहरू के यह शब्द इसी विशिष्टता के द्योतक है। उन्हीं के शब्दों में, ''जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उत्पन्न हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहां आक्रमण किया गया हो वहां न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेंगें।''

6.5.2 उपनिवेशवाद का विरोध- गुटनिरपेक्षता सभी प्रकार के उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद की प्रबल विरोधी है। इस नीति के अनुयायी एशिया एवं अफ्रीका के नव स्वतन्त्रता प्राप्त देश साम्राज्यवादी पश्चिमी देशों के उपनिवेश रह चुके हैं। वे पराधीनता के अभिशाप तथा शोषण के दुष्परिणामों को अच्छी तरह भोग चुके हैं। अतः उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में तथा सभी अन्तर्राष्ट्रीय

संगठनों व सम्मेलनों में पश्चिमी शक्तियों के साम्राज्यवाद की कड़ी निन्दा करते हुए पराधीन देशों को स्वतन्त्र बनाने पर बल दिया है। बेलग्रेड के प्रथम सम्मेलन 1961 में पं. जवाहर लाल नेहरू ने उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवादियों के चंगुल में जकड़े विश्व के भागों को उनके चंगुल से मुक्त कराने एवं अपने स्वतन्त्र समाज के निर्माण को अपना सकारात्मक लक्ष्य घोषित किया था। कालान्तर में जिसमें सफलता भी मिली। अब तो वर्तमान में प्रवृत्ति यह है कि जो भी राष्ट्र दासता की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्र के रूप में उदित हो रहे हैं। वे अधिकांश गुटनिरपेक्ष नीति को ही अपनाना अधिक अच्छा समझते हैं। नवे गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में भारतीय प्रधामंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने गुटनिरपेक्ष देशों के दिल्ली सम्मेलन में स्पष्ट रूप से कहा था, ''हमारा आन्दोलन एक ढांचा का रूप ले चुका है, इसके अपने सिद्धान्त है और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह कट्टरतावादी नहीं गतिशील है, यह आधारभूत परिवर्तनों का प्रयास करते हुए एक बड़ा आन्दोलन है। आत्म निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए हमारे आन्दोलन ने आधे से अधिक विश्व को दासता से मुक्त कराया है जो कि औपनिवेशिक दासता में जकड़ा था। हम शेष के लिए अनवरत संघर्षरत है।''

6.5.3 निःशस्त्रीकरण- दोनों महाशक्तियों के मध्य आणविक हथियारों के निर्माण की होड़ से जानलेवा प्रतिद्विन्दिता का समारम्भ हुआ और सम्पूर्ण मानवता के विनाश की सम्भावना बलवती हो उठी। इस सम्भावित खतरे से बचने का सर्वोत्तम उपाय ऐसे हथियारों पर पाबन्दी लगाना और निःशस्त्रीकरण की एक प्रभावशाली योजना द्वारा शस्त्रों को कम करना है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन प्रारम्भ से ही इस बात पर बल देता रहा है और बेलग्रेड सम्मेलन में ''युद्ध के खतरे पर शान्ति की अपील का बयान'' विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी और सोवियत नेता निकिता खुश्चेव को सम्बोधित करते हुए जारी किया गया था। अपील में ''आसन्न टकराव'' और ''हाल की युद्ध तैयारियों का सन्दर्भ देते हुए दोनों महाशक्तियों को युद्ध टालने हेतु अत्याधिक तात्कालिक और प्रत्यक्ष उपागमों को अपनाने को कहा गया था। कालान्तर में मार्च 1983 में नई दिल्ली में सम्पन्न हुए सातवें शिखर सम्मेलन के राजनीतिक घोषणा-पत्र में माँग की गई थी। ''सामान्य तथा पूर्ण निःशस्त्रीकरण को प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न करने वाला कार्यक्रम शीघ्र चलाया जाना चाहिए। आर्थिक शक्तियों को, आणविक आयुधों को रोकने के लिए, अत्यावश्यक व्यवहारिक पग उठाने चाहिए तथा ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करने के लिए सहमत होना चाहिए जिसके अनुसार आणविक आयुधों के प्रयोग अथवा इनके प्रयोग की धमकी किसी भी दशा में देने पर पाबन्दी लगाई जाए और आणविक हथियारों के उत्पादन तथा फैलाव को रोका जाए।''

6.5.4 विकास- सदियों के औपनिवेशिक शोषण के कारण गुटनिरपेक्ष देशों का आर्थिक तन्त्र सामान्यतया जर्जर है। यह घोर दरिद्रता, बेकारी, भुखमरी और बेरोज़गारी के शिकार है। अतः स्वयं आर्थिक विकास इनका चरम लक्ष्य है ताकि वे अपने प्रत्येक जनगण के जीवन-स्तर को समुन्नत कर सकें। 1989 में 3 से 7 सितम्बर तक बेलग्रेड में सम्पन्न नौवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में भी

विकास को चरम लक्ष्य माना गया और आर्थिक शोषण के खिलाफ आवाज़ बुलन्द की गई। इस सन्दर्भ में दिनमान की टिप्पणी ध्यातव्य है यथा ''नवें शिखर सम्मेलन में आर्थिक शोषण के खिलाफ आवाज़ बुलन्द की गई। जिस तरह से विकसित देश अवकिसित और विकासशील देशों के आर्थिक शोषण के खिलाफ नवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में आवाज़ बुलन्द की गई। प्रधानमंत्री राजीव गांधी, जाम्बिया के राष्ट्रपति कैनेय काउन्डा तथा ज़िम्बाब्वे के राष्ट्रपति मुगाबे ने खुले शब्दों में कहा कि- ''अब विकासशील देश अनिश्चित समय तक कर्ज के बोझ में दबे नहीं रह सकते हमारे कच्चे माल पर समृद्धि और सम्पन्नता का महल तैयार करने वाले विकसित और अमीर देशों को हमारी उन्नति और विकास में भी सहायक होना होगा।''

6.5.5 विश्व शान्ति का समर्थन- आर्थिक विकास के लिए शान्ति की महती आवश्यकता है क्योंकि युद्ध से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थतन्त्र क्षत-विक्षत हो जाता है, जनकल्याणकारी योजनाएँ ठप्प पड़ जाती हैं और राष्ट्र आर्थिक संकट की ज्वाला में झुलसने लगता है। द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त यूरोप में उत्पन्न आर्थिक संकट युद्ध का ही परिणाम था जबकि ब्रिटेन जैसी महाशक्ति भी अमेरिका की याचक बन गई। अतः गुटनिरपेक्षता की नीति के समर्थक विश्व शान्ति का समर्थन अपने आर्थिक विकास तथा अन्य कारणों से करते हैं। पं. जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही कहा है-

''यदि हम युद्ध को प्रतिबन्धित नहीं करते तो अन्य समस्याओं का सक्षम सामना नहीं कर सकेगंे और यदि हम युद्ध को प्रतिबन्धित कर सकते है तो अन्य समस्याओं पर ध्यान दे सकेगें यथा विश्व के विभिन्न क्षेत्रों को औपनिवेशिक साम्राज्यवादी शासन से मुक्त कराना और अपने निजी समाजों का निर्माण करना जो गुट निरपेक्ष आन्दोलन का लक्ष्य है।''

6.5.6 सैनिक गुटबन्दियों का विरोध- गुटों की राजनीति में अविश्वास के कारण गुटनिरपेक्षता इसे उत्पन्न करने वाली सैनिक सन्धियों की भी विरोधी है। 7 सितम्बर 1946 को भारत की अन्तरिम सरकार के अध्यक्ष की हैसियत से पं. जवाहर लाल नेहरू ने एक रेडियो प्रसारण में स्पष्ट किया था-

''हम चाहते हैं कि एक-दूसरे के खिलाफ गुटबाज़ी से हम यथासम्भव अलग रहे। इस (खेमेबन्दी) के कारण ही अतीत में विश्व युद्ध हुए हैं और भविष्य में बड़े पैमाने पर विपत्ति आ सकती है।''

उसी वर्ष 13 दिसम्बर को नेहरू ने कहा था कि-

''हम सभी देशों से मैत्री चाहते है । निर्गुट होने का मतलब अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उपेक्षा नहीं है। इसका मतलब है स्वतन्त्र विदेश-नीति का वास्तव में गुटनिरपेक्षता का शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की संकल्पना में विश्वास और वे इस सन्दर्भ में 'जीओ और जीने दो' की नीति पर बढ़ते हुए तनाव शैथिल्य के प्रबल पक्षधर है।''

6.5.7 संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन- शान्तिवादी होने के कारण गुटनिरपेक्षता विश्व शान्ति हेतु प्रतिबद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रबल समर्थक है। गुटनिरपेक्षता की नीति की यह दृढ़ मान्यता है कि दोनों महाशक्तियों के पारस्परिक विद्वेष से संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में व्यवधान पड़ा है। अतः इस प्रवृत्ति को समाप्त करना चाहिए ताकि विश्व संगठन अपना कार्य निष्पक्ष एवं कुशल ढंग से सम्पादित कर सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों में से 108 देश गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य हैं। अतः वे इस कार्य को अच्छे ढंग से कर सकते हैं। यद्यपि वे यह स्वीकार करते है कि असंलग्न राष्ट्र इस स्थिति में नहीं है कि वे स्वयं विश्व में परिवर्तन कर सकें लेकिन उनके बिना भी विश्व को आकार नहीं दिया जा सकता। वास्तव में वे संयुक्त राष्ट्र की सशक्त आवाज़ के रूप में उभर चुके हैं जिनकी उपेक्षा महाशक्तियों के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

6.6 गुटनिरपेक्षता को अपनाने के कारण

युद्धोत्तर काल में विभिन्न नव स्वतन्त्र राज्यों द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के अनेक कारण है जिनमें से कुछ प्रमुख कारणों का विश्लेषण निम्नवत् है-

6.6.1 स्वतन्त्रता के प्रति प्रतिबद्धता- नवोदित राष्ट्रों द्वारा असंलग्नता की विदेशनीति को अपनाने का प्रमुख कारण उनकी नव अर्जित स्वतन्त्रता को बनाये रखने की प्रतिबद्धता थी, यथा भारत जैसे राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए लगभग 90 वर्ष तक (1857 से 1947 तक) साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष किया था और इस काल में उसे काफी त्याग और बलिदान भी करना पड़ा। इतने प्रबल संघर्ष के पश्चात् प्राप्त होने वाली स्वतंत्रता का महत्त्व उसके लिए सर्वोपरि था। किसी महाशक्ति के नेतृत्व में किसी भी गठबन्धन में जाना उसके लिए कड़े संघर्ष के पश्चात् अर्जित स्वतन्त्रता को गिरवी रखने के समान था और ऐसा करना उसके लिए असम्भव था। भारत ने गुटो से अलग अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि रखने के लिए असंलग्नता की नीति का प्रतिपादन किया। श्रीमती इन्दिरा गांधी के सारगर्भित शब्दों में-

''हमारी पहली चिन्ता है अपनी आज़ादी के किसी भी तरह के क्षरण को रोकना। अतः हम किसी भी शक्ति के चाहे वह कितनी ही समृद्ध अथवा सबल क्यों न हो, के शिविर-अनुचर नहीं बन सकते।''

इसी तरह पं0 नेहरू ने भी इस तथय को स्वीकार किया था कि ''यह देश के आत्मगौरव के लिए घातक था और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला था क्योंकि सैनिक सन्धि में आबद्ध हो जाने के बाद हम किसी प्रश्न पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की सामथर्य खो बैठते हैं। हमें हमेशा उन महाशक्तियों के हितों का ध्यान रखना पड़ता है; उनकी कठपुतली बनकर उनके इशारों पर नाचना पड़ता है, उसके आदेशों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार हम राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन होते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की शक्ति गंवा बैठते हैं।''

6.6.2 आर्थिक विकास की महत्त्वाकांक्षा- असंलग्नता की विदेशनीति को अपनाने का द्वितीय कारण अल्प विकसित राष्ट्रों द्वारा अपने आर्थिक विकास की महत्त्वकांक्षा है। उनकी रूचि शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता से बचकर आर्थिक पुनर्निमाण की अधिक है और केवल गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाकर यह देश विश्व के विरोधी गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

पं0 जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही कहा है-

''अन्ततोगत्वा विदेश नीति आर्थिक नीति का ही प्रतिफल है।'' अतः दोनों महाशक्तियों और प्रगति से भारत तभी लाभ उठा सकता था जब उसकी विदेशनीति असंलग्नता की हो।

6.6.3 शान्ति की आवश्यकता- किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए शान्ति की आवश्यकता होती है। गुटों की राजनीति शीत युद्ध की राजनीति होती है जो किसी भी समय उष्ण युद्ध में परिवर्तित हो सकती है। गुटनिरपेक्षता की विदेशनीति एक विशिष्ट शान्ति सेतु की तरह है जो गुटबन्दी को कमज़ोर, युद्ध को हतोत्साहित और शान्ति को प्रोत्साहित करती है। भारत का हवाला देते हुए माइकेल ब्रेशर ठीक ही लिखते हैं कि- ''युद्ध चाहे कहीं भी हो रहा हो, लाओस, कांगों, क्यूबा यह कहीं भी हो, खतरनाक होता है। इससे दोनों खेमों के बीच तनाव का स्तर बढ़ जाता है और गम्भीर युद्ध की सम्भावना बढ़ती है, आर्थिक विकास की सम्भावना धूमिल होती है और यह सब खतरे विश्व युद्ध के सर्वनाशक प्रभाव के अतिरिक्त है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ दबावों की अर्न्तक्रिया के फलस्वरूप भारतीय कम से कम गुटनिरपेक्षता या दोनों गुटों के बीच निष्क्रिय असंलग्नता की ओर प्रवृत्त होते हैं।

6.6.4 ऐतिहासिक अनुभव- असंलग्न राष्ट्रों का ऐतिहासिक अनुभव उपनिवेशवादियों और साम्राज्यवादियों द्वारा उनकी सम्प्रभुता एवं स्वतन्त्रता को कुचलकर अपने-अपने हित में उनके शोषण की कटु स्मृति से जुड़ा है। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्य यह अनुभव करते हैं कि यदि वे बड़े राष्ट्रों के साथ सैनिक सन्धियों में आबद्ध हो गए तो शोषक और शोषित राज्यों के सम्बन्धों का वही पुराना इतिहास दोहराया जायेगा। उदाहरणार्थ भारत की दार्शनिक तथा धार्मिक मान्यताएँ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओत-प्रोत रही हैं। अतः जब भी पश्चिमी शक्तियों या किसी भी महाशक्ति ने एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों की स्वतन्त्रता तथा सम्प्रभुत्व को कुचलने का प्रयास किया, भारत ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना की अभिव्यंजना करते हुए इसकी आलोचना की और जिससे असंलग्नता को बल मिला। 1989 में 3 से 7 सितम्बर तक बेलग्रेड में सम्पन्न नवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने भी स्वीकार किया कि 'जब तक विश्व में किसी भी किस्म के प्रभुत्व की भावना रहेगी, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का काम अधूरा रहेगा। हमें औपनिवेशिक, राजनीतिक और सैनिक प्रभुत्व के खिलाफ सतत् प्रयास करने हैं, साथ ही आर्थिक प्रभुत्व के हौवे को भी समाप्त करना है।

6.7 भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के विकास के विभिन्न चरण

भारतीय गुटनिरपेक्षता (Non-Alignment) का अर्थ केवल किसी सैन्य गुट से दूर रहना नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक और दूरदर्शी विदेश नीति थी, जिसका उद्देश्य था. राष्ट्रीय हितों की रक्षा, स्वतंत्र निर्णय क्षमता बनाए रखना, और विश्व शांति को बढ़ावा देना। बदलती वैश्विक परिस्थितियों के साथ इस नीति का स्वरूप भी निरंतर विकसित होता रहा। इसके विकास को निम्नलिखित चरणों में विस्तार से समझा जा सकता है ।

6.7.1- 1946-1954: प्रारंभिक निर्माण और वैचारिक आधार का चरण

यह समय भारतीय गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के जन्म और उसके सिद्धांतों के निर्धारण का काल था। 1946 में अंतरिम सरकार के गठन के बाद ही जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कर दिया था कि भारत किसी भी शक्ति-गुट का हिस्सा नहीं बनेगा और अपनी विदेश नीति को पूर्णतः स्वतंत्र रखेगा।

हालांकि, इस अवधि में भारत का झुकाव कुछ हद तक पश्चिमी देशों, विशेषकर अमेरिका और ब्रिटेन की ओर दिखाई देता है। इसके पीछे कई व्यावहारिक कारण थे। भारत की सैन्य संरचना और प्रशिक्षण पूरी तरह ब्रिटिश मॉडल पर आधारित था। रक्षा उपकरणों और तकनीक के लिए भारत की निर्भरता ब्रिटेन पर थी। प्रशासनिक व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली और राजनीतिक ढांचा पश्चिमी परंपराओं से प्रभावित था। भारत के प्रमुख व्यापारिक संबंध भी पश्चिमी देशों के साथ थे। उस समय सोवियत संघ की नीतियाँ विकासशील और गैर-साम्यवादी देशों के प्रति अनुकूल नहीं थीं। इन परिस्थितियों के बावजूद भारत ने संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया। उदाहरण स्वरूप- कोरिया संकट के दौरान भारत ने न तो पूरी तरह पश्चिम का समर्थन किया और न ही साम्यवादी गुट का, बल्कि मध्यस्थ की भूमिका निभाई, भारत ने 1949 में चीन को मान्यता देकर अपनी स्वतंत्र नीति का परिचय दिया। अमेरिका द्वारा प्रस्तावित सैन्य गुटों (SEATO) में शामिल होने से इंकार किया।

इस प्रकार, इस चरण में गुटनिरपेक्षता का मूल उद्देश्य था। स्वतंत्र विदेश नीति और वैश्विक संतुलन बनाए रखना।

6.7.2- 1954-1962: विस्तार, संस्थागत रूप और अंतरराष्ट्रीय नेतृत्व का चरण

इस काल में गुटनिरपेक्षता को न केवल सुदृढ़ किया गया, बल्कि इसे एक अंतरराष्ट्रीय आंदोलन का रूप भी मिला। 1954 में भारत और चीन के बीच पंचशील सिद्धांतों पर आधारित समझौता हुआ, जिसमें पारस्परिक सम्मान, आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जैसे सिद्धांत शामिल थे। 1955 में इंडोनेशिया के बांडुंग में एशिया और अफ्रीका के देशों का सम्मेलन हुआ, जिसने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाई और गुटनिरपेक्षता की नींव को मजबूत किया।

1961 में बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) का पहला शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ, जिससे यह एक संगठित वैश्विक मंच बन गया।

इस चरण में भारत ने विकासशील देशों के नेता के रूप में अपनी पहचान बनाई और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिक शक्ति के रूप में उभरा। भारत का प्रयास था कि विश्व में शांति, सहयोग और समानता का वातावरण स्थापित हो।

6.7.3- 1962-1971: संकट, आलोचना और यथार्थवादी दृष्टिकोण का चरण

1962 का भारत-चीन युद्ध गुटनिरपेक्ष नीति के लिए एक गंभीर परीक्षा साबित हुआ। इस युद्ध ने भारत की सुरक्षा तैयारियों की कमजोरियों को उजागर किया और विदेश नीति की आलोचना भी हुई। युद्ध के दौरान भारत ने अमेरिका से सैन्य सहायता प्राप्त की, जिससे आलोचकों ने गुटनिरपेक्षता पर प्रश्न उठाए, लेकिन भारत ने यह स्पष्ट किया कि गुटनिरपेक्षता का अर्थ यह नहीं है कि संकट के समय सहायता न ली जाए। सोवियत संघ ने इस युद्ध में तटस्थ रुख अपनाया और दोनों देशों को वार्ता द्वारा समाधान का सुझाव दिया। नेहरू के निधन के बाद लाल बहादुर शास्त्री ने इस नीति को दृढ़ता से जारी रखा-

1965 के भारत-पाक युद्ध में भारत ने सफलता प्राप्त की, अमेरिका और चीन ने पाकिस्तान का समर्थन किया, जबकि सोवियत संघ ने भारत की सहायता की। शास्त्री जी ने अमेरिका के दबाव के बावजूद वियतनाम युद्ध में समर्थन देने से इंकार किया। इस चरण ने यह सिद्ध किया कि गुटनिरपेक्षता एक लचीली और व्यावहारिक नीति है, जो राष्ट्रीय हितों के अनुरूप निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रदान करती है।

6.7.4- 1971-1990: परिपक्वता, सक्रियता और रणनीतिक संतुलन का चरण

यह काल भारतीय गुटनिरपेक्षता के सबसे प्रभावशाली और सक्रिय रूप का प्रतीक है। 1971 के भारत-पाक युद्ध के परिणामस्वरूप बांग्लादेश का निर्माण हुआ, जिसमें भारत की निर्णायक भूमिका रही। इसी समय भारत ने सोवियत संघ के साथ 20 वर्षीय मैत्री और सहयोग संधि की, जो सुरक्षा दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थी। इस संधि को गुटनिरपेक्षता के विरुद्ध नहीं माना गया, क्योंकि यह भारत की सुरक्षा आवश्यकताओं के अनुरूप थी।

अन्य महत्वपूर्ण पहल -जनता पार्टी सरकार ने "वास्तविक गुटनिरपेक्षता" पर जोर दिया, जिसका अर्थ था महाशक्तियों से समान दूरी बनाए रखना। भारत ने परमाणु अप्रसार संधि (NPT) पर हस्ताक्षर नहीं किए, जिससे उसकी स्वतंत्र नीति स्पष्ट हुई।1983 में भारत ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन के शिखर सम्मेलन की मेजबानी की। इस अवधि में भारत ने यह सिद्ध किया कि गुटनिरपेक्षता केवल आदर्शवादी नीति नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक और प्रभावी रणनीति है।

6.7.5- 1991 से वर्तमान पुनर्परिभाषा, परिवर्तन और नई प्रासंगिकता का चरण

1991 में सोवियत संघ के विघटन और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठने लगे। कुछ आलोचकों का मानना था कि गुटनिरपेक्षता केवल शीत युद्ध की उपज थी, इसलिए अब इसका महत्व समाप्त हो गया है। लेकिन भारत ने इसे नए वैश्विक संदर्भ में पुनर्परिभाषित किया। इस चरण की प्रमुख विशेषताएँ -

गुटनिरपेक्षता का फोकस राजनीतिक से आर्थिक मुद्दों की ओर स्थानांतरित हुआ। विकासशील देशों के बीच सहयोग (South & South Cooperation) पर जोर दिया गया ,वैश्विक असमानता, पर्यावरण संकट और ऊर्जा सुरक्षा जैसे मुद्दे प्रमुख बने, बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था का समर्थन किया गया, भारत ने विभिन्न अंतरराष्ट्रीय मंचों पर -समावेशी वैश्वीकरण, आतंकवाद के विरुद्ध वैश्विक सहयोग, पर्यावरण संरक्षण जैसे मुद्दों को प्रमुखता दी। इस प्रकार, गुटनिरपेक्षता आज भी भारत की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण स्तंभ बनी हुई है, भले ही इसका स्वरूप बदल गया हो।

6.8 गुट-निरपेक्ष सम्मेलन

गुट-निरपेक्षता की नीति विभिन्न अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से प्रकट हुई। अब तक आयोजित प्रमुख गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. प्रथम शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड), 1961

सितम्बर 1961 में यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें 25 देशों ने भाग लिया। इसके मुख्य निष्कर्ष निम्न थे-

महाशक्तियों से अपील की गई कि वे शीतयुद्ध के तनाव को कम करें, संवाद के माध्यम से समस्याओं का समाधान निकालें तथा निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास करें। वैश्विक शांति के लिए देशों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर करना आवश्यक बताया गया। प्रत्येक देश को अपनी शासन व्यवस्था चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए तथा किसी भी बाहरी शक्ति को उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति को समाप्त करने की मांग की गई। विश्वभर में सैन्य ठिकानों को समाप्त करने पर बल दिया गया। विभिन्न विचारधाराओं के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को विश्व शांति के लिए आवश्यक माना गया तथा संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों का सम्मान करने की बात कही गई। सभी प्रकार के साम्राज्यवाद को विश्व शांति के लिए बाधक माना गया।

इस सम्मेलन में सदस्य देशों के बीच मतभेद भी सामने आए। इंडोनेशिया के राष्ट्रपति डॉ. सुकर्णो ने उपनिवेशवाद को विश्व की प्रमुख समस्या बताया, जबकि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विश्व शांति को सर्वोच्च प्राथमिकता दी।

2. द्वितीय शिखर सम्मेलन (काहिरा), 1964

मिस्र की राजधानी काहिरा में 1964 में दूसरा शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें 47 देशों ने भाग लिया तथा 11 देशों ने पर्यवेक्षक के रूप में उपस्थिति दर्ज की। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य गुट-निरपेक्ष आंदोलन का विस्तार करना और अंतरराष्ट्रीय तनाव को कम करना था। सोवियत संघ ने इसके घोषणा-पत्र की सराहना करते हुए इसे शांति और सह-अस्तित्व के सिद्धांतों के अनुरूप बताया।

3. तृतीय शिखर सम्मेलन (लुसाका), 1970

जाम्बिया की राजधानी लुसाका में 1970 में तीसरा शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें 54 देशों ने भाग लिया और 9 देशों ने पर्यवेक्षक के रूप में हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए।

(1) विश्व के धनी और गरीब देशों के बीच बढ़ती असमानता की ओर ध्यान दिलाते हुए आर्थिक सुधारों तथा सुरक्षा से जुड़े उपायों को अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

(2) पारंपरिक उपनिवेशवाद के साथ-साथ नव-उपनिवेशवाद की भी निंदा की गई।

(3) गुट-निरपेक्ष देशों के लिए स्थायी संगठन और उसके मुख्यालय की स्थापना के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया, जिसमें भारत के कड़े विरोध की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

4. चतुर्थ शिखर सम्मेलन (अल्जीयर्स), 1973

4 से 8 सितम्बर 1973 तक अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में गुट-निरपेक्ष देशों का चौथा शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें 76 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में लीबिया और अल्जीरिया द्वारा गुट-निरपेक्षता की नई परिभाषा तय करने तथा इसके लिए एक औपचारिक संविधान बनाने के प्रस्ताव को खारिज कर दिया गया। सम्मेलन के अंत में जारी घोषणा-पत्र में पूर्व नीतियों की पुनः पुष्टि की गई और साथ ही दो महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विशेष बल दिया गया-

गुट-निरपेक्ष देशों के बीच आर्थिक, व्यापारिक और तकनीकी सहयोग को बढ़ावा देने की आवश्यकता।

विश्व की राजनीतिक और आर्थिक नीतियों के निर्माण में प्रभावी भूमिका निभाने के लिए इन देशों को संगठित होकर विकसित राष्ट्रों पर दबाव बनाना चाहिए।

5. पाँचवां गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (कोलम्बो), 1976

16 से 19 अगस्त 1976 तक श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में पाँचवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन के अंत में जारी घोषणा-पत्र में एक नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने, निरस्त्रीकरण को बढ़ावा देने तथा विकसित देशों के साथ परस्पर निर्भरता के सिद्धांत को अपनाने का आह्वान किया गया। राजनीतिक घोषणा-पत्र में 'तनाव शैथिल्य' शब्द के स्थान पर 'अंतरराष्ट्रीय तनाव में कमी' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया, जिसमें भारत के दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई। इस सम्मेलन में पिछले 15 वर्षों के परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया और यह निष्कर्ष निकाला गया कि गुट-निरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता लगातार बढ़ रही है। इसलिए सदस्य देशों का दायित्व है कि वे इसके मूल सिद्धांतों की रक्षा करें, इसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखें तथा इसकी एकता और अखंडता को सुदृढ़ करें। सम्मेलन में सदस्य देशों के बीच मजबूत एकता पर बल दिया गया और इसे समय की आवश्यकता बताया गया। साथ ही, गुट-निरपेक्ष देशों से अपेक्षा की गई कि वे विश्व की प्रगतिशील और शांतिप्रिय शक्तियों के साथ सहयोग जारी रखें। इस सम्मेलन में 100 से अधिक राष्ट्राध्यक्षों और शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। श्रीलंका की प्रधानमंत्री श्रीमती सिरिमावो भंडारनायके को सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

6. छठा गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (हवाना), 1979

3 से 9 सितम्बर 1979 के बीच क्यूबा की राजधानी हवाना में छठा गुट-निरपेक्ष सम्मेलन आयोजित किया गया। यह पहली बार था जब यह सम्मेलन किसी लैटिन अमेरिकी देश में हुआ। इसमें 92 सदस्य देशों के प्रतिनिधियों के साथ 29 अन्य देशों तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया।

यह सम्मेलन तनावपूर्ण वातावरण में शुरू हुआ, क्योंकि कई विवादित मुद्दे सामने थे - जैसे कम्पूचिया का प्रश्न, मिस्र-इजरायल संधि और पश्चिमी सहारा विवाद। इन मुद्दों ने आंदोलन में मतभेद और भविष्य को लेकर अनिश्चितता पैदा कर दी। इन विषयों पर गंभीर चर्चा हुई और अंततः कम्पूचिया के मुद्दे पर सहमति बन गई। सभी देशों ने इस बात को स्वीकार किया कि गुट-निरपेक्ष आंदोलन विश्व शांति, स्थिरता और अंतरराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने में एक स्वतंत्र और रचनात्मक भूमिका निभाता है। सम्मेलन के अंतिम घोषणा-पत्र में नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के

लिए प्रयास तेज करने पर बल दिया गया। विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु संवाद की नई प्रक्रिया शुरू करने का प्रस्ताव भी पारित किया गया। साथ ही, गुट-निरपेक्ष समाचार एजेंसियों के सहयोग को मजबूत करने पर जोर दिया गया। क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो को सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

7. सातवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (नई दिल्ली), 1983

यह सम्मेलन 7 से 12 मार्च 1983 तक भारत की राजधानी नई दिल्ली में आयोजित हुआ। इसमें 95 सदस्य देशों और 23 पर्यवेक्षक देशों ने भाग लिया तथा सदस्य संख्या बढ़कर 99 हो गई। सम्मेलन में एक आर्थिक घोषणा-पत्र पारित किया गया, जिसमें विकासशील देशों की समस्याओं के स्थायी समाधान हेतु नई आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया गया और अंतरराष्ट्रीय समुदाय से त्वरित कदम उठाने की अपील की गई। राजनीतिक घोषणा-पत्र में मध्य अमेरिका के देशों में बाहरी हस्तक्षेप की आलोचना की गई और कई लैटिन अमेरिकी देशों की समस्याओं का उल्लेख किया गया। इसमें साम्राज्यवाद की निंदा करते हुए विभिन्न देशों की संप्रभुता पर पड़ रहे प्रभावों को रेखांकित किया गया। अफगानिस्तान के मुद्दे पर भी यह कहा गया कि विदेशी सेनाओं की वापसी और शांतिपूर्ण समाधान आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों की सराहना की गई। इस सम्मेलन में भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को अध्यक्ष चुना गया।

8. आठवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (हरारे), 1986

1 से 6 सितम्बर 1986 तक जिम्बाब्वे की राजधानी हरारे में यह सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें 101 देशों के राष्ट्राध्यक्षों और शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, निरस्त्रीकरण, मानवाधिकार, अंतरराष्ट्रीय सहयोग, नामीबिया की स्वतंत्रता, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति तथा परमाणु परीक्षणों पर रोक जैसे विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई। जिम्बाब्वे के राष्ट्रपति रॉबर्ट मुगाबे को सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

9. नौवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड), 1989

सितम्बर 1989 में बेलग्रेड (पूर्व यूगोस्लाविया) में नौवाँ सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमें यह निर्णय लिया गया कि भारत की अध्यक्षता में स्थापित अफ्रीकी कोष को यथावत रखा जाएगा। नामीबिया की स्वतंत्रता के संदर्भ में एक समिति को निर्देश दिया गया कि वह चुनावों की निगरानी करे, ताकि कोई बाधा उत्पन्न न हो। सम्मेलन में विकासशील देशों के बीच सहयोग बढ़ाने और ”उत्तर-दक्षिण सहयोग“ की आवश्यकता पर बल दिया गया। साथ ही आत्मनिर्णय के अधिकार, उपनिवेशवाद के अंत, परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग, मादक पदार्थों पर नियंत्रण तथा रंगभेद के उन्मूलन जैसे मुद्दों को महत्व दिया गया। भारत के 'धरती रक्षा कोष' प्रस्ताव का भी समर्थन किया गया।

10. दसवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (जकार्ता), 1992

1 से 6 सितम्बर 1992 तक इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में दसवाँ सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें 108 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में बुरनेई, उज्बेकिस्तान और फिलीपींस को गुट-निरपेक्ष आंदोलन की पूर्ण सदस्यता प्रदान की गई। थाईलैंड, क्रोएशिया और आर्मेनिया को पर्यवेक्षक का दर्जा दिया गया, जबकि बोस्निया-हर्जेगोविना और स्लोवाकिया को अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया। चीन को विशेष रूप से एक पर्यवेक्षक के तौर पर बुलाया गया। इस सम्मेलन का उद्घाटन इंडोनेशिया के राष्ट्रपति जनरल सुहार्तो ने किया। इसमें 58 देशों के राष्ट्राध्यक्षों या शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। सम्मेलन में यह व्यापक सहमति बनी कि गुट-निरपेक्ष आंदोलन आज भी प्रासंगिक और आवश्यक है। 06 सितम्बर को सम्मेलन के समापन पर जो घोषणा-पत्र जारी हुआ, उसे ”जकार्ता घोषणा-पत्र“ कहा गया। इसमें आतंकवाद की कड़ी निंदा करते हुए उसे समाप्त करने का संकल्प लिया गया। साथ ही सदस्य देशों से आर्थिक मुद्दों को प्राथमिकता देने, अविकास के खिलाफ संघर्ष करने तथा बोस्निया-हर्जेगोविना में हो रहे नरसंहार को रोकने की अपील की गई। घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र के नेतृत्व में एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जाना चाहिए, जिसमें स्वतंत्रता संग्राम और आतंकवाद की स्पष्ट परिभाषा तय की जा सके। यूगोस्लाविया अपने विघटन के कारण इस सम्मेलन में शामिल नहीं हो सका।

11. ग्यारहवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (कार्टागेना), 1995

अक्टूबर 1995 में कोलंबिया के कार्टागेना शहर में गुट-निरपेक्ष देशों का ग्यारहवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें 113 देशों ने भाग लिया। कोलंबिया के राष्ट्रपति अर्नेस्टो सैम्पर पिजानो को इस आंदोलन का अध्यक्ष चुना गया। सम्मेलन के अंत में ”कोलंबिया आह्वान“ नामक चार पृष्ठों का एक घोषणा-पत्र जारी किया गया। इसमें विकासशील देशों के कर्ज को समाप्त करने, विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली में सुधार करने तथा उनमें विकासशील देशों को उचित प्रतिनिधित्व देने की मांग की गई। इसके अलावा निरस्त्रीकरण को बढ़ावा देने, गुट-निरपेक्ष आंदोलन में द्विपक्षीय विवादों को न उठाने, जी-7 देशों के साथ सहयोग बढ़ाकर विकसित और विकासशील देशों के बीच संवाद को सशक्त करने, अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ जनजागरूकता फैलाने तथा मादक पदार्थों की तस्करी पर रोक लगाने जैसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए गए। इस सम्मेलन का अधिकांश समय वैश्विक आर्थिक समस्याओं पर विचार-विमर्श में बीता, जिससे यह एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय सम्मेलन सिद्ध हुआ।

12. डरबन (दक्षिण अफ्रीका) 1998

02-03 सितंबर, यह शिखर सम्मेलन अपने समय और पारित प्रस्तावों के महत्व के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया। इसमें उत्तर-शीत युद्ध काल की नई चुनौतियों से निपटने के लिए रणनीतियाँ

तैयार करने पर विशेष ध्यान दिया गया। सदस्य देशों ने इस बात पर जोर दिया कि नई सहस्त्राब्दी में गुट-निरपेक्ष आंदोलन की पहचान, भूमिका, नीतियों और दृष्टिकोण को और व्यापक बनाने के अवसर खोजे जाएँ।

13. कुआलालम्पुर (मलेशिया), 2003

इस सम्मेलन में 116 सदस्य देशों के बीच कई मुद्दों पर मतभेद देखने को मिले। प्रमुख विवादित विषयों में इराक, उत्तर कोरिया और तथाकथित आतंकवाद शामिल थे। सम्मेलन में अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों को समझने तथा उनके समाधान पर विचार किया गया, जिसमें विशेष रूप से इराक में अमेरिका के हस्तक्षेप का मुद्दा प्रमुख रहा।

14. हवाना (क्यूबा), 2006

इस सम्मेलन में 118 देशों ने भाग लिया। इसमें देशों को ”अच्छे“ और ”बुरे“ वर्गों में बाँटने की नीति की आलोचना की गई। साथ ही, पूर्व-आक्रमण (pre-emptive strike) की नीति, जिसमें परमाणु हमले भी शामिल हो सकते हैं, की निंदा की गई। निरस्त्रीकरण के संदर्भ में यह माना गया कि परमाणु अप्रसार के प्रयास परमाणु निरस्त्रीकरण के समान महत्व के होने चाहिए। सम्मेलन में चरणबद्ध तरीके से परमाणु निरस्त्रीकरण के लिए एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का आह्वान भी किया गया।

15. शर्म अल-शेख (मिस्र), 2009

इस सम्मेलन में 118 सदस्य देशों ने भाग लिया। इसमें गुट-निरपेक्ष देशों के नेताओं ने परमाणु हथियारों के पूर्ण उन्मूलन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराई। विशेष रूप से मध्य पूर्व में परमाणु हथियार मुक्त क्षेत्र स्थापित करने के समर्थन पर जोर दिया गया। साथ ही शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु ऊर्जा के उपयोग को भी स्वीकार किया गया।

16. तेहरान (ईरान), 2012

इस शिखर सम्मेलन का विषय था- ”संयुक्त वैश्विक शासन के माध्यम से स्थायी शांति।“ इसके मुख्य दस्तावेज में शांति को केंद्रीय महत्व दिया गया। 120 प्रतिभागियों ने इस बात पर बल दिया कि वैश्विक शासन प्रणाली में बुनियादी परिवर्तन आवश्यक हैं। साथ ही विश्व में स्थायी शांति स्थापित करने के लिए सामूहिक नेतृत्व और सहयोग को अनिवार्य बताया गया तथा देशों से संघर्ष से बचने के लिए मिलकर कार्य करने का आह्वान किया गया।

भारतीय गुटनिरपेक्षता एक स्थिर नहीं, बल्कि एक गतिशील और विकासशील नीति रही है। यह समय, परिस्थिति और राष्ट्रीय हितों के अनुसार बदलती रही है।प्रारंभ में यह स्वतंत्रता और संतुलन

पर आधारित थी। मध्यकाल में यह अंतरराष्ट्रीय आंदोलन के रूप में विकसित हुई,संकट के समय इसने अपना लचीलापन सिद्ध किया और वर्तमान में यह वैश्विक आर्थिक और सामरिक मुद्दों पर केंद्रित हो गई है

17- गुटनिरपेक्ष आंदोलन का 17वां शिखर सम्मेलन- 17-18 सितंबर, 2016 को वेनेजुएला के मार्गरीटा द्वीप पर शांति, संप्रभुता और विकास के लिए एकजुटता विषय के तहत आयोजित किया गया था। वेनेजुएला ने ईरान से अध्यक्षता ग्रहण की और क्षेत्रीय उथल-पुथल के बीच आंदोलन को पुनर्जीवित करने, आतंकवाद की निंदा करने और दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत करने पर ध्यान केंद्रित किया। शिखर सम्मेलन ने वैश्विक मुद्दों, क्षेत्रीय संघर्षों और बहुपक्षवाद को मजबूत करने से संबंधित 21 अनुच्छेदों वाली एक अंतिम घोषणा जारी की। संप्रभुता, गैर-हस्तक्षेप, संयुक्त राष्ट्र सुधार (विशेष रूप से सुरक्षा परिषद) और मध्य पूर्व को सामूहिक विनाश के हथियारों से मुक्त क्षेत्र की स्थापना पर केंद्रित। भारत की भागीदारी उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी ने भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व किया और आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई, संयुक्त राष्ट्र सुधारों की आवश्यकता और सतत विकास पर जोर दिया। बैठक ने विकासशील देशों के लिए एक प्रमुख आवाज के रूप में 120 सदस्यीय आंदोलन (साथ ही 17 पर्यवेक्षक राष्ट्रों) के महत्व की पुष्टि की।

17वें शिखर सम्मेलन ने आंदोलन की स्थापना की 55वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में आयोजित समारोह के बीच इसके संस्थापक सिद्धांतों की पुनः पुष्टि करने का काम किया, जिसमें एक न्यायपूर्ण और समान विश्व व्यवस्था के निर्माण पर ध्यान केंद्रित किया गया।

18- गुटनिरपेक्ष आंदोलन का 18वां शिखर सम्मेलन- 25-26 अक्टूबर, 2019 को अजरबैजान के बाकू में राष्ट्रपति इल्हाम अलीयेव की अध्यक्षता में समकालीन विश्व की चुनौतियों का समन्वित और पर्याप्त जवाब सुनिश्चित करने के लिए बांडुंग सिद्धांतों को कायम रखना, विषय के तहत आयोजित किया गया था। प्रधानमंत्री की भागीदारी की परंपरा से हटकर, उपराष्ट्रपति वेंकैया नायडू ने भारत का प्रतिनिधित्व किया। बतौर भारतीय प्रतिनिधि उपराष्ट्रपति वेंकैया नायडू ने भाग लिया और भारत के सक्रिय राष्ट्रीय गठबंधन आयोग में भागीदारी से बहुसंरेखण की ओर बदलते ध्यान को रेखांकित किया। 2019 के शिखर सम्मेलन ने बांडुंग सिद्धांतों (2020) और एनएएम (2021) की 60वीं वर्षगांठ को चिह्नित किया। शिखर सम्मेलन में आतंकवाद, आर्थिक चुनौतियों और दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत करने की आवश्यकता पर चर्चा की गई। 18वां शिखर सम्मेलन एकध्रुवीय दुनिया में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) की प्रासंगिकता को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण था, जिस पर बहस होती रही है, खासकर भारत द्वारा अधिक रणनीतिक, स्वतंत्र विदेश नीति अपनाने के साथ।

19वां शिखर सम्मेलन, जो मूल रूप से 2022 में होने वाला था, कोविड-19 महामारी के कारण स्थगित कर दिया गया और बाद में आयोजित किया गया।

19- गुटनिरपेक्ष आंदोलन का 19वां शिखर सम्मेलन 15 से 20 जनवरी, 2024 तक युगांडा के कंपाला में 'साझा वैश्विक समृद्धि के लिए सहयोग को गहरा करना' विषय पर आयोजित किया गया था। युगांडा ने 2027 तक अजरबैजान से अध्यक्षता ग्रहण की, जिसमें वैश्विक दक्षिण के सहयोग को बढ़ावा देने, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों में सुधार करने और कंपाला घोषणा को अपनाने पर ध्यान केंद्रित किया गया, जिसमें गाजा में इजरायली सैन्य कार्रवाई की निंदा की गई थी।

भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व विदेश मंत्री डॉ. एस. जयशंकर ने किया, जिन्होंने गाजा में मानवीय सहायता की आवश्यकता और वैश्विक दक्षिण सहयोग को मजबूत करने पर जोर दिया। शिखर सम्मेलन में गाजा में युद्धविराम की वकालत करने, बहुपक्षवाद को मजबूत करने और आतंकवाद की निंदा करने वाला एक घोषणापत्र पारित किया गया। जलवायु परिवर्तन, महामारी के बाद आर्थिक सुधार और 120 सदस्य देशों के लिए खाद्य सुरक्षा पर केंद्रित चर्चाएँ हुईं। सदस्यों ने विकासशील देशों का बेहतर प्रतिनिधित्व करने के लिए संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद, आईएमएफ और विश्व बैंक के पुनर्गठन का आह्वान किया। 19वें शिखर सम्मेलन ने तटस्थता और राजनयिक सहयोग को बढ़ावा देने में युगांडा की भूमिका को मजबूत किया, जिसमें वैश्विक दक्षिण की आवाजों को बुलंद करने पर ध्यान केंद्रित किया गया।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का 20वां शिखर सम्मेलन उज्बेकिस्तान में आयोजित होने वाला है। गणतंत्र के विदेश मंत्री बख्तियार सैदोव के अनुसार, देश 2027 से 2029 तक आंदोलन का नेतृत्व करने का लक्ष्य रख रहा है।

अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय गुटनिरपेक्षता न केवल अतीत में प्रासंगिक थी, बल्कि आज भी बदलते विश्व में भारत की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण आधार बनी हुई है।

6.9 गुट-निरपेक्ष आंदोलन की उपलब्धियाँ

जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट किया था कि गुट-निरपेक्षता उनकी व्यक्तिगत देन नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें भारत की दार्शनिक परंपरा और सांस्कृतिक विरासत में निहित हैं। उन्होंने यह भी बताया कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम में इस नीति के तत्व पहले से मौजूद थे और अंतरराष्ट्रीय संबंधों के द्विध्रुवीय स्वरूप में भी इसकी झलक मिलती है। इसी प्रकार, अफगानिस्तान, मिस्र और इंडोनेशिया जैसे देशों ने भी अपनी प्राचीन परंपराओं में गुट-निरपेक्षता के तत्वों को पहचाना। साथ ही, नवस्वतंत्र देशों के लिए यह उनके राष्ट्रीय हित में था कि वे शीत युद्ध के दौर में किसी भी शक्ति-गुट का हिस्सा बनने से बचें।

गुट-निरपेक्षता को विश्व के आधे से अधिक देशों ने तीन दशकों से अधिक समय तक अपनाया। इन देशों ने मुख्य रूप से उपनिवेशवाद के अंत, आर्थिक प्रगति और गुटीय राजनीति से दूरी बनाए रखने पर जोर दिया। समय के साथ उनकी प्राथमिकताएँ बदलती रहीं। जैसे-जैसे उपनिवेश स्वतंत्र होते गए, उपनिवेशवाद के विरोध का महत्व घटता गया। नामीबिया की स्वतंत्रता के बाद यह मुद्दा लगभग समाप्त हो गया। दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला के सत्ता में आने के साथ रंगभेद नीति का अंत हुआ और यह विषय भी प्रमुख एजेंडा से हट गया। फिलिस्तीन समस्या का समाधान अभी तक नहीं हो पाया, हालांकि शांति प्रक्रिया जारी रही। उल्लेखनीय है कि इस मुद्दे का समाधान गुट-निरपेक्ष मंच से करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन की एक प्रमुख उपलब्धि यह रही कि इसने विश्व में तनाव कम करने वाली शक्तियों को प्रोत्साहित किया। लुन्देस्ताद के अनुसार, नए राष्ट्रों के उदय ने उन प्रवृत्तियों को मजबूत किया जो दोनों गुटों के बीच तनाव घटाना चाहती थीं। उपनिवेशवाद की आलोचना और नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग वास्तव में पश्चिमी देशों के विरुद्ध थी, क्योंकि वे उपनिवेशवाद के समर्थक थे और वैश्विक अर्थव्यवस्था पर उनका वर्चस्व था।

नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग धीरे-धीरे व्यापक समर्थन प्राप्त करती गई। 1964 में आयोजित संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD) भी गुट-निरपेक्ष देशों के प्रयासों का परिणाम था। जहाँ तेल उत्पादक देशों में तेजी से विकास हुआ, वहीं कई अन्य तृतीय विश्व देशों में आर्थिक ठहराव देखा गया। संयुक्त राष्ट्र में गुट-निरपेक्ष देशों ने महत्वपूर्ण वैश्विक समस्याओं की पहचान कर उनका समाधान खोजने की दिशा में ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने नई आर्थिक व्यवस्था, उपनिवेशवाद विरोध, जातिवाद एवं रंगभेद उन्मूलन तथा हथियारों की होड़ को रोकने जैसे मुद्दों को प्रमुखता दिलाई।

इसके बावजूद, आंदोलन की उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत सीमित रहीं। उपनिवेशवाद के अंत के अलावा अन्य क्षेत्रों में इसकी सफलता उल्लेखनीय नहीं रही। यह बड़ी शक्तियों पर प्रभावी दबाव बनाने में असफल रहा। यहाँ तक कि इजरायल जैसे छोटे देशों ने भी इसकी आलोचनाओं की अनदेखी की। गुट-निरपेक्ष देशों के बीच आपसी सहयोग को मजबूत करने के प्रयास भी अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर सके।

फिर भी, यह माना जाता है कि गुट-निरपेक्षता ने विश्व शांति को बढ़ावा दिया और शीत युद्ध के तनाव को कम करने में योगदान दिया। उपनिवेशवाद के अंत में सहयोग देकर इसने अंतरराष्ट्रीय राजनीति और संयुक्त राष्ट्र की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों और वैश्विक राजनीति में भाग लेने वाले राष्ट्रों की संख्या में तीन गुना से अधिक

वृद्धि हुई। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों की आवाज को अब अनदेखा करना संभव नहीं रहा।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने उत्तर-दक्षिण विभाजन को स्पष्ट रूप से उजागर किया और आर्थिक न्याय की आवश्यकता पर बल दिया। इसने यह चेतावनी दी कि यदि तृतीय विश्व का आर्थिक शोषण जारी रहा, तो इसका नकारात्मक प्रभाव वैश्विक अर्थव्यवस्था और विकसित देशों की समृद्धि पर भी पड़ेगा। साथ ही, इसने बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नकारात्मक भूमिका की ओर ध्यान आकर्षित किया और नव-उपनिवेशवाद में उनकी भागीदारी को उजागर किया।

एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि विकासशील देशों ने आत्मनिर्भरता की आवश्यकता को समझा और दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देने पर बल दिया। सांस्कृतिक क्षेत्र में ”समाचार एजेंसियों के समूह“ (Pool of News Agencies) की स्थापना भी एक उल्लेखनीय कदम था, जिसने विकासशील देशों को आपसी सूचना आदान-प्रदान और पश्चिमी संचार माध्यमों पर निर्भरता कम करने में सहायता प्रदान की।

6.10 गुट-निरपेक्षता की प्रासंगिकता

गुट-निरपेक्षता तथा इस पर आधारित विदेश नीति का उद्भव शीत युद्ध की परिस्थितियों में हुआ था। प्रारम्भ में यह मुख्यतः राजनीतिक स्वरूप का आंदोलन था, जिसका उद्देश्य महाशक्तियों के गुटों से दूरी बनाए रखना था। समय के साथ इसका ध्यान आर्थिक समस्याओं की ओर भी केंद्रित हो गया और यही इसके प्रमुख मुद्दे बन गए। जब शीत युद्ध में तनाव कम हुआ और अंततः उसका अंत हो गया, तब गुट-निरपेक्षता की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठने लगे। ऐसा प्रतीत हुआ कि जब द्विध्रुवीय व्यवस्था ही समाप्त हो गई, तो इस नीति की आवश्यकता भी समाप्त हो जानी चाहिए थी। फिर भी, 21वीं सदी में भी इसके महत्व को नकारा नहीं गया और गुट-निरपेक्ष देशों ने इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया।

वास्तव में, शीत युद्ध के बाद इसकी राजनीतिक भूमिका भले ही सीमित हो गई हो, लेकिन आर्थिक दृष्टि से इसकी प्रासंगिकता और बढ़ गई है। विश्व आज भी विकसित (उत्तर) और विकासशील (दक्षिण) देशों के बीच असमानता से विभाजित है। जब तक आर्थिक विषमता बनी रहेगी, तब तक गुट-निरपेक्षता जैसे मंच की आवश्यकता बनी रहेगी। अब यह आंदोलन राजनीतिक मुद्दों की अपेक्षा आर्थिक न्याय, आत्मनिर्भरता और दक्षिण-दक्षिण सहयोग को अधिक महत्व देता है। गुट-निरपेक्ष आंदोलन समय के साथ एक छोटे समूह से विकसित होकर 120 से अधिक देशों का व्यापक संगठन बन चुका है। विभिन्न संस्कृति, इतिहास और राजनीतिक व्यवस्था वाले देश इसमें शामिल होकर वैश्विक समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान का प्रयास करते हैं। इस आंदोलन का मूल उद्देश्य देशों को

स्वतंत्र विदेश नीति अपनाने की स्वतंत्रता देना तथा महाशक्तियों के हस्तक्षेप से बचाना रहा है। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद विश्व में एकध्रुवीय व्यवस्था, विशेषकर अमेरिका के वर्चस्व, नव-उपनिवेशवाद, सैन्य हस्तक्षेप और वैश्विक असंतुलन जैसी नई चुनौतियाँ सामने आईं। इन परिस्थितियों ने गुट-निरपेक्षता की आवश्यकता को समाप्त करने के बजाय और अधिक प्रासंगिक बना दिया। विभिन्न देशों में बाहरी हस्तक्षेप, शासन परिवर्तन और असमान वैश्विक नीतियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि एक संतुलित और स्वतंत्र अंतरराष्ट्रीय मंच की आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

आज के वैश्विक परिदृश्य में आतंकवाद, जलवायु परिवर्तन, खाद्य संकट, आर्थिक असमानता, हथियारों की होड़ और महामारियों जैसी समस्याएँ गंभीर रूप ले चुकी हैं। इन चुनौतियों से निपटने के लिए गुट-निरपेक्ष आंदोलन जैसे मंच की उपयोगिता और बढ़ जाती है। इसके मूल सिद्धांत- निःशस्त्रीकरण, अन्य देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, समानता और न्याय पर आधारित व्यवस्था- आज भी विश्व शांति और स्थिरता के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त, यह आंदोलन संयुक्त राष्ट्र संगठन को सशक्त बनाने, सुरक्षा परिषद में सुधार लाने, तथा नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में लगातार प्रयासरत रहा है। वैश्विक संस्थाओं में संतुलन, आर्थिक न्याय और विकासशील देशों की आवाज को मजबूत करना इसके प्रमुख उद्देश्य हैं।

इस प्रकार, गुट-निरपेक्षता केवल शीत युद्ध की उपज नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य की वैश्विक चुनौतियों के समाधान के लिए भी एक महत्वपूर्ण और प्रासंगिक नीति है।

6.11 अभ्यास प्रश्न

1. पहला गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन कब आयोजित किया गया?

   (क) 1961 (ख) 1964 (ग) 1970 (घ) 1973

2. गुट निरपेक्षता के कर्णधारों नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके कितने आधार या तत्व स्वीकार किये ?

   (क) तीन (ख) चार (ग) पांच (घ) छह

3. प्रथम गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में कितने देशों ने भाग लिया?

   (क) 47 (ख) 76 (ग) 20 (घ) 25

4. 19वां गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन किस देश में सम्पन्न हुआ?

(क) उज्बेकिस्तान (ख) यूगांडा (ग) अजरबैजान (घ) वेनेजुएला

6.12 सारांश

इस इकाई में गुटनिरपेक्षता की अवधारणा, इसके एक आंदोलन के रूप में उद्भव के कारणों तथा इसके विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन किया गया। साथ ही, भारत की विदेश नीति के एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में इसका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया। गुटनिरपेक्ष आंदोलन दो प्रमुख वैश्विक परिस्थितियों के बीच उभरा-पहला, तीसरी दुनिया के देशों का उपनिवेशवाद से मुक्त होना और दूसरा, अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध की स्थिति। इन्हीं परिस्थितियों में गुटनिरपेक्षता का अर्थ और उद्देश्य स्पष्ट होता है, जो यह दर्शाता है कि देश शीत युद्ध और गुटीय राजनीति से दूर रहकर अपनी विदेश नीति स्वतंत्र रूप से संचालित करें। दूसरे शब्दों में, गुटनिरपेक्षता का उदय विशेष राजनीतिक, आर्थिक, सामरिक और क्षेत्रीय परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ।

प्रारंभिक दौर में इस नीति ने विशेषकर संयुक्त राष्ट्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि शीत युद्ध की समाप्ति और एकध्रुवीय विश्व व्यवस्था के उदय के बाद कुछ आलोचकों ने इसे अप्रासंगिक माना, लेकिन यह दृष्टिकोण पूर्णतः सही नहीं है। आज भी विश्व अमीर और गरीब देशों में विभाजित है, जिससे गुटनिरपेक्षता की आवश्यकता बनी हुई है। संयुक्त राष्ट्र का लोकतंत्रीकरण, आतंकवाद, मानवाधिकार, विकास, महिला सशक्तिकरण और पर्यावरण संरक्षण जैसे अनेक वैश्विक मुद्दे ऐसे हैं जिनके समाधान के लिए यह नीति आज भी उपयोगी है। यही कारण है कि भारत अब भी इस आंदोलन का समर्थन करता है। आवश्यकता इस बात की है कि बदलती वैश्विक परिस्थितियों के अनुरूप गुटनिरपेक्ष आंदोलन को पुनः परिभाषित किया जाए, ताकि वैश्विक न्याय के उसके उद्देश्य को प्रभावी ढंग से प्राप्त किया जा सके।

6.13 शब्दावली

असंलग्नता- शीतयुद्ध से स्वयं को अलग रखने की नीति

गुट निरपेक्षता- किसी गुट में शामिल न होना

तटस्थता- उदासीनता

सामरिक - युद्ध विषयक, रणनीति

6.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-(क), 2-(ग), 3-(घ), 4-(ख)

6.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. गुट निरपेक्षता का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

2. गुट निरपेक्षता आन्दोलन के उदय एवं उसके चरणबद्ध विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

3. गुट निरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धियों एवं उसके भविष्य पर प्रकाश डालिए।

6.16 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Khanna, V. N. (2009). International Relations, 6E, New Delhi: Vikas Publishing House.
2. Basu, R. (2018). International Politics Concepts, Theories and Issues, New Delhi: Sage Publication.
3. Arun Mohanty (2012), "NAM's Relevance in the Emerging Multipolar World and India, 50 (37)
4. J. Bandhopadhyay (2003), The Making Of India's Foreign Policy-Determinants, Institutions, Processes and Personalities, New Delhi :Allied Publishers Pvt. Ltd
5. Rao, P.V.Narsimha (2009), "Nehru and Non –Alignment", Mainstream, 47 (24).
6. वर्मा, दीनानाथ (2016). आंतराष्ट्रीय संबंध. नई दिल्ली. ज्ञानदा प्रकाशन (पी एंड डी)
7. पंत, पी. , जैन, एस., पचौला, आर. (2016). अंतर्राष्ट्रीय राजनीति. मेरठ. मीनाक्षी प्रकाशन.

6.17 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Appadorai A (1981), "India's Foreign Policy", New Delhi: Oxford University Press.

2. Dixit, J. N. (200), India's Foreign Policy, New Delhi: Picus Books.

3. Rajan, M.S. (1990), Non-alignment and Non-aligned Movement: Retrospect and Prospect, New Delhi: Vikas Publishing House Pvt Ltd.

4. Appadorai, A., M.S. Rajan (1985), India's Foreign Policy and Relations, New Delhi: South Asian Publishers.

इकाई-7: शीतयुद्ध का उदय और अंत

इकाई संरचना

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 शीतयुद्ध का अर्थ एवं परिभाषा
7.4 शीतयुद्ध की विशेषताएँ
7.5 ऐतिहासिक दृष्टिकोण
7.6 शीतयुद्ध के उद्भव के कारण
7.6.1 परस्पर विरोधी विचारधारा व टकरावपूर्ण विदेशनीतियाँ
7.6.2 शक्ति संतुलन में लाभ को बनाये रखने की स्थिति
7.6.3 अन्य तात्कालिक कारण
7.7 शीत युद्ध के चरण
7.7.1 पहला चरण (1946-1962), शीतयुद्ध का प्रारम्भिक चरण
7.7.1.1 ट्रूमैन सिद्धांत
7.7.1.2 मार्शल योजना
7.7.1.3 बर्लिन की नाकाबन्दी
7.7.1.4 चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना
7.7.1.5 कोरिया युद्ध
7.7.1.6 वियतनाम युद्ध
7.7.2 दूसरा चरण (1962-1979) देतांत
6.7.2.1 गैर पश्चिमी गठबन्धनों का उदय
6.7.2.2 देतांत की नीति
7.7.3 तीसरा चरण (1989-1984) - दूसरा शीत युद्ध
6.7.3.1 अफगानिस्तान संकट
6.7.3.2 सामरिक हथियार परिसीमन संधि
7.7.4 चौथा चरण (1985-1991), शीत युद्ध का अंत
7.7.4.1 महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक संवाद के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की चाह
7.7.4.2 मिखाइल गोर्वाचोव के नेतृत्व का उदय
7.7.4.3 पूर्वी यूरोप में उदारवाद का प्रारम्भ
7.7.4.4 बर्लिन की दीवार का गिरना
7.7.4.5 जर्मनी का एकीकरण

7.7.4.6 नाटो द्वारा शीतयुद्ध की समाप्ति की घोषणा
7.7.4.7 वारसा पैक्ट और नाटो की ऐतिहासिक संधि
7.7.4.8 पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त
7.7.4.9 सोवियत संघ का आर्थिक संकट
7.8 आत्म-मूल्यांकन हेतु अभ्यास-वस्तुनिष्ठ प्रश्न
7.9 सारांश
7.10 शब्दावली
7.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.12 निबंधात्मक प्रश्न
7.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व-युद्धोपरान्त समग्र विश्व दो परस्पर विरोधी खेमों में विभाजित हो गया। एक ओर संयुक्त राज्य अमेरिका जिसका मूलमन्त्र था ''दुनिया में जहाँ कही शान्ति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्य होगा वहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा संकट में मानी जायेगी और वह इसे रोकने का पूरा प्रयास करेगा। दूसरी ओर सोवियत संघ जिसका मूल मंत्र था ''हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जहाँ सभी सड़कें साम्यवाद की ओर जाने वाली है।'' इन दोनों के मध्य परस्पर वैचारिक प्रतिद्वन्दिता प्रारम्भ हो गयी। दोनों पक्षों ने परस्पर विरोधी विदेश-नीतियों का वरण किया दरअसल सोवियत संघ मास्को के नेतृत्व में समग्र विश्व में साम्यवादी शासन स्थापित करना चाहता था और संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसी व्यवस्था को अस्तित्व में आने से रोकने के लिए कटिबद्ध था, और विश्व को प्रजातन्त्र के लिए बचाना चाहता था। अतः इस वैचारिक शत्रुता के अन्तर्गत दोनों पक्षों के मध्य आरोपों-प्रत्यारोपों की बौछार हुई और अपनी-अपनी विचारधारा को श्रेष्ठ बताने तथा अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार का वाक् युद्ध छिड़ गया जिसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'शीत युद्ध' के नाम से जाना गया। इसे प्कमवसवहपबंस ॅंत थंपत च्तवचंहंदकं भी कहा गया।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम शीत युद्ध की अवधारणा के सन्दर्भ में शीत युद्ध का अर्थ, शीत युद्ध के उदय और अन्त होने के कारणों का समग्र अध्ययन करेंगे। शीत युद्ध ने सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ताने बाने को अस्त व्यस्त कर दिया जिसका प्रभाव इतना गहरा था कि

आज भी उसके लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् हम निम्नांकित को समझने में सक्षम हो सकेंगे-

- शीत युद्ध का अर्थ
- शीत युद्ध के उदय के कारण
- विश्व की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर शीत युद्ध का प्रभाव
- शीत युद्ध पर क्षेत्रीय गुटों का प्रभाव
- सोवियत संघ का विघटन शीतयुद्ध की समाप्ति का कारण क्यों था?

7.3 शीतयुद्ध का अर्थ एवं परिभाषा

वास्तव में 'शीतयुद्ध' एक विशिष्ट ढंग का 'वाक्युद्ध' है जिसमें युद्ध नहीं होता किन्तु युद्ध का सा तनाव बना रहता है। एक पक्ष दूसरे पक्ष को कमज़ोर करने तथा नीचा दिखाने के लिए कटिबद्ध होते हुए भी युद्ध के साधनों को न अपनाते हुए विभिन्न तरह के वाक्युद्ध में संलग्न रहता है। शाब्दिक आधार के प्रतिमान में 'शीतयुद्ध' की उत्पत्ति संयुक्त राज्य अमेरिका से हुई, अमेरिकी राजनेता बर्नार्ड बेरूच ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग 16 अप्रैल 1947 को किया। उन्होंने कहा कि-

''आज हमें धोखा मत दो, हम शीतयुद्ध के बीच में है।'' तबसे युद्धोत्तर काल के सोवियत संघ और पश्चिमी देशों की व्याख्या में 'शीत युद्ध' का प्रतिमान प्रयुक्त होने लगा। फिर भी इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषायें निम्नवत् है-

एस0 एन0 धर के शब्दों में- ''शीत युद्ध द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका व रूस के मध्य क्रमशः विकसित उन कटु सम्बन्धों को कहा जाता है जिसके कारण वे दोनों राष्ट्र परस्पर प्रतिद्वन्दी बनकर तीसरे विश्वयुद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए है।''

एम0 जी0 गुप्ता के अनुसार- ''शीतयुद्ध, एक भाव में शक्ति के लिए संघर्ष, विश्व सर्वोच्चता हेतु संघर्ष तथा दो असंगत वैचारिकियों- पूंजीवाद और साम्यवाद की अभिव्यक्ति है।''

के0 पी0 एस0 मेनन के शब्दों में- ''शीतयुद्ध, जैसा कि विश्व ने अनुभव किया है; दो विचारधाराओं, दो पद्धतियों, दो गुटों, दो राज्यों और जब यह चरम सीमा पर था, दो व्यक्तियों के मध्य दृढ़ संघर्ष था। यह विचारधाराएं थी- पूँजीवादी और साम्यवादी, पद्धति थी- संसदीय जनतन्त्र और जनवादी जनतन्त्र अथवा बुर्जुआ जनतन्त्र और सर्वहारा की तानाशाही, गुट थे- नाटो और

वारसा सन्धि, राज्य थे- संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ, व्यक्ति थे- जोसेफ स्टालिन और जॉन फॉस्टर डलेस।''

डॉ0 एम0 एस0 राजन के शब्दों में- ''शीत युद्ध, शक्ति, संघर्ष की राजनीति का मिला-जुला परिणाम है दो विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है, दो प्रकार की परस्पर विरोधी जीवन पद्धतियों और संघर्ष पूर्ण राष्ट्रीय हितों की अभिव्यक्ति है, जिनका अनुपात समय और परिस्थिति के अनुसार एक दूसरे के पूरक के रूप में बदलता रहा है।'

लुई हालै के अनुसार- ''शीत युद्ध, परमाणु युग में एक तनावपूर्ण स्थिति है जो अस्त्र युद्ध से एकदम भिन्न किन्तु उससे अधिक भयानक युद्ध है। वह ऐसा युद्ध है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल करने के स्थान पर उन्हें उलझा दिया है। विश्व के सभी देश और सभी समस्यायें शीत युद्ध में मोहरों की तरह प्रयुक्त की जाती रही है।''

7.4 शीतयुद्ध की विशेषताएँ

1. शीतयुद्ध दो भिन्न विचारधाराओं, पूंजीवाद और साम्यवाद का वैचारिक युद्ध है।

2. शीतयुद्ध एक विशिष्ट प्रकार का वाक्युद्ध है जो प्रचार के राजनीतिक हथियार से लड़ा जाता है।

3. दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव की स्थिति ही शीतयुद्ध है।

4. शीत युद्ध का क्षेत्र विश्वव्यापी है।

5. शीतयुद्ध में युद्ध की स्थिति बनी रहती है लेकिन युद्ध नही होता।

7.5 ऐतिहासिक दृष्टिकोण

'Propaganda' जो कि द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक कटु सत्य बना, मानव इतिहास में अपने विचारों के प्रचार-प्रसार का प्रारम्भ से ही साधन रहा है। सबसे प्रारम्भ में इसका प्रयोग रोमन कैथोलिक चर्च ने अपने सिद्धान्तों के प्रसार के लिए किया था।1917 की बोल्शेविक क्रांति को शीत युद्ध की पृष्ठभूमि की शुरुआत माना जा सकता है। सोवियत संघ के गठन के साथ ही उसके और पश्चिमी देशों के संबंध सामान्य नहीं रहे और उनमें लगातार तनाव बना रहा। सोवियत संघ में गृहयुद्ध के प्रारंभिक समय में अमेरिका सहित कई पश्चिमी देशों के हस्तक्षेप ने इस तनाव को और बढ़ा दिया। इतना ही नहीं, अमेरिका ने 1933 तक सोवियत संघ को कूटनीतिक मान्यता भी प्रदान नहीं की थी। उसके बाद यह Propaganda साम्यवादियों नाजी, जर्मनी, फासिस्ट इटली और द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त सोवियत संघ व अमेरिका की विदेशनीति का आधार रहा।

1941 में जब हिटलर ने अचानक सोवियत रूस पर आक्रमण किया, तब सोवियत संघ को मजबूरन पश्चिमी देशों के साथ सहयोग करना पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सोवियत संघ ने अत्यंत साहस और बलिदान का परिचय दिया, जिससे मित्र राष्ट्रों को विजय प्राप्त करने में महत्वपूर्ण सहायता मिली। इसके परिणामस्वरूप पश्चिमी देशों के मन में सोवियत संघ के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न हुई और यह आशा की जाने लगी कि पूर्व और पश्चिम के बीच सहयोग और मैत्री का एक नया युग प्रारंभ होगा। जहाँ तक शीत युद्ध के वास्तविक उदय का प्रश्न है, इसकी जड़ें यूरोप में दोनों विश्व युद्धों के बाद उत्पन्न परिस्थितियों में निहित थीं। द्वितीय विश्व युद्ध अमेरिका और सोवियत संघ ने मिलकर लड़ा था, इसलिए यह उम्मीद की जा रही थी कि युद्ध समाप्त होने के बाद भी दोनों देशों के बीच मित्रतापूर्ण संबंध बने रहेंगे, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत रही। युद्ध के दौरान भले ही दोनों देश सहयोगी थे, परन्तु उनके बीच हितों का टकराव पहले से मौजूद था और यही टकराव आगे चलकर विवाद का प्रमुख कारण बना। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब बारूद के गोले- गोलियाँ बन्द हो गये तो इसी तकनीक के आधार पर बारूदों के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र संघर्ष के न होते हुए भी कागज़ के गोलों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया, जिसे शीत युद्ध की संज्ञा दी गयी जो वर्ष 1989 तक चलता रहा और संसार को इसके विभिन्न कटु अनुभव हुए।

7.6 शीतयुद्ध के उद्भव के कारण

शीतयुद्ध के उद्भव के मौलिक कारण निम्नलिखित हैं-

7.6.1 परस्पर विरोधी विचारधारा व टकरावपूर्ण विदेश नीतियाँ- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ ने मिलकर धुरी राष्ट्रों के विरूद्ध ऐतिहासिक लड़ाई लड़ी थी। किन्तु अभी युद्ध समाप्त भी नहीं हो पाया था कि उनका अलौकिक गठबन्धन टूटने लगा। युद्धकाल के साथी ही एक-दूसरे के लिए युद्धोपरान्त अजनबी बन गये तथा उनके मध्य आरोपों-प्रत्यारोपों की बौछार होने लगी। वास्तव में विश्व-राजनीति में ‘प्राथक्यवाद से सहभागिता तक’ की एक यात्रा पूरी करने के बाद द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका का एक महाशक्ति के रूप में उद्भव हुआ। युद्धोत्तर काल में अमेरिकी हित विश्वव्यापी थे और उनके हितों को प्रत्यक्ष खतरा सोवियत संघ से था जो उसी काल में दूसरी महाशक्ति के रूप में उदित हो चुका था।इन दो महाशक्तियों ने सम्पूर्ण विश्व को दो शक्ति गुटों में विभाजित कर दिया पहले पूर्वी गुट में सामान्यतया साम्यवादी देश थे जो सोवियत संघ के राजनैतिक और सैन्य मित्र थे। दूसरे पश्चिमी गुट में पूँजीवादी देश थे जिनका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था। सोवियत विदेश-नीति स्पष्ट थी वह सम्पूर्ण विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना चाहता था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सोवियत संघ के पास लेनिन द्वारा प्रतिपादित एक सुनियोजित कार्यक्रम था जिसमें उन्होंने घोषणा की थी-

''प्रथम हम पूर्वी यूरोप को नियन्त्रित करेंगे उसके बाद एशिया की जनता को, तब हम पंूजीवाद के अन्तिम दुर्ग अमेरिका को घेरेंगें। हम आक्रमण नहीं करेंगें वरन् वह हमारी गोद में पके फल की तरह गिरेगा।''

द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त सोवियत संघ तेज़ी से इस नीति पर अग्रसर हुआ तथा उसने जर्मनी की पराजय से उत्पन्न शक्ति रिक्तता को प्राप्त कर दो वर्षों की अल्पावधि में समस्त पूर्वी यूरोप को 'लाल' कर दिया। पश्चिमी यूरोप के देशों फ्रांस व इटली में साम्यवादी आन्दोलन तेज़ हुआ तथा मध्यपूर्व में ग्रीक और तुर्की पर साम्यवादी दबाव बढ़ गया। सोवियत संघ ने ईरान से अपनी सेना हटाने से इन्कार कर दिया (इसे बाद में हटा लिया गया) पूर्वी एशिया में उत्तर कोरिया में किम-इल-शुंग के नेतृत्व में साम्यवादी शासन स्थापित हुआ और अक्टूबर 1949 में चीन में माओत्सेतुंग की ऐतिहासिक विजय के साथ दक्षिण-पूर्वी एशिया में हो. ची. मिन्ह के गुरिल्ला सैनिकों का आत्मबल बहुत बढ़ गया और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का पलायन शीघ्र दिखायी देने लगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विस्तारण के लिए एक सुनियोजित नियोजना पर सोवियत संघ के बढ़ते चरणों को देखकर अमेरिकियों को चिन्ता हुई। अमेरिकियों की दृष्टि में ''अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का उदय'' मानव जाति की स्वतन्त्रता के लिए एक आक्रामक भय था। अमेरिका की इस भावना को 5 मार्च 1946 को फुल्टन नामक स्थान पर राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने उद्दीप्त किया।

इस परिप्रेक्ष्य में अन्ततोगत्वा अमेरिकी विदेश-नीति में एक मौलिक क्रान्ति हुई वह विश्व नेतृत्व प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ा और साम्यवादी बाढ़ से विश्व को बचाने के लिए आर्थिक सहायता कार्यक्रम अपनाया। 12 मार्च 1947 के ट्रूमैन सिद्धान्त, जून 1947 की मार्शल योजना, 20 जनवरी 1949 को ट्रूमैन द्वारा घोषित चार सूत्रीय कार्यक्रम को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका इससे संतुष्ट नहीं हुआ वह सोवियत संघ तथा साम्यवादी बिरादरी के चारों ओर सैनिक संगठनों का जाल बिछा देना चाहता था ताकि भविष्य में कोई भी देश साम्यवाद का शिकार न हो। अतः संयुक्त राज्य अमेरिका सैनिक संगठनों की नीति पर आगे बढ़ा। रियो, नाटो, एन्जस, फिलीपीन्स, जापानी, कोरियाई गणतन्त्र दक्षिण कोरिया, सिएटो, सैन्टो सैनिक संधियों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

स्पष्ट है कि दोनों महाशक्तियों ने परस्पर विरोधी नीतियाँ अपनायी सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का प्रसार करना चाहता था और संयुक्त राज्य अमेरिका इसको रोकने के लिए कटिबद्ध था। वह अपनी संकल्पना के अनुसार ''विश्व को प्रजातन्त्र के लिए बचाना'' चाहता था।

अतः ये दो टकरावपूर्ण विचारधाराएँ सम्पूर्ण विश्व के लिए संकट व शीतयुद्ध का प्रमुख कारण बनी।

7.6.2 शक्ति सन्तुलन में लाभ को बनाये रखने की स्थिति- यदि शीत युद्ध के उद्भव के कारण का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया जाये तो उपर्युक्त विवेचन समस्या का मात्र सैद्धान्तिक पक्ष है।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक देश की विदेशनीति उसके आन्तरिक तन्त्रों यथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तत्वों से निर्धारित होती है।

युद्धोपरान्त दोनों महाशक्तियाँ गरीब तथा प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न देशों का शोषण करने के ठोस धरातल पर अपने आर्थिक हितों का विस्तारण चाहते थे। दूसरे शब्दों में- दोनों महाशक्तियाँ गरीब तथा प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न देशों के हितों की उपेक्षा करते हुए उन्हें स्वहित में प्रयोग करना चाहते थे। अमेरिकी पूँजीपति अपना हित प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत उद्यमतंत्र के विकास में देखते थे और सोवियत रूसी अपना हित अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार में देखते थे। इस प्रकार पद्धति भिन्न होते हुए दोनों का लक्ष्य एक था। दोनों अपने-अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए विश्व-व्यवस्था को अपने चंगुल में बनाये रखने हेतु प्रयासरत थे। इस प्रकार की विश्व-व्यवस्था को उपलब्ध करने के प्रयास में ही शीत युद्ध अस्तित्व में आया।

7.6.3 अन्य तात्कालिक कारण- उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त पूर्वी यूरोप का सोवियतीकरण, ईरान से सोवियत संघ द्वारा अपनी सेना को हटाने से इन्कार, ग्रीक और तुर्की साम्यवादी पर दबाव, शान्ति सन्धियों पर मतभेद, युद्धकाल में पश्चिमी शक्तियों द्वारा सोवियत संघ की सहायता रोकना, पश्चिमी शक्तियों द्वारा जर्मनी के विरूद्ध द्वितीय मोर्चा खोलने में देरी, सोवियत संघ से अणुबम की गोपनीयता, अमेरिका में साम्यवादी गतिविधियाँ शीत युद्ध के तात्कालिक कारण बने। इन सब के कारण सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य जो पारस्परिक संदेह, अविश्वास तथा एक-दूसरे से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आकांक्षा ने जन्म लिया, उसकी चरम परिणति युद्धोपरान्त शीत युद्ध के रूप में सामने आयी जो लगभग चालीस-पैंतालीस वर्षों तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कटु यथार्थ बनी रही।

7.7 शीत युद्ध के चरण

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीत युद्ध के विकास को सामान्यतः चार प्रमुख चरणों में विभाजित किया जाता है-

- शीत युद्ध का प्रारम्भिक चरण (1946-1962)
- दितान्त या तनाव में कमी का दौर (1963-1979)
- दूसरा शीत युद्ध (1979-1984)
- शीत युद्ध का अंत (1985-1991)

वास्तव में ये चारों चरण शीत युद्ध के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, जिनमें समय-समय पर तनाव और शिथिलता दोनों प्रकार की स्थितियाँ देखने को मिलती हैं।

7.7.1 पहला चरण (1946-1962), शीत युद्ध का प्रारम्भिक चरण

शीत युद्ध का पहला चरण 1946 से 1962 तक चला। इस अवधि में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं, जिन्होंने महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा और तनाव को और अधिक बढ़ा दिया। इस दौर की प्रमुख घटनाओं में ट्रूमैन सिद्धांत, मार्शल योजना, बर्लिन नाकाबंदी, सोवियत संघ द्वारा प्रथम परमाणु परीक्षण, छाज्व् की स्थापना, पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी का गठन, जर्मनी के एकीकरण पर स्टालिन का प्रस्ताव, मध्य यूरोप से महाशक्तियों की सेनाओं की वापसी, चीन का गृहयुद्ध और चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना तथा कोरियाई युद्ध प्रमुख थे।

7.7.1.1 ट्रूमैन सिद्धांत

जब द्वितीय विश्व युद्ध अपने अंतिम चरण में था, उसी समय सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के कई देशों, जैसे पोलैंड, बुल्गारिया, रोमानिया, हंगरी और यूगोस्लाविया में साम्यवादी शासन की स्थापना कर दी। इसके साथ ही वहाँ के लोकतांत्रिक राजनीतिक दलों को समाप्त करने तथा स्वतंत्र संगठनों को दबाने की नीति भी अपनाई गई। सोवियत संघ ने 1944 में चर्चिल और स्टालिन के बीच हुए बाल्कन समझौते की भावना का भी उल्लंघन किया, जिसके अनुसार ब्रिटेन और सोवियत संघ का इन क्षेत्रों पर संयुक्त प्रभाव होना था।

युद्ध समाप्त होने के बाद सोवियत संघ के हस्तक्षेप से पूरे बाल्कन क्षेत्र में साम्यवादी सरकारों का गठन होने लगा। पूर्वी यूरोप में अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद सोवियत संघ ने पश्चिमी यूरोप की ओर भी साम्यवाद के विस्तार का प्रयास किया। सोवियत संघ के इस बढ़ते प्रभाव को अमेरिका अनदेखा नहीं कर सकता था। 8 मई 1945 को जब यूरोप में युद्ध समाप्त हुआ, तब सोवियत संघ और पश्चिमी देशों की सेनाएँ यूरोप के मध्य क्षेत्र में आमने-सामने तैनात थीं। वास्तव में याल्टा समझौते में परोक्ष रूप से यह स्वीकार कर लिया गया था कि दोनों पक्षों की सेनाएँ अपने-अपने कब्जे वाले क्षेत्रों में बनी रहेंगी। राजनीतिक दृष्टि से यह समझौता युद्धोत्तर स्थिति को स्वीकार करने जैसा था, जिसके परिणामस्वरूप यूरोप का लगभग एक-तिहाई भाग सोवियत संघ के प्रभाव में और शेष दो-तिहाई भाग अमेरिका तथा उसके सहयोगियों के प्रभाव में आ गया। सोवियत संघ चाहता था कि जर्मनी की आक्रामक शक्ति को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया जाए, ताकि भविष्य में वह फिर से खतरा न बन सके। दूसरी ओर अमेरिका के नए राष्ट्रपति हैरी एस. ट्रूमैन के नेतृत्व में ऐसी व्यवस्था स्थापित करने की योजना बनाई जा रही थी, जो 1941 में राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट की कल्पना के अनुरूप विश्व व्यवस्था को आकार दे सके।

ट्रूमैन सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य सोवियत संघ के प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। इस नीति को निरोध (Containment)नीति कहा गया। इसके अंतर्गत विश्व स्तर पर साम्यवाद के प्रति भय और विरोध की भावना को बढ़ावा दिया गया। ईरान से सोवियत सैनिकों की वापसी में देरी, चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी तख्तापलट, 1948 की बर्लिन नाकाबंदी, 1949 में छाज्व् की स्थापना और चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना जैसी घटनाओं ने अमेरिका और सोवियत संघ के बीच सहयोग की संभावनाओं को और कम कर दिया तथा शीत युद्ध की स्थिति को और अधिक गहरा बना दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की राजनीतिक स्थिति अनिश्चितता और अविश्वास से भर गई। अमेरिका और सोवियत संघ के बीच बढ़ती प्रतिस्पर्धा ने अंतरराष्ट्रीय वातावरण को संदेहपूर्ण बना दिया। इस समय अमेरिका ने अपने वैचारिक प्रभाव को मजबूत करने के लिए विभिन्न सैन्य गठबंधनों को बढ़ावा दिया, जिसके परिणामस्वरूप हथियारों की होड़ भी तेज हो गई।

7.7.1.2 मार्शल योजना

मार्शल योजना, ट्रूमैन सिद्धांत के आर्थिक पहलू को लागू करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास थी। इस आर्थिक नीति को क्रियान्वित करने के लिए अमेरिका ने जिस योजना को प्रस्तुत किया, उसे मार्शल प्लान कहा गया। इसे आधिकारिक रूप से यूरोपियन रिकवरी प्रोग्राम (ERP) के नाम से जाना जाता था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य यूरोप के मित्र राष्ट्रों के आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता प्रदान करना और वहाँ साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। इस योजना का नाम अमेरिका के विदेश मंत्री जॉर्ज मार्शल के नाम पर रखा गया। इसके निर्माण और क्रियान्वयन में विदेश विभाग के अन्य वरिष्ठ अधिकारियों, जैसे जॉर्ज केनन और विलियम क्लेटन, की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। मार्शल योजना को चार वर्षों की अवधि के लिए लागू किया गया था और यह अपने प्रारंभिक कार्यक्रम के अनुसार 1951 में समाप्त हो गई। इस योजना के अंतर्गत दी गई अमेरिकी सहायता के कारण 1948 से 1952 के बीच का समय यूरोप के आर्थिक विकास के लिए अत्यंत गतिशील और महत्वपूर्ण साबित हुआ।

अमेरिका की ओर से सहायता प्रस्ताव रखते हुए मार्शल ने यूरोप में लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के सामने उपस्थित आर्थिक संकट को रेखांकित किया। उनका विश्वास था कि अमेरिका युद्धग्रस्त देशों की स्थिरता और पुनर्निर्माण में सहायता कर सकता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि आर्थिक पुनर्निर्माण की मुख्य जिम्मेदारी यूरोप के देशों की ही होगी तथा अमेरिका तभी योजना का स्वरूप तैयार करेगा जब यूरोपीय राष्ट्र स्वयं इसमें सक्रिय पहल करेंगे। मार्शल ने अपने भाषण में कहा कि अमेरिका की नीति किसी देश या विचारधारा के विरुद्ध नहीं है, बल्कि उसका उद्देश्य भूख, गरीबी, निराशा और अव्यवस्था को समाप्त करना है। औपचारिक रूप से मार्शल योजना का लक्ष्य यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण को प्रोत्साहित करना था, किंतु इसके पीछे एक राजनीतिक उद्देश्य भी निहित था,पश्चिमी यूरोप को आर्थिक रूप से सशक्त बनाकर वहाँ साम्यवादी प्रभाव को कम करना।

7.7.1.3 बर्लिन की नाकाबंदी

याल्टा सम्मेलन और पॉट्सडैम सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया था कि जर्मनी और उसकी राजधानी बर्लिन को चार क्षेत्रों में विभाजित किया जाएगा। यद्यपि बर्लिन सोवियत क्षेत्र के भीतर स्थित था, फिर भी उसका प्रशासन चार शक्तियों ,सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा संयुक्त रूप से संचालित किया जा रहा था। इस कारण बर्लिन की स्थिति जर्मनी के अन्य भागों से अलग थी। बर्लिन की नाकाबंदी शीत युद्ध के शुरुआती दौर की पहली बड़ी संकटपूर्ण घटना थी। इस घटना में सोवियत संघ ने पश्चिमी बर्लिन तक जाने वाले सभी सड़क और रेल मार्गों को बंद कर दिया। इस नाकाबंदी के पीछे मूल कारण शीत युद्ध की बढ़ती प्रतिद्वंद्विता थी, जो उस समय प्रारंभिक अवस्था में ही थी। एक ओर जोसेफ स्टालिन धीरे-धीरे पूर्वी यूरोप के देशों पर अपना नियंत्रण मजबूत कर रहे थे,उदाहरण के लिए मार्च 1948 में चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई ,वहीं दूसरी ओर अमेरिका ने सोवियत प्रभाव को सीमित करने के लिए ट्रूमैन सिद्धांत की घोषणा की। इस संदर्भ में बर्लिन की नाकाबंदी शीत युद्ध की शक्ति-परीक्षा के रूप में सामने आई।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य घटनाओं ने भी स्टालिन को इस कदम के लिए प्रेरित किया।

(1) जनवरी 1947 में अमेरिका और ब्रिटेन ने जर्मनी में अपने-अपने कब्जे वाले क्षेत्रों को मिलाकर एक संयुक्त प्रशासनिक क्षेत्र बनाया, जिसे बिजोनिया कहा गया। सोवियत संघ को आशंका थी कि अमेरिका और ब्रिटेन मिलकर एक शक्तिशाली पश्चिमी जर्मनी का निर्माण करना चाहते हैं, इसलिए उसकी नाराजगी स्वाभाविक थी।

(2) 31 मार्च 1948 को अमेरिकी कांग्रेस ने मार्शल योजना को औपचारिक स्वीकृति प्रदान कर दी। सोवियत नेता जोसेफ स्टॅालिन ने इस योजना को पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभाव को कम करने की अमेरिकी रणनीति के रूप में देखा। इसी कारण सोवियत संघ ने बर्लिन जाने वाले सभी रेल और सड़क मार्गों से गुजरने वाले वाहनों की सख्त जांच शुरू कर दी।

(3) नई मुद्रा की घोषणा और बर्लिन की नाकाबंदी- 1 जून 1948 को अमेरिका और ब्रिटेन ने घोषणा की कि वे अपने नियंत्रण वाले क्षेत्रों, विशेषकर पश्चिमी बर्लिन और बिजोनिया में नई मुद्रा लागू करने वाले हैं। साथ ही उन्होंने पश्चिमी जर्मनी नामक एक नए राज्य की स्थापना की योजना भी प्रकट की।

23 जून 1948 को बिजोनिया और पश्चिमी बर्लिन में नई मुद्रा लागू कर दी गई। पूर्वी जर्मनी के अनेक लोगों ने अपनी पुरानी मुद्रा को इस नई मुद्रा में बदलना शुरू कर दिया, क्योंकि उसका आर्थिक मूल्य अधिक था। इसके अगले ही दिन सोवियत संघ ने बर्लिन जाने वाले सभी सड़क और रेल मार्गों को बंद कर दिया और इस प्रकार बर्लिन की नाकाबंदी प्रारम्भ हो गई। इस समस्या का समाधान करने

और पश्चिमी बर्लिन में आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति बनाए रखने के लिए अमेरिकी कमांडर लूसियस डी-क्ले ने प्रस्ताव दिया कि पश्चिमी जर्मनी से पश्चिमी बर्लिन तक सामग्री हवाई मार्ग से भेजी जाए। इसके बाद अमेरिका और ब्रिटेन ने लगभग एक वर्ष तक हवाई मार्ग से खाद्य सामग्री, ईंधन और अन्य आवश्यक वस्तुएँ बर्लिन पहुँचाई। इस अभियान को बर्लिन एयरलिफ्ट कहा जाता है।

अंततः मई 1949 में सोवियत संघ ने नाकाबंदी समाप्त कर दी, हालांकि हवाई आपूर्ति का कार्य सितंबर 1949 तक चलता रहा। इस घटना के बाद बर्लिन का विभाजन औपचारिक रूप से पूर्वी और पश्चिमी भागों में हो गया। बाद में सोवियत समर्थित सरकार ने दोनों भागों को अलग रखने के लिए लंबी दीवार का निर्माण कराया, जिसे बर्लिन दीवार निर्माण ; (Berlin Wall construction) के रूप में जाना गया।

7.7.1.4 चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चीन में साम्यवादी दल और राष्ट्रवादी दल के बीच संघर्ष फिर से शुरू हो गया। साम्यवादी दल का नेतृत्व माओ जेदांग कर रहे थे, जबकि राष्ट्रवादी दल का नेतृत्व च्यांग-काई-शेक के हाथों में था। सोवियत संघ ने साम्यवादी दल को सीमित सहायता प्रदान की, जबकि अमेरिका ने राष्ट्रवादी दल को आर्थिक और सैन्य सहायता दी। फिर भी साम्यवादी दल की जनवादी मुक्ति सेना के सामने राष्ट्रवादी सेनाएँ टिक नहीं सकीं। 1949 के अंत तक चीन के अधिकांश भाग पर साम्यवादियों का नियंत्रण स्थापित हो गया। अक्टूबर 1949 में माओ ने चीनी जनवादी गणराज्य (People's Republic of China) की स्थापना की घोषणा कर दी। इसके बाद च्यांग काई-शेक अपनी सेना के साथ ताइवान द्वीप में चले गए और वहाँ चीनी गणराज्य (Republic of China) की सरकार स्थापित की। दिसंबर 1949 में ताइवान को अस्थायी राजधानी घोषित किया गया और राष्ट्रवादी सरकार ने स्वयं को चीन की वैध सरकार बताया। इस प्रकार साम्यवादी चीन और राष्ट्रवादी चीन के बीच विवाद पूरे शीत युद्ध काल में बना रहा।

साम्यवादी विजय के बाद माओ ने चीन के पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया। प्रारंभिक वर्षों में सोवियत संघ से आर्थिक सहायता और परामर्श प्राप्त हुआ, लेकिन 1950 के दशक के अंत तक दोनों देशों के संबंधों में दूरी आने लगी और सोवियत सहायता कम हो गई। चीन की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए माओ ने व्यापक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लागू किए।

7.7.1.5 कोरिया युद्ध

1950 में शीत युद्ध की प्रतिद्वंद्विता यूरोप से आगे बढ़कर एशिया तक पहुँच गई। कोरिया युद्ध (1950-1953) वास्तव में दो महाशक्तियों के बीच अप्रत्यक्ष लेकिन तीव्र संघर्ष था। उत्तर कोरिया को सोवियत हथियारों और चीनी सैनिकों का समर्थन प्राप्त था, जबकि दक्षिण कोरिया की ओर से संयुक्त राष्ट्र की सेना के नाम पर अमेरिका युद्ध लड़ रहा था। यह संघर्ष इतना गंभीर था कि इसके तीसरे विश्व युद्ध में बदलने की आशंका पैदा हो गई थी, लेकिन अंततः युद्धविराम के माध्यम से इस संकट को टाल दिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोरिया को दो भागों में बाँट दिया गया -

उत्तर कोरिया - सोवियत संघ के प्रभाव में

दक्षिण कोरिया - अमेरिका के प्रभाव में

उत्तर कोरिया में साम्यवादी सरकार स्थापित हुई, जबकि दक्षिण कोरिया में संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में हुए चुनावों के परिणामस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था वाली सरकार बनी।

1950 में अमेरिका ने जापान के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार अमेरिका जापान में लंबे समय तक अपने सैन्य ठिकाने बनाए रखेगा। कुछ विश्लेषकों का मानना है कि इस समझौते के कारण सोवियत नेता स्टालिन ने 20 जून 1950 को अमेरिका समर्थित दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया के आक्रमण की योजना को स्वीकृति दे दी। स्टालिन को यह आशंका थी कि यदि कोरिया एकीकृत हो गया तो जापान में अमेरिकी प्रभाव कमजोर हो सकता है और इससे विश्व स्तर पर साम्यवाद को बढ़ावा मिल सकता है। इस स्थिति को देखते हुए अमेरिकी राष्ट्रपति हैरी ट्रूमैन ने दक्षिण कोरिया की सैन्य सहायता करने का निर्णय लिया। साथ ही उन्होंने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद से भी समर्थन प्राप्त किया ताकि दक्षिण कोरिया से उत्तर कोरियाई सेनाओं को हटाया जा सके। उस समय सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद की बैठक का बहिष्कार कर दिया, जिसे बाद में एक बड़ी कूटनीतिक भूल माना गया। हालाँकि अमेरिका से भी एक गंभीर गलती हुई, जब उसने अपनी सेना को चीन-कोरिया सीमा तक आगे बढ़ने की अनुमति दे दी। इसके जवाब में नवंबर 1950 में चीन ने बड़े पैमाने पर प्रतिआक्रमण किया, जिसमें अमेरिकी और चीनी सेनाओं को भारी नुकसान हुआ। यह युद्ध लगभग दो वर्ष तक चला और अंततः कोरिया के विभाजन के साथ समाप्त हुआ।

7.7.1.6 वियतनाम युद्ध

1966 तक अमेरिका के लगभग दो लाख सैनिक वियतनाम युद्ध में शामिल हो चुके थे। दूसरी ओर उत्तर वियतनाम को सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी देशों से सैन्य और तकनीकी सहायता मिल रही थी। भारी सैन्य शक्ति, निरंतर बमबारी और बड़ी संख्या में अमेरिकी सैनिकों की मौजूदगी के बावजूद दक्षिण वियतनाम, वियतकोंग और उत्तर वियतनाम की सेनाओं को पराजित नहीं कर सका।

अमेरिका की जीत की उम्मीदों को बड़ा झटका तब लगा जब उत्तर वियतनाम और वियतकोंग ने टेट आक्रमण किया। इस आक्रमण में 100 से अधिक शहरों पर हमला किया गया और दक्षिण वियतनाम के ह्यू शहर में लगभग एक महीने तक भीषण लड़ाई चली। 1968 के बाद वियतनाम युद्ध को समाप्त करने के लिए गंभीर वार्ताएँ शुरू हुई, जब अमेरिकी राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन ने पुनः चुनाव न लड़ने का निर्णय लिया। 1969 में अमेरिका, उत्तर वियतनाम, दक्षिण वियतनाम और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के बीच वार्ताएँ जारी रहीं। नए राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने नई रणनीति अपनाई। उन्होंने एक ओर अमेरिकी सैनिकों को वियतनाम से वापस बुलाना शुरू किया, जबकि दूसरी ओर वियतनाम पर बमबारी और अधिक तेज कर दी, जिसमें कंबोडिया में साम्यवादी ठिकानों पर हमले भी शामिल थे।

7.7.2 दूसरा चरण (1962-1979), देतांत

शीत युद्ध के पहले चरण के बाद 1962 में क्यूबा मिसाइल संकट उत्पन्न हुआ। अमेरिका सोवियत संघ को घेरने के उद्देश्य से विभिन्न क्षेत्रों में अपनी सैन्य उपस्थिति बढ़ा रहा था। इसके जवाब में सोवियत संघ ने क्यूबा में परमाणु मिसाइलें स्थापित करने की योजना बनाई, ताकि अमेरिका की बढ़ती शक्ति का संतुलन किया जा सके। इस मुद्दे पर अमेरिकी प्रशासन में सात दिनों तक चर्चा चली। 22 अक्टूबर को राष्ट्रपति जॉन एफ. केनेडी ने टेलीविजन पर भाषण देकर इस संकट की जानकारी दी और चेतावनी दी कि क्यूबा से छोड़ा गया कोई भी मिसाइल आक्रमण सोवियत संघ का आक्रमण माना जाएगा और उसका उचित उत्तर दिया जाएगा। अमेरिका ने क्यूबा के आसपास समुद्री नाकाबंदी भी कर दी, ताकि सोवियत सैन्य सामग्री वहाँ न पहुँच सके। संकट के दौरान दोनों देशों के बीच औपचारिक और अनौपचारिक बातचीत जारी रही। सोवियत नेता निकिता खुश्चेव ने केनेडी को कई पत्र लिखे, जिनमें उन्होंने कहा कि क्यूबा में मिसाइलें केवल सुरक्षा के उद्देश्य से लगाई गई हैं। बाद में उन्होंने प्रस्ताव दिया कि यदि अमेरिका क्यूबा पर हमला न करने का आश्वासन दे, तो सोवियत संघ अपनी मिसाइलें हटा लेगा। साथ ही यह भी सुझाव दिया गया कि यदि अमेरिका तुर्की से अपनी मिसाइलें हटा ले, तो सोवियत संघ क्यूबा से मिसाइल कार्यक्रम समाप्त कर देगा।

अंततः 28 अक्टूबर 1962 को समझौता हुआ, जिसके तहत सोवियत संघ ने क्यूबा से अपनी मिसाइलें हटा लीं और अमेरिका ने क्यूबा पर आक्रमण न करने का आश्वासन दिया। इस समझौते ने विश्व को संभावित परमाणु युद्ध से बचा लिया।

7.7.2.1 गैर-पश्चिमी गठबंधनों का उदय

1960 के दशक में एशिया, अफ्रीका और मध्य पूर्व के अनेक विकासशील देशों ने अपने-अपने संगठन बनाना शुरू किया। इनमें गुटनिरपेक्ष आंदोलन, ओपेक, अफ्रीकी एकता संगठन और अरब

लीग प्रमुख थे। इन संगठनों के माध्यम से विकासशील देशों ने ऐसी नीति अपनाई जिससे वे महाशक्तियों से लाभ भी ले सकें और अपनी स्वतंत्रता भी बनाए रखें।

संयुक्त राष्ट्र महासभा में भी सदस्य देशों की संख्या तेजी से बढ़ी। प्रारंभ में जहाँ केवल 51 सदस्य थे, वहीं 1970 के दशक तक यह संख्या बढ़कर 126 हो गई और बाद में 192 तक पहुँच गई। उपनिवेशों की स्वतंत्रता के साथ एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों की संख्या बढ़ी और उनका प्रभाव भी बढ़ने लगा।

7.7.2.2 देतांत की नीति

इस अवधि में शीत युद्ध का तनाव कुछ कम होने लगा और अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच संबंधों में सुधार होने लगा। अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन और उनके राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार हेनरी किसिंजर की नीतियों के कारण यह संभव हुआ। 1969 में इस नीति को आधिकारिक रूप से ”देतांत“ कहा गया, जिसका अर्थ है अंतरराष्ट्रीय संबंधों में तनाव का कम होना।

वियतनाम युद्ध के कारण 1969 से 1975 के बीच अमेरिका आर्थिक संकट से गुजर रहा था। वहीं सोवियत संघ भी अपनी अर्थव्यवस्था को मजबूत करने और तकनीकी विकास के प्रयासों में लगा हुआ था। दोनों देशों को यह महसूस होने लगा था कि परमाणु हथियारों और बड़ी सेनाओं पर अत्यधिक खर्च उनकी अर्थव्यवस्था पर भारी पड़ रहा है। इसलिए दोनों देशों ने संबंधों को सामान्य बनाने की दिशा में कदम उठाए। 1972 में सामरिक हथियार सीमित करने की संधि ;ै।स्ज्द्ध पर हस्ताक्षर हुए और 1973 में यूरोपीय सुरक्षा से संबंधित बैठकों का आयोजन किया गया। हालांकि इसके बावजूद कुछ क्षेत्रों में दोनों महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा जारी रही।

7.7.3 तीसरा चरण (1979-1984) - दूसरा शीत युद्ध

1979 में सोवियत संघ के अफगानिस्तान में हस्तक्षेप के बाद देतांत की नीति समाप्त हो गई और शीत युद्ध का नया दौर शुरू हो गया, जिसे “दूसरा शीत युद्ध” कहा जाता है। इस समय दोनों महाशक्तियों ने फिर से अपनी सैन्य तैयारियाँ तेज कर दीं।

7.7.3.1 अफगानिस्तान संकट

दिसंबर 1979 में सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया और वहाँ की सत्ता पर नियंत्रण स्थापित करके बाबरक कर्मल को राष्ट्रपति बना दिया। इसके खिलाफ अफगानिस्तान में व्यापक विरोध हुआ और गुरिल्ला समूहों ने जिहाद की घोषणा कर दी। अमेरिका ने पाकिस्तान के माध्यम से मुजाहिदीन (आतंकवादी समूह) को आधुनिक हथियार उपलब्ध कराए। इस संघर्ष में सोवियत सेना को भारी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। शहरों पर उनका नियंत्रण था, जबकि पहाड़ी क्षेत्रों में

मुजाहिदीन सक्रिय रहे। 1986 में बाबरक कर्मल के इस्तीफे के बाद मोहम्मद नजीबुल्ला राष्ट्रपति बने।

1988 में सोवियत संघ, अमेरिका, अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच एक समझौता हुआ, जिसके तहत बाहरी सहायता रोकने और सोवियत सेना को वापस बुलाने की प्रक्रिया शुरू हुई। इसके बाद भी अफगानिस्तान में राजनीतिक अस्थिरता बनी रही, जिसने आगे चलकर तालिबान के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

7.7.3.2 सामरिक हथियार परिसीमन संधि

सोवियत संघ के नए नेता मिखाइल गोर्बाचेव और अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने एक अंतरराष्ट्रीय शिखर बैठक में परमाणु हथियारों को समाप्त करने के लिए पाँच वर्ष की समय-सीमा का प्रस्ताव रखा। अमेरिका ने इस प्रस्ताव के प्रति सकारात्मक रुख अवश्य दिखाया, किन्तु उसकी प्रतिबद्धता गोर्बाचेव की अपेक्षा कम थी। दोनों नेताओं के बीच चार शिखर सम्मेलनों का आयोजन हुआ, जिन्हें विश्व स्तर पर सराहा गया। इन बैठकों के परिणामस्वरूप दोनों देशों ने सामरिक हथियारों को सीमित करने की दिशा में कदम बढ़ाए। साथ ही यह सहमति बनी कि समुद्र और भूमि से प्रक्षेपित मिसाइलों के परीक्षण की अग्रिम सूचना दी जाएगी तथा परमाणु हथियारों के परीक्षण की संयुक्त जाँच की व्यवस्था की जाएगी।

1990 में वाशिंगटन में आयोजित शिखर सम्मेलन में अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज एच. डब्ल्यू. बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचेव ने परमाणु, रासायनिक और पारंपरिक हथियारों से संबंधित कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए। दोनों नेता सामरिक हथियार परिसीमन संधि के कुछ प्रमुख सिद्धांतों पर भी सहमत हुए और 31 जुलाई 1990 को इस पर हस्ताक्षर किए गए।

7.7.4 चौथा चरण (1985-1991), शीत युद्ध का अंत

1985 से 1991 की अवधि को शीत युद्ध के अंत की दृष्टि से सोवियत संघ और अमेरिका के संबंधों में एक ऐतिहासिक मोड़ माना जाता है। इस दौरान कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिनके परिणामस्वरूप सोवियत संघ का विघटन हुआ और शीत युद्ध का समापन हो गया।शीतयुद्ध की समाप्ति के कारण- द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त दो महाशक्तियों के बीच में उनके पारस्परिक संदेहों, अविश्वासों के मध्य जिस शीत युद्ध का श्रीगणेश हुआ, वह 1989 में बर्लिन की दीवार टूटने, जर्मनी के पुर्नएकीकरण के साथ समाप्त हो गया। उसकी समाप्ति के कारण निम्न है-

7.7.4.1 महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक संवाद के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की चाह

बढ़ते हुए वैज्ञानिक कौशल एवं उच्च तकनीक के अन्तर्गत दोनों महाशक्तियों के मध्य जो आणविक जानलेवा प्रतिद्वन्दिता का दौर शुरू हुआ उसने समग्र विश्व को बारूद के ढेर पर लाकर खड़ा कर दिया। दोनों महाशक्तियों को यह समझते देर न लगी कि व्यापक विश्व में न विजेता रहेगें न विजित। सभी नष्ट हो जायेंगें। अस्तु तनाव-शैथिल्य का जो सूत्रपात हुआ वह मन्थर गति से आगे बढ़ा। क्यूबा संकट 1962 के बाद उष्णस्थली का क्रमिक शीतलीकरण हुआ और बढ़ती हुई देतांत प्रक्रिया के अन्तर्गत महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक संवाद सम्भव हुआ। इस प्रक्रिया का सूत्रपात रिचर्ड निक्सन के कार्यकाल में हुआ वह 22 मई 1972 को अपनी मास्को यात्रा पर गये। किसी भी अमेरिकी राष्ट्राध्यक्ष की यह पहली मास्को यात्रा थी। मास्को का उत्तर भी बड़ा सकारात्मक था। इसके बाद इस तरह के विचार विनिमय अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये जिससे महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक सार्थक संवाद सम्भव हुआ और शीत युद्ध में भारी कमी आयी। दिसम्बर 1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किये जाने से शीतयुद्ध में पुनः उग्रता आयी और इस प्रक्रिया को भारी धक्का लगा। किन्तु यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं बनी रही। सोवियत संघ में गोर्वाचोव के आगमन तथा ग्लासनोस्त (Openness) और पेरिस्त्रोइका (Reconstruction) की नीति से बंधा सोवियत संघ अपने आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों से बाध्य होकर पारस्परिक संवाद की प्रक्रिया में आगे बढ़ा (पश्चिम का उत्तर भी सकारात्मक रहा।) इस प्रकार शीत युद्ध की समाप्ति सम्भव हुई।

7.7.4.2 मिखाइल गोर्वाचोव के नेतृत्व का उदय

मार्च 1985 में गोर्वाचोव का उदय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक युगान्तकारी घटना थी। गोर्वाचोव ने अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को अपने ढंग से देखा और उसे अनूठे ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वह उष्ण स्थलों के शीतलीकरण और महाशक्तियों में रचनात्मक सहयोग और विश्व शान्ति के हिमायती थे। उन्होंने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर एक नयी सोच रखते हैं और परम्परागत सोवियत संकल्पना को अधिक उदारवादी और परिष्कृत ढंग से परिभाषित करते हैं। अफगानिस्तान से सोवियत चीनी सीमान्त पर कटौती का निर्णय, पूर्वी यूरोप में उदारवाद की लहर के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण, जर्मनी के पुर्नएकीकरण में उसका रचनात्मक सहयोग और संयुक्त राज्य के प्रति सकारात्मक सद्भाव और निःशस्त्रीकरण की दिशा में अभूतपर्व निर्णयों ने विश्व में गोर्वाचोव को महानायक बना दिया और उनके इस उदरवादी आचरण ने शीतयुद्ध की समाप्ति में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

7.7.4.3 पूर्वी यूरोप में उदारवाद का प्रारम्भ

पूर्वी यूरोप में द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त साम्यवादी शासन स्थापित हुआ था किन्तु यह साम्यवादी शासन वहां की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल न हो सका फलतः वहां उदारवाद

की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इस प्रक्रिया का सूत्रपात हंगरी व चेकोस्लोवाकिया से हुआ। 1956 में हंगरी में और वर्ष 1968 में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत संघ ने सैनिक हस्तक्षेप द्वारा इस उदारवादी लहर को ध्वस्त कर दिया था किन्तु सोवियत संघ में गोर्वाचोव के आगमन और वहाँ उदारवादी चिन्तन के उत्थान के साथ-साथ पूर्वी यूरोप में भी उदारवाद की प्रक्रिया का पुनः प्रारम्भ हुआ और साम्यवाद के अभेद्य दुर्ग ध्वस्त होने लगे। पोलैण्ड में जहां शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता का परिवर्तन हुआ वहीं रोमानिया में चाऊसेस्को को गोलियों से उड़ा दिया गया। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्वी यूरोप में साम्यवादी किले ध्वस्त होने लगे।

7.7.4.4 बर्लिन की दीवार का गिरना

यूरोप में स्थित बर्लिन की दीवार शीत युद्ध का प्रतीक मानी जाती थी। 9 नवम्बर 1989 को यह दीवार, जिसने बर्लिन शहर को दो भागों में बाँट रखा था, गिरा दी गई। इसके बाद पूर्वी जर्मनी के लोग बिना किसी रोक-टोक के पश्चिमी जर्मनी जाने लगे। उल्लेखनीय बात यह रही कि इस घटना का सोवियत संघ ने कोई विरोध नहीं किया।

7.7.4.5 जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी का विभाजन शीत युद्ध का एक प्रत्यक्ष प्रतिफल था। किन्तु अब पुर्नएकीकरण की प्रक्रिया बढ़ी। 31 अगस्त 1990 में पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी के नेताओं ने जर्मनी के एकीकरण की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। 12 सितम्बर को चारों महाशक्तियों ने इसे अनुमोदित दिया। पश्चिमी जर्मनी के ड्रेचिर मेशर, पूर्वी जर्मनी के लोथार-डी-मोजियरे, फ्रांस के रोला ज्यूमा, सोवियत विदेशमंत्री सेवनीट्जे, अमेरिकी विदेशमंत्री जेम्स ए. बेकर और ब्रिटेन के विदेश मंत्री डलगस हर्ट ने एकीकरण की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसमें तीन प्रतिबन्ध लगाये गये।

(प) जर्मनी की सेना 3 लाख 70 हज़ार सीमित कर दी गयी।

(पप) जर्मनी से वचन लिया गया कि वह अपनी वर्तमान सीमाओं में कोई परिवर्तन न कर सकेगा।

(पपप) सोवियत संघ की सेना को 1994 के अंत तक पूर्वी जर्मनी से पूरी तरह बाहर निकलने का निर्देश दिया गया।

इस प्रकार 3 अक्टूबर 1991 को जर्मनी की एकीकरण की प्रक्रिया पूरी हो गयी जिसने सारे अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को बदल दिया।

7.7.4.6 नाटो द्वारा शीत युद्ध समाप्ति की घोषणा

5-6 जुलाई 1990 को लंदन में आयोजित दो दिवसीय नाटो शिखर सम्मेलन में राष्ट्रपति बुश ने घोषणा की कि नाटो और वारसा पैक्ट देशों के बीच शीत युद्ध समाप्त हो चुका है। सोवियत संघ की आशंकाओं को दूर करने के लिए नाटो ने यह भी कहा कि जर्मनी में सैनिकों की संख्या घटाई जाएगी। जैसे-जैसे सोवियत संघ पूर्वी यूरोप से अपनी सेनाएँ हटाएगा, नाटो भी पश्चिमी जर्मनी से परमाणु हथियारों को हटाएगा। पश्चिमी जर्मनी ने भी आश्वासन दिया कि एकीकरण के बाद वह अपनी सेना को आधा कर देगा। साथ ही नाटो देशों ने वारसा पैक्ट देशों के सामने परमाणु हथियारों को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा।

7.7.4.7 वारसा पैक्ट और नाटो की ऐतिहासिक संधि

19 नवम्बर 1990 को नाटो और वारसा पैक्ट देशों के बीच एक ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर किए गए। इस समझौते में निरीक्षण और जाँच की व्यापक व्यवस्था की गई, ताकि कोई भी पक्ष इसका उल्लंघन न कर सके। 21 नवम्बर 1990 को शिखर बैठक सौहार्दपूर्ण वातावरण में समाप्त हुई। इसके बाद 1 जुलाई 1991 को वारसा पैक्ट को औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया।

7.7.4.8 पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त

जून 1987 में सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचेव ने आर्थिक और राजनीतिक सुधारों के लिए जो नीतियाँ अपनाईं, उन्हें पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त कहा गया।

पेरेस्त्रोइका का अर्थ था आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं का पुनर्गठन। इसके तहत निजी क्षेत्र में व्यापार को अनुमति दी गई और विदेशी निवेश के लिए रास्ते खोले गए। इसका उद्देश्य था कि सैन्य व्यय को कम करके संसाधनों को जनकल्याण और विकास कार्यों में लगाया जाए।

ग्लासनोस्त का अर्थ था खुलापन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। इसके अंतर्गत मीडिया पर सरकारी नियंत्रण में ढील दी गई और प्रकाशनों पर सेंसरशिप को समाप्त किया गया।

इन सुधारों का प्रभाव यह हुआ कि पूर्वी यूरोप के कई देशों में साम्यवादी शासन कमजोर पड़ने लगा। सोवियत संघ के विभिन्न गणराज्यों को भी मॉस्को के नियंत्रण से मुक्त होने की प्रेरणा मिली। अगस्त 1989 में एस्टोनिया, लातविया और लिथुआनिया में स्वतंत्रता की मांग को लेकर व्यापक प्रदर्शन हुए। धीरे-धीरे ये गणराज्य सोवियत संघ से अलग हो गए।

इस प्रकार राष्ट्रीयता की बढ़ती भावना और राजनीतिक-आर्थिक परिवर्तनों के कारण अंततः सोवियत संघ का विघटन हो गया और इसके साथ ही शीत युद्ध का भी समापन हो गया।

7.7.4.9 सोवियत संघ का आर्थिक संकट

द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त अपनी तमाम सार्वभौमिक ज़िम्मेदारियों के कारण साम्यवादी जगत की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपना पेट काटकर सोवियत संघ सामने आया। पूर्वी यूरोप के पुनर्निर्माण अन्य विभिन्न साम्यवादी देशों व विकासशील देशों को सैनिक व आर्थिक सहायता, वियतनाम व अफगानिस्तान में विपुल सैनिक एवं आर्थिक क्षमता का व्यय इसी पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है। रूसी साम्यवाद का प्रमुख संकट यह था कि उसे साम्राज्यवाद से शस्त्र होड़ करनी पड़ रही थी। पश्चिमी जगत कर्ज और व्यापार का जाल फैलाकर विकासशील देशों को जिस तरह लूटता है उससे शस्त्र होड़ करना सोवियत संघ के लिए आसान न था। क्योंकि उसे अकेले अपने राष्ट्रीय संसाधनों का विकास करना था, समाजवादी देशों को सहायता देनी थी, आज़ादी पाने या बनाये रखने के लिए संघर्षरत देशों का सहयोग करना था, आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र विकास के रास्ते पर चलने वाले विकासशील देशों को सहायता देनी थी। देश की आन्तरिक प्रगति व अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य को निभाते हुए साम्राज्यवादी देशों द्वारा थोपे गये शस्त्र होड़ के चक्रव्यूह पर भी उलझना था। ऐसी स्थिति में अपने संसाधनों के बल पर अमेरिका से होड़ लेना सोवियत संघ के लिए आसान न था। सोवियत संघ ने तीसरी दुनिया से अपने हित में न आर्थिक लाभ प्राप्त किया न 'ब्रेनड्रेन' ही किया। ब्रेनड्रेन का तात्पर्य तीसरी दुनिया के समर्थ मस्तिष्कों का अपहरण करना था। इन सब कारणों से सोवियत संघ ज़्यादा दिन तक अपने को अमेरिका के सम्मुख टिका न पाया। ज्यों-ज्यों वह आर्थिक संकट से ग्रस्त होता गया त्यों-त्यों पश्चिमी सहायता का याचक बन गया तथा उसने टकराव का रास्ता छोड़कर परस्पर वार्तालाप द्वारा अपनी समस्यायें सुलझाने की कोशिश की, और इस प्रकार शीतयुद्ध के एक पक्षकार के कमज़ोर पड़ने तथा रणभूमि से हटने के कारण शीतयुद्ध समाप्त हो गया।

7.8 आत्म-मूल्यांकन हेतु अभ्यास-वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1) शीतयुद्ध का प्रमुख साधन है-

अ) शान्ति और सुरक्षा ब) निशस्त्रीकरण

स) प्रचार द) शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व

2) शीतयुद्ध शब्द से आभास होता है-

अ) सैनिक प्रतिस्पर्धा ब) राजनैतिक अविश्वास

स) वैचारिक घृणा द) उपरोक्त सभी

3) मार्शल योजना का सम्बन्ध है-

अ) जर्मनी को सहायता ब) सोवियत संघ की सदस्यता

स) पश्चिमी यूरोप की आर्थिक सहायता द) पूर्वी यूरोप की सहायता

4) देतान्त का अर्थ है-

अ) महान शक्तियों के बीच सहयोग ब) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

स) तनाव की समाप्ति द) तनाव शैथिल्य

5) शीतयुद्ध किन दो विचारधाराओं के मध्य संघर्ष था?

अ) नाजीवादी और फासीवादी ब) पूंजीवादी और साम्यवादी

स) उदारवादी और मार्क्सवादी द) उपरोक्त सभी

7.9 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व दो प्रमुख गुटों-अमेरिका और सोवियत संघ- में बँट गया। जहाँ एक ओर पूँजीवादी विचारधारा थी वहीं दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा। इस कारण दोनों गुटों के बीच वैचारिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई जिसे शीत युद्ध का नाम दिया गया। यह अस्त्र-शस्त्रों से लड़ा जाने वाला प्रत्यक्ष युद्ध न होकर तनाव, प्रचार, हत्यारों की दौड़ और अप्रत्यक्ष संघर्षों का दौर था, जिसमें दोनों महाशक्तियाँ विश्व में अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने को प्रयासरत थीं। इस दौरान ट्रूमैन सिद्धांत, मार्शल योजना, बर्लिन की नाकाबन्दी, कोरिया और वियतनाम युद्ध जैसी घटनाओं ने शीत युद्ध के तनाव को और अधिक गहरा किया। शीतयुद्ध विभिन्न चरणों से गुजरता हुआ कभी तीव्र तनाव और कभी शिथिलता की स्थिति में रहा। शीतयुद्ध के प्रभाव से विश्व की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरचना पर गहरा असर पड़ा तथा अनेक देशों में गुटबन्दी और सैन्य गठबन्धनों का निर्माण हुआ। शीतयुद्ध के अन्त के प्रमुख कारणों में दोनों महाशक्तियों के मध्य संवाद की वृद्धि, सोवियत संघ में मिखाइल गोर्बाच्योब के सुधार, पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का धराशायी होना, बर्लिन की दीवार का गिरना तथा सोवियत संघ का विघटन आदि शामिल है। इस प्रकार जहाँ लगभग चार दशकों तक चले शीतयुद्ध का अन्त हुआ, वहीं विश्व में लोकतन्त्र की लहर ने इतनी तेजी से पैर पसारे की उसने साम्यवाद की जन्मस्थली सोवियत संघ को भी अछूता नहीं छोड़ा।

7.10 शब्दावली

शीत युद्ध- बिना अस्त्र-शस्त्रों का युद्ध

देतान्त- तनाव शैथिल्य

सामरिक - युद्ध विषयक

7.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1) स 2) द 3) स 4) द 5) ब

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1) शीत युद्ध का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके प्रमुख कारणों का उल्लेख कीजिए।

2) शीत युद्ध का अन्तरार्ष्टीय सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा?

3) निम्नांकित पर टिप्पणियाँ लिखिए।

1 टूमैन सिद्धान्त

2 जर्मनी की समस्या

3 बर्लिन की घेराबन्दी

4 उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन

4) शीत युद्ध की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए उन घटनाओं को बताइए, जिन्होंने शीत युद्ध को प्रभावित किया।

5) शीत युद्ध की समाप्ति के क्या कारण थे?

7.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Appadorai A (1981), “India’s Foreign Policy”, New Delhi: Oxford University Press.

2. Dixit, J. N. (200), India’s Foreign Policy, New Delhi: Picus Books.

3. Rajan, M.S. (1990), Non-alignment and Non-aligned Movement: Retrospect and Prospect, New Delhi: Vikas Publishing House Pvt Ltd.

4. Appadorai, A., M.S. Rajan (1985), India's Foreign Policy and Relations, New Delhi: South Asian Publishers.

5. Khanna, V. N. (2009). International Relations, 6E. New Delhi: Vikas Publishing House.

6. Basu, R. (2018). International Politics Concepts, Theories and Issues, New Delhi: Sage Publication.

7. वर्मा, दीनानाथ. (2016). अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध. नई दिल्लीः ज्ञानदा प्रकाशन (पी. एण्ड डी.).

8. पंत, पुष्पेश, जैन, श्रीपाल एवं पंचौला राखी. (2016). अंतर्राष्ट्रीय राजनीति. मेरठः मीनाक्षी प्रकाशन.

इकाई-8: शीतयुद्ध का अंत, नव शीतयुद्ध तथा विश्व राजनीति पर उसका प्रभाव

इकाई संरचना

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 शीत युद्ध का अंत
8.3.1. सोवियत संघ का आर्थिक पतन
8.3.2. मिखाइल गोर्बाचोव के सुधार
8.3.3. पूर्वी यूरोप में जन आंदोलनों का उभार
8.3.4. राष्ट्रवाद और आंतरिक असंतोष
8.3.5. हथियारों की दौड़ और सैन्य दबाव
8.3.6. बर्लिन की दीवार का पतन (1989)
8.3.7. सोवियत संघ का विघटन (1991)
8.4 नव शीत युद्ध
8.5 नव शीत युद्ध की विशेषताएँ
8.6 नव शीत युद्ध की प्रमुख घटनाएँ
8.6.1. अफगानिस्तान संकट और उसका प्रभाव (1979)
8.6.2. कम्पुचिया संकट (1979)
8.6.3. साल्ट-प्प् संधि की विफलता और स्थगन (1979)
8.6.4. अमेरिका तथा उसके सहयोगी देशों द्वारा मास्को ओलंपिक का बहिष्कार (1980)
8.6.5. रोनाल्ड रीगन की आक्रामक नीति (1981)
8.6.6. यूरोप में मिसाइल तैनाती और तनाव वृद्धि (1983)
8.6.7. स्टार वार्स कार्यक्रम (1983)
8.6.8. कोरियाई विमान हादसा (1983)
8.6.9. सोवियत संघ द्वारा लॉस एंजिल्स ओलंपिक खेलों का बहिष्कार (1984)
8.6.10. मिखाइल गोर्बाचोव का उदय और सुधारवादी नीतियाँ (1985)
8.7 पुराने और नए शीत युद्ध में भिन्नताएँ
8.7.1. विचारधारा का महत्व कम होना
8.7.2. संघर्ष के क्षेत्रों में परिवर्तन
8.7.3. सैन्य संगठनों के महत्व में कमी
8.7.4. द्विधुरवीय से बहुध्रुवीय विश्व में परिवर्तन
8.7.5. महाशक्तियों के बीच शक्ति-संतुलन की खाई का संकुचित होना

8.8 शीतयुद्ध का विश्व की राजनीति पर प्रभाव
8.9 सारांश
8.10 अभ्यास प्रश्न
8.11 प्रमुख शब्दावली
8.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.13 निबंधात्मक प्रश्न
8.14 संदर्भ ग्रंथ सूची
8.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.1 प्रस्तावना

आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विकासक्रम को समझने के लिए शीत युद्ध का उदय, उसका अंत, तथा उसके पश्चात उभरती नवीन अंतर्राष्ट्रीय संरचना अत्यंत महत्वपूर्ण विश्लेषणात्मक आधार प्रदान करती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य उत्पन्न वैचारिक, राजनीतिक तथा सामरिक प्रतिस्पर्धा ने वैश्विक शक्ति-संतुलन को द्विधुरवीय स्वरूप प्रदान किया। यह प्रतिस्पर्धा प्रत्यक्ष युद्ध के बजाय कूटनीतिक तनाव, हथियारों की होड़ तथा परोक्ष संघर्षों के रूप में अभिव्यक्त हुई, जिसे इतिहास में ''शीत युद्ध'' के नाम से जाना जाता है।

सन् 1962 में ''क्यूबा मिसाइल संकट'' के उपरांत शीत-युद्ध में शिथिलता आने लगी। 1970 के दशक की तनाव-शैथिल्य (देतांत) की नीति के माध्यम से संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच तनाव को कम करने के प्रयास किए गए थे, किंतु 1980 के दशक के प्रारंभ तक यह सहयोगात्मक वातावरण पुनः अविश्वास, प्रतिस्पर्धा और सामरिक टकराव में परिवर्तित हो गया। विशेष रूप से, अमेरिका में रोनाल्ड रीगन के सत्ता में आने के बाद अमेरिकी विदेश नीति अधिक आक्रामक और सोवियत-विरोधी हो गई। दूसरी ओर, सोवियत संघ ने भी अपनी सामरिक क्षमताओं को सुदृढ़ करने तथा वैश्विक प्रभाव बनाए रखने के प्रयास तेज कर दिए। महाशक्तियों के मध्य प्रतिस्पर्धा, वैचारिक मतभेद, हथियारों की होड़ में पुनः अभिवृद्धि होने लगी तथा ऐसा प्रतीत होने लगा कि शीत युद्ध वापस आ गया है। इस नए उभरते तनाव को ''नव शीत युद्ध'' ; (New Cold War) की संज्ञा दी गई।

इस कालखंड में सोवियत और अफगान युद्ध, यूरोप में मिसाइल तैनाती, तथा वैचारिक संघर्ष की तीव्रता ने वैश्विक राजनीति को पुनः द्विधुरवीय तनाव की ओर धकेल दिया। यद्यपि यह चरण पूर्ण युद्ध में परिवर्तित नहीं हुआ, फिर भी इसने शीत युद्ध की प्रतिस्पर्धा को नए आयाम प्रदान किए।

1991 में शीत युद्ध का अंत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। इसके बाद उत्पन्न नई वैश्विक संरचना, जिसे प्रारंभ में 'एकध्रुवीय विश्व' कहा गया, धीरे-धीरे 'बहुध्रुवीय विश्व' की ओर अग्रसर होने लगी।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम मुख्यतः शीत युद्ध की समाप्ति के कारण, नव शीत युद्ध की अवधारणा, नव शीत युद्ध की उत्पत्ति के कारण तथा प्रमुख घटनाएँ, तथा शीत युद्ध की समाप्ति का विश्व राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नांकित को समझने में सक्षम हो सकेंगेः

- शीत युद्ध के अंत के प्रमुख कारण।
- नव शीत युद्ध।
- नव शीत युद्ध की विशेषताएँ।
- नव शीत युद्ध के समय की प्रमुख घटनाएँ।
- नये और पुराने शीत युद्ध के मध्य अंतर।
- शीत युद्ध का विश्व की राजनीति पर प्रभाव।

8.3 शीत युद्ध का अंत

शीत युद्ध का अंत 20वीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं में से एक था। यह केवल दो महाशक्तियों-अमेरिका और सोवियत संघ-के बीच संघर्ष का अंत नहीं था, बल्कि वैश्विक राजनीति, अर्थव्यवस्था और विचारधारा में व्यापक परिवर्तन का प्रतीक भी था। शीत युद्ध की शुरुआत 1945 में हुई, जब मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी और अन्य धुरी शक्तियों को पराजित किया। उस समय यह उम्मीद की जा रही थी कि ये देश आगे भी आपसी सहयोग बनाए रखेंगे और विश्व में स्थायी शांति स्थापित होगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। विजयी राष्ट्रों के बीच वैचारिक मतभेद बढ़ने लगे, जिसके कारण वे दो विरोधी गुटों में बंट गए और उनके संबंधों में तनाव स्पष्ट दिखने लगा।

इन्हीं परिस्थितियों से शीत युद्ध का उदय हुआ, जो लगभग 45 वर्षों तक चलता रहा। धीरे-धीरे यह वैश्विक राजनीति का एक सामान्य हिस्सा बन गया, और आम लोगों को लगने लगा कि पूर्व और पश्चिम के बीच का यह संघर्ष शायद कभी समाप्त नहीं होगा। हालांकि, 1991 में यह संघर्ष अप्रत्याशित रूप से समाप्त हो गया। उस समय न तो पश्चिमी गुट को अपनी जीत का पूरा भरोसा था

और न ही पूर्वी गुट अपनी हार मानने को तैयार था, बल्कि उसे अभी भी विश्वास था कि पूँजीवादी व्यवस्था अंततः विफल हो जाएगी। शीत युद्ध के अंत का श्रेय मुख्य रूप से दो प्रमुख नेताओं- रोनाल्ड रीगन और मिखाइल गोर्बाचोव- को दिया जाता है, जिनके प्रयासों और नीतिगत बदलावों ने इस लंबे संघर्ष को समाप्त करने में निर्णायक भूमिका निभाई।

शीत युद्ध के अंत के पीछे कई गहरे और परस्पर जुड़े कारण थे, जिन्हें विस्तार से समझना आवश्यक है।

8.3.1. सोवियत संघ का आर्थिक पतन

शीत युद्ध के अंत का सबसे महत्वपूर्ण कारण सोवियत संघ की गिरती हुई अर्थव्यवस्था थी। सोवियत मॉडल मुख्य रूप से केंद्रीकृत योजना पर आधारित था, जिसमें उत्पादन और वितरण पर सरकार का पूरा नियंत्रण था। शुरुआत में यह प्रणाली सफल रही, लेकिन समय के साथ यह अप्रभावी साबित हुई। इसके अतिरिक्त, शीत युद्ध के दौरान सोवियत संघ की विदेश नीति रक्षा केंद्रित हो गई, दशकों तक सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ हथियारों की होड़ में लगा रहा। परमाणु हथियारों और पारंपरिक सैन्य बलों की मात्रा और गुणवत्ता दोनों के मामले में अमेरिकी सेना की बराबरी के प्रयास ने सोवियत अर्थव्यवस्था पर भारी दबाव डाला। रक्षा खर्च इतना अधिक था कि देश के विकास और जनता की जरूरतों के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं बच पाए। परिणामस्वरूप, खाद्य पदार्थों की कमी, तकनीकी पिछड़ापन और जीवन स्तर में गिरावट देखने को मिली। इससे जनता में असंतोष बढ़ता गया, जिसने अंततः व्यवस्था को कमजोर कर दिया।

8.3.2. मिखाइल गोर्बाचोव के सुधार

शीत युद्ध के अंत में नेतृत्व की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही, विशेषकर मिखाइल गोर्बाचोव की। मार्च 1985 में कॉन्स्टांतिन चेरनेंको के निधन के बाद मिखाइल गोर्बाच्योव ने सोवियत संघ की सत्ता संभाली। उनकी उदार और शांतिपूर्ण नीतियों ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की दिशा ही बदल दी।

गोर्बाच्योव ने कट्टर साम्यवादी नीतियों का विरोध करते हुए सोवियत व्यवस्था को पश्चिमी देशों के समान बनाने का प्रयास किया। उन्होंने ग्लासनोस्त (खुलापन और लोकतंत्र) तथा पेरेस्त्रोइका (बाजार आधारित आर्थिक पुनर्गठन) की नीतियाँ लागू कीं, जिनका उद्देश्य निजी पूँजी, निजी उद्यम और भूमि के निजी स्वामित्व को बढ़ावा देना था। ग्लासनोस्त (खुलापन और लोकतंत्र) तथा पेरेस्त्रोइका (बाजार आधारित आर्थिक पुनर्गठन) की नीतियों के माध्यम से गोर्बाचोव ने सोवियत अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने और राजनीतिक प्रणाली को अधिक पारदर्शी बनाने का प्रयास किया, लेकिन इनसे सरकार का नियंत्रण कमजोर हो गया और जनता में अधिक स्वतंत्रता की मांग बढ़ने लगी।

गोर्बाचोव की ''New Thinking'' विदेश नीति ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके तहत उन्होंने पश्चिम के साथ टकराव को कम करने और सहयोग बढ़ाने का प्रयास किया।

8.3.3. पूर्वी यूरोप में जन आंदोलनों का उभार

1980 के दशक के अंत में पूर्वी यूरोप के देशों में व्यापक जन आंदोलनों का उभार हुआ, जिसने वहाँ की कम्युनिस्ट सरकारों को समाप्त कर दिया। यह घटनाएँ मुख्य रूप से 1989 के आसपास तेज हुईं।

सबसे पहले पोलैंड में श्रमिक संगठन सॉलिडेरिटी के नेतृत्व में आंदोलन शुरू हुआ। 1989 में वहाँ आंशिक रूप से स्वतंत्र चुनाव हुए, जिनमें कम्युनिस्ट पार्टी को हार का सामना करना पड़ा और गैर-कम्युनिस्ट सरकार बनी। चेकोस्लोवाकिया में 1989 में वेलवेट रिवोल्यूशन के माध्यम से शांतिपूर्ण ढंग से कम्युनिस्ट शासन समाप्त हुआ। इसके बाद हंगरी ने 1989 में अपनी सीमाएँ खोल दीं और बहुदलीय लोकतंत्र की ओर बढ़ा। इसी वर्ष पूर्वी जर्मनी में बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए, जिसके परिणामस्वरूप बर्लिन दीवार का पतन हुआ। इसके बाद 1990 में जर्मनी का एकीकरण हुआ।

इन आंदोलनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि सोवियत संघ ने पहले की तरह सैन्य हस्तक्षेप नहीं किया। सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव ने ''ग्लासनोस्त'' और ''पेरेस्त्रोइका'' की नीतियाँ अपनाईं और यह सिद्धांत दिया कि हर देश को अपना भविष्य स्वयं तय करने का अधिकार है (इसे कभी-कभी ''सिनात्रा डॉक्ट्रिन'' भी कहा जाता है)। इसके परिणामस्वरूप, 1989-1991 के बीच पूर्वी यूरोप के लगभग सभी कम्युनिस्ट शासन गिर गए और उनकी जगह लोकतांत्रिक सरकारें स्थापित हो गईं। इससे सोवियत संघ का प्रभाव क्षेत्र तेजी से घट गया और अंततः 1991 में सोवियत संघ का विघटन हो गया।

इस प्रकार, पूर्वी यूरोप के जन आंदोलनों ने शीत युद्ध के अंत और विश्व राजनीति में एक नए युग की शुरुआत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

8.3.4. राष्ट्रवाद और आंतरिक असंतोष

सोवियत संघ एक बहु-राष्ट्रीय राज्य था, जिसमें विभिन्न जातीय, भाषाई और सांस्कृतिक समूह शामिल थे। लंबे समय तक केंद्र सरकार ने इन विविधताओं को कड़े नियंत्रण के माध्यम से एकजुट बनाए रखा। लेकिन 1980 के दशक के अंत में, जब मिखाइल गोर्बाचोव ने ग्लासनोस्त (खुलापन) और पेरेस्त्रोइका (पुनर्गठन) जैसी नीतियाँ लागू कीं, तब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ी और क्षेत्रीय असंतोष खुलकर सामने आने लगा।

इस दौरान विभिन्न गणराज्यों में राष्ट्रवादी भावनाएँ तेजी से उभरने लगीं। विशेष रूप से लिथुआनिया, एस्टोनिया और लातविया जैसे बाल्टिक गणराज्यों ने सबसे पहले स्वतंत्रता की मांग

की। लिथुआनिया ने 1990 में खुद को स्वतंत्र घोषित कर दिया, जिसके बाद अन्य गणराज्यों ने भी इसी दिशा में कदम बढ़ाए।

इन राष्ट्रवादी आंदोलनों के कारण केंद्र की शक्ति लगातार कमजोर होती गई और सोवियत संघ की एकता पर गहरा असर पड़ा। अंततः दिसंबर 1991 में सोवियत संघ का विघटन हो गया और इसके स्थान पर कई स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय हुआ।

8.3.5. हथियारों की दौड़ और सैन्य दबाव

शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच परमाणु हथियारों और सैन्य शक्ति की तीव्र प्रतिस्पर्धा कई दशकों तक चलती रही। 1945 में अमेरिका द्वारा परमाणु बम बनाए जाने के उपरांत 1949 में सोवियत संघ ने भी परमाणु परीक्षण कर लिया, जिससे दोनों देशों के बीच हथियारों की दौड़ शुरू हो गई। धीरे-धीरे यह प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ गई कि 1980 के दशक तक सोवियत संघ के पास लगभग 40,000 से अधिक और अमेरिका के पास लगभग 23,000 परमाणु हथियार हो गए। इस दौड़ में दोनों देशों ने भारी मात्रा में धन खर्च किया, लेकिन जहाँ अमेरिका अपनी मजबूत और विकसित अर्थव्यवस्था के कारण इस बोझ को संभाल सका, वहीं सोवियत संघ को अपनी जी0डी0पी0 का लगभग 15-25 प्रतिशत रक्षा पर खर्च करना पड़ रहा था, जिससे उसकी अर्थव्यवस्था कमजोर होने लगी। स्थिति और कठिन तब हो गई जब 1983 में रोनाल्ड रीगन ने सामरिक रक्षा पहल SDI, जिसे ‘‘स्टार वार्स’’ के नाम से भी जाना जाता है, की शुरुआत की। इस योजना का उद्देश्य अंतरिक्ष में ऐसी तकनीक विकसित करना था जो दुश्मन की मिसाइलों को हवा में ही नष्ट कर सके। इससे सोवियत संघ पर अतिरिक्त दबाव पड़ा, क्योंकि उसे भी ऐसी महंगी तकनीक विकसित करनी पड़ती या अपनी सुरक्षा को जोखिम में डालना पड़ता। इन परिस्थितियों को देखते हुए मिखाइल गोर्बाचोव ने यह समझ लिया कि हथियारों की इस दौड़ को जारी रखना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने अमेरिका के साथ संबंध सुधारने और तनाव कम करने की नीति अपनाई।

इसके परिणामस्वरूप, 1987 में मध्यम दूरी परमाणु शक्ति संधि ; (INF Treaty) और 1991 में START I जैसे समझौते किए गए, जिनका उद्देश्य परमाणु हथियारों को कम करना था। इस प्रकार, हथियारों की दौड़ और बढ़ते सैन्य दबाव ने सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था को कमजोर कर दिया और अंततः उसके पतन और शीत युद्ध के अंत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

8.3.6. बर्लिन की दीवार का पतन (1989)

बर्लिन की दीवार शीत युद्ध के दौरान विभाजित विश्व का प्रतीक थी। यह पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच वैचारिक विभाजन को दर्शाती थी। 1989 में जब यह दीवार गिराई गई, तो यह एक ऐतिहासिक घटना बन गई।

दीवार का गिरना न केवल जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि कम्युनिस्ट व्यवस्था कमजोर हो चुकी है और लोग स्वतंत्रता चाहते हैं। यह घटना शीत युद्ध के अंत का प्रतीक बन गई।

8.3.7. सोवियत संघ का विघटन (1991)

1991 में सोवियत संघ आधिकारिक रूप से टूट गया और 15 स्वतंत्र देशों में विभाजित हो गया। यह घटना शीत युद्ध के अंत का अंतिम चरण था। सोवियत संघ के विघटन के साथ ही अमेरिका और सोवियत संघ के बीच की द्विधुरवीय शक्ति संरचना समाप्त हो गई। अब अमेरिका एकमात्र महाशक्ति के रूप में उभरा।

8.4 नव शीतयुद्ध (1979-86)

नव शीत युद्ध (New Cold War) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वह चरण है जो 1979 से 1986 के बीच विकसित हुआ, जब संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच संबंधों में पुनः तीव्र तनाव उत्पन्न हो गया। 1960 और 1970 के दशकों में दोनों महाशक्तियों के बीच सहयोग और संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया, जिसे तनाव-शैथिल्य (देतांत) के नाम से जाना जाता है। तनाव-शैथिल्य या देतांत से तात्पर्य एक ऐसी नीति से है जिसके अंतर्गत विरोधी देशों के बीच तनाव कम करने, आपसी संबंधों को सुधारने और शांति बनाए रखने के लिए कूटनीतिक तथा सहयोगात्मक कदम उठाए जाते है। शीतयुद्ध काल में महाशक्तियों के बीच तनाव शैथिल्य की दिशा में अनेक प्रयास किये गये। 'देतांत' के दौर में दोनों महाशक्तियों के बीच आपसी रिश्ते सुधारने की दिशा में कई महत्वपूर्ण समझौते हुए, जिन्हें इस युग की प्रमुख उपलब्धियों के रूप में देखा जाता है। इनमें 1963 की सीमित परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि, 1968 की परमाणु अप्रसार संधि, 1970 का मास्को-बोन समझौता, 1971 का बर्लिन समझौता तथा साल्ट वार्ताएं (1971 की साल्ट-I संधि और 1979 की साल्ट-II संधि) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु देतांत युग के प्रयास स्थायी नहीं रह सके। 1979 के बाद परिस्थितियाँ तेजी से बदलीं और प्रतिस्पर्धा, अविश्वास तथा सैन्य टकराव की प्रवृत्ति फिर से प्रबल हो गई, जिसे ''नव शीत युद्ध'' अथवा ''द्वितीय शीत युद्ध'' की संज्ञा दी जाती है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि तथाकथित ''नया शीत युद्ध'' वास्तव में कोई अलग या दूसरा शीत युद्ध नहीं है, बल्कि पहले शीत युद्ध का ही एक और चरण है। इसके विपरीत, फ्रेड हेलीडे और के. सुब्रहमण्यम जैसे विश्लेषकों का तर्क है कि दोनों की प्रकृति में बुनियादी अंतर हैं, इसलिए इन्हें अलग-अलग समझना चाहिए।

सुब्रहमण्यम के अनुसार, पहले और दूसरे शीत युद्ध के बीच विशेष रूप से विकासशील देशों के व्यवहार के संदर्भ में दो प्रमुख अंतर दिखाई देते हैं। पहला, प्रारंभिक शीत युद्ध के समय सोवियत संघ के पास ऐसी सशक्त नौसैनिक क्षमता नहीं थी जो विश्व के सभी समुद्रों में प्रभावी रूप से सक्रिय हो सके। इस कारण उसकी शक्ति का वैश्विक प्रभाव सीमित था, खासकर अमेरिका के दृष्टिकोण से। दूसरा महत्वपूर्ण अंतर यह है कि उपनिवेशवाद के अंत के बाद विकासशील देशों ने अपने प्राकृतिक संसाधनों पर राजनीतिक और कानूनी अधिकार स्थापित कर लिए। इसके साथ ही, उन्हें इन संसाधनों के उपयोग के लिए सोवियत समाजवादी खेमे से वैकल्पिक तकनीकी सहायता भी उपलब्ध होने लगी, जिससे उनकी स्वतंत्र भूमिका और मजबूत हुई।

8.5 नव शीत युद्ध की विशेषताएँ

नव शीत युद्ध (1979-1986) शीत युद्ध का वह उग्र चरण था, जिसमें 1970 के दशक की देतांत नीति का अंत होकर महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा, अविश्वास और सैन्य तनाव पुनः चरम पर पहुँच गया। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

8.5.1. देतांत (तनाव-शिथिलीकरण) का अवसान और टकराव की पुनर्स्थापना

नव शीत युद्ध की एक प्रमुख विशेषता देतांत (तनाव-शिथिलीकरण) की नीति का अवसान था, जिसने 1970 के दशक में शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच सहयोग और संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया था। किन्तु 1979 में सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैन्य हस्तक्षेप तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों के कारण यह नीति समाप्त हो गई। इसके परिणामस्वरूप महाशक्तियों के बीच पारस्परिक विश्वास का ह्रास हुआ और उसकी जगह संदेह, प्रतिस्पर्धा तथा शक्ति-प्रदर्शन की प्रवृत्तियाँ पुनः उभर आई, फलतः कूटनीतिक संवाद कमजोर पड़ गया और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पुनः तीव्र द्विध्रुवीय टकराव, वैचारिक संघर्ष तथा सैन्य प्रतिस्पर्धा की दिशा में अग्रसर हो गई, जो नव शीत युद्ध की मूल विशेषता के रूप में परिलक्षित होती है।

8.5.2. प्रॉक्सी युद्धों का व्यापक प्रसार

नव शीत युद्ध में प्रॉक्सी युद्धों का व्यापक प्रसार हुआ, जिसके अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ने प्रत्यक्ष सैन्य टकराव से बचते हुए एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने समर्थक गुटों, सरकारों या विद्रोही शक्तियों को आर्थिक, सामरिक एवं सैन्य सहायता प्रदान की। इसके परिणामस्वरूप स्थानीय संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर गए और उनकी तीव्रता तथा अवधि दोनों में वृद्धि हुई, साथ ही ये युद्ध महाशक्तियों की वैश्विक प्रतिस्पर्धा और प्रभाव-विस्तार के साधन बन गए।

8.5.3. सैन्य प्रतिस्पर्धा और शस्त्रीकरण का तीव्र विस्तार

नव शीत युद्ध की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता सैन्य प्रतिस्पर्धा और शस्त्रीकरण का तीव्र विस्तार था, जिसके अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ने परमाणु हथियारों, मध्यम दूरी की मिसाइलों तथा उन्नत सैन्य तकनीकों के विकास और तैनाती में अभूतपूर्व वृद्धि की। यह प्रतिस्पर्धा केवल सामरिक श्रेष्ठता प्राप्त करने तक सीमित नहीं रही, बल्कि वैश्विक शक्ति-संतुलन को प्रभावित करने का प्रमुख साधन बन गई, फलतः अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा-परिदृश्य अत्यंत अस्थिर और भयावह हो उठा, तथा परमाणु युद्ध की आशंका ने विश्व राजनीति को निरंतर तनावग्रस्त बनाए रखा।

8.5.4. आक्रामक अमेरिकी विदेश नीति और तकनीकी सैन्य विस्तार

नव शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति में स्पष्ट सामरिक आक्रामकता और वैचारिक दृढ़ता परिलक्षित होती है। राष्ट्रपति रीगन ने सोवियत संघ के प्रति कठोर रुख अपनाते हुए उसे ''दुष्ट साम्राज्य'' ;(Evil Empire) की संज्ञा दी तथा 1983 में सामरिक रक्षा पहल की घोषणा कर पारंपरिक सैन्य प्रतिस्पर्धा को एक नए तकनीकी आयाम में विस्तारित कर दिया।

8.5.5. कूटनीतिक संवाद का अवरोध और सांस्कृतिक बहिष्कार

नव शीत युद्ध की एक प्रमुख विशेषता के रूप में इस अवधि में महाशक्तियों के बीच कूटनीतिक संवाद का स्पष्ट अवरोध दिखाई देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य वार्ताएँ तथा हथियार-नियंत्रण संबंधी समझौते लगभग ठप हो गए, जिससे पारस्परिक विश्वास में गिरावट आई। साथ ही 1980 (मॉस्को) और 1984 (लॉस एंजेलिस) ओलंपिक खेलों के पारस्परिक बहिष्कार ने यह दर्शाया कि राजनीतिक प्रतिस्पर्धा केवल सामरिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही, बल्कि सांस्कृतिक और वैश्विक जन-आंदोलनों तक भी विस्तारित हो गई।

8.6 नव शीत युद्ध की प्रमुख घटनाएँ

"नव शीत युद्ध" शीत युद्ध के दूसरे चरण का वह दौर है जिसमें महाशक्तियों- संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ- के बीच तनाव पुनः तीव्र हो गया। यह केवल कूटनीतिक मतभेद नहीं था, बल्कि सैन्य, वैचारिक और भू-राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का उग्र रूप था। इस कालक्रम की मुख्य घटनाएं निम्नवत है-

8.6.1. अफगानिस्तान संकट और उसका प्रभाव (1979)

1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में किया गया सैन्य हस्तक्षेप न केवल एक क्षेत्रीय राजनीतिक घटना थी, बल्कि इसे नव शीत युद्ध की वास्तविक शुरुआत का प्रमुख बिंदु माना जाता

है। 1970 के दशक में महाशक्तियों के बीच ''देतांत'' (तनाव-शिथिलता) की नीति के तहत संबंधों में कुछ हद तक सुधार हुआ था, किंतु 1978 की ''सौर क्रांति'' के बाद अफगानिस्तान में उत्पन्न अस्थिरता और साम्यवादी शासन की रक्षा के लिए सोवियत हस्तक्षेप ने इस संतुलन को पूरी तरह समाप्त कर दिया। दिसंबर 1979 में सोवियत सेना ने हस्तक्षेप करते हुए हाफिजुल्लाह अमीन को हटाकर बाबरक कारमल को सत्ता में स्थापित किया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि सोवियत संघ अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए प्रत्यक्ष सैन्य शक्ति का प्रयोग करने को तैयार है।

इस घटना को संयुक्त राज्य अमेरिका ने वैश्विक शक्ति संतुलन के लिए गंभीर चुनौती के रूप में देखा और इसे सोवियत विस्तारवाद का प्रतीक माना। परिणामस्वरूप, अमेरिका ने ''देतांत'' की नीति को त्यागते हुए कठोर रुख अपनाया और पाकिस्तान के माध्यम से अफगान मुजाहिदीन (आतंकवादी समूह) को व्यापक आर्थिक और सैन्य सहायता प्रदान की। यह सहायता सीआईए के गुप्त अभियान ''आपरेशन साइक्लोन'' के अंतर्गत दी गई, जिसने इस संघर्ष को एक दीर्घकालिक प्रॉक्सी वॉर में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार अफगानिस्तान महाशक्तियों के बीच वैचारिक और सामरिक प्रतिस्पर्धा का केंद्र बन गया, जो नव शीत युद्ध की प्रमुख विशेषता थी।

अफगान संकट ने नव शीत युद्ध की उन प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया, जिनमें प्रत्यक्ष युद्ध के स्थान पर अप्रत्यक्ष संघर्ष, क्षेत्रीय युद्धों में हस्तक्षेप, और तीसरी दुनिया के देशों में प्रभाव स्थापित करने की होड़ शामिल थी। इस युद्ध के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान में व्यापक विनाश, जनहानि और विस्थापन हुआ, साथ ही कट्टरपंथी संगठनों जैसे अल-कायदा के उदय की पृष्ठभूमि भी तैयार हुई। दूसरी ओर, यह संघर्ष सोवियत संघ के लिए आर्थिक और राजनीतिक रूप से अत्यंत महंगा सिद्ध हुआ, जिसने उसकी आंतरिक कमजोरियों को उजागर किया और अंततः उसके विघटन (1991) की प्रक्रिया को तेज किया।

8.6.2. कम्पुचिया संकट (1979)

कम्पुचिया संकट नव शीत युद्ध का एक अन्य महत्वपूर्ण घटनाक्रम था, जिसने दक्षिण-पूर्व एशिया में महाशक्तियों के बीच तनाव को और अधिक बढ़ा दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात कम्पुचिया (वर्तमान में कंबोडिया) ने नरोदम सिहानुक के नेतृत्व में स्वयं को गुटनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में स्थापित किया, लेकिन 1970 में लोन नोल द्वारा सिहानुक को अपदस्थ कर सत्ता संभालने से देश में अस्थिरता उत्पन्न हो गई। इसके बाद 1975 में खमेर रूज ने सत्ता पर कब्जा कर लिया और पोल पोट के नेतृत्व में एक कट्टर माओवादी शासन स्थापित हुआ, जिसने देश के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को पूरी तरह नष्ट कर दिया। इस दौरान लगभग 17 से 20 लाख लोगों की मृत्यु हुई, जिसे कंबोडियन नरसंहार के नाम से जाना जाता है। खमेर रूज की आक्रामक नीतियों और सीमा संघर्षों के कारण वियतनाम के साथ तनाव बढ़ गया, जिसके

परिणामस्वरूप दिसंबर 1978 में वियतनाम ने कम्पुचिया पर आक्रमण किया और जनवरी 1979 में पोल पोट शासन को समाप्त कर दिया, जिसे वियतनाम का कंबोडिया पर आक्रमण कहा जाता है। इस हस्तक्षेप ने द्वितीय शीत युद्ध के संकट को और गहरा कर दिया, क्योंकि सोवियत संघ ने वियतनाम का समर्थन किया, जबकि चीन ने खमेर रूज का पक्ष लिया और 1979 में चीन-वियतनाम युद्ध छिड़ गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी वियतनाम के इस हस्तक्षेप का विरोध किया, क्योंकि इससे दक्षिण-पूर्व एशिया में शक्ति संतुलन बदल रहा था और सोवियत समर्थित वियतनाम एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभर रहा था। इस प्रकार, कम्पुचिया संकट ने न केवल हिन्द-चीन क्षेत्र में वियतनाम के प्रभुत्व को स्थापित किया, बल्कि चीन-सोवियत प्रतिद्वंद्विता को भी तीव्र कर दिया और द्वितीय शीत युद्ध की वैश्विक राजनीति को और अधिक जटिल बना दिया।

8.6.3. साल्ट-II संधि की विफलता और स्थगन (1979)

जिमी कार्टर और ब्रेझनेव के बीच 1979 में SALT-II (रणनीतिक हथियार सीमितीकरण वार्ता-प्प्), महाशक्तियों के बीच परमाणु हाथियारों की होड़ को नियंत्रित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास था। इस संधि का उद्देश्य रणनीतिक परमाणु हथियारों और भारी बमवर्षकों की संख्या सीमित करना तथा MIRVs (Multiple Independently Targetable Re-entry Vehicle) के विस्तार पर नियंत्रण स्थापित करना था। किन्तु दिसम्बर 1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में सैन्य हस्तक्षेप ने अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को अचानक बदल दिया। इसके परिणामस्वरूप, संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट ने संधि के अनुमोदन की प्रक्रिया को अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया। यद्यपि दोनों पक्षों ने कुछ समय तक अनौपचारिक रूप से इसके प्रावधानों का पालन किया, फिर भी SALT-II का प्रभावी क्रियान्वयन नहीं हो सका।

8.6.4. अमेरिका तथा उसके सहयोगी देशों द्वारा मास्को ओलंपिक का बहिष्कार (1980)

1980 में ग्रीष्मकालीन ओलंपिक खेलों का आयोजन मॉस्को शहर में किया गया। यह पहला अवसर था जब ओलंपिक खेलों का आयोजन किसी समाजवादी देश में किया गया। लेकिन ये ओलंपिक खेल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र बन गए।

1979 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान पर सैन्य आक्रमण की पश्चिमी देशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका, में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अमेरिकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने सोवियत संघ के इस कदम का विरोध करते हुए मॉस्को ओलंपिक का बहिष्कार करने का निर्णय लिया। उनका उद्देश्य सोवियत संघ पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव बनाना था। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने ओलंपिक के बहिष्कार की घोषणा की और अपने सहयोगी देशों से भी इसमें शामिल नहीं होने का आह्वान किया। परिणामस्वरूप लगभग 65 देशों ने इन खेलों का बहिष्कार किया, जिससे प्रतियोगिता की गुणवत्ता और वैश्विक प्रतिनिधित्व दोनों प्रभावित हुए। इस घटना ने यह स्पष्ट किया कि ओलंपिक

जैसे अंतर्राष्ट्रीय खेल भी वैश्विक राजनीति और वैचारिक संघर्ष-विशेषकर पूंजीवाद और साम्यवाद-से अछूते नहीं रह सकते। इसके प्रतिशोध स्वरूप सोवियत संघ और उसके सहयोगी देशों ने 1984 में लॉस एंजिल्स में आयोजित ओलंपिक खेलों का बहिष्कार किया। इस प्रकार, 1980 का मॉस्को ओलंपिक केवल एक खेल आयोजन नहीं था, बल्कि यह शीत युद्ध के दौर में ''स्पोर्ट्स डिप्लोमेसी" और शक्ति-राजनीति के प्रभाव का एक **महत्वपूर्ण उदाहरण बन गया।**

8.6.5. रोनाल्ड रीगन की आक्रामक नीति (1981)

रोनाल्ड रीगन के 1981 में सत्ता में आने के बाद अमेरिका की विदेश नीति अधिक आक्रामक और कठोर हो गई। रीगन ने सोवियत संघ को ''दुष्ट साम्राज्य ; (Evil Empire) कहकर साम्यवाद के खिलाफ अपनी सख्त वैचारिक स्थिति स्पष्ट कर दी। उन्होंने अमेरिकी सैन्य बजट में भारी वृद्धि की, जिससे आधुनिक हथियारों और परमाणु शक्ति का तेजी से विकास हुआ और सोवियत संघ पर हथियारों की दौड़ में बने रहने का दबाव बढ़ा। इसी दिशा में 1983 में उन्होंने सामरिक रक्षा पहल (SDI) या ; (Star Wars Program) की शुरुआत की, जिसका उद्देश्य अंतरिक्ष में आधारित रक्षा प्रणाली के माध्यम से दुश्मन की मिसाइलों को हवा में ही नष्ट करना था। इसके अलावा, रीगन ने विश्व के विभिन्न हिस्सों में साम्यवाद को रोकने के लिए हस्तक्षेप की नीति अपनाई, जैसे अफगानिस्तान में सोवियत विरोधी ताकतों को समर्थन देना। हालांकि प्रारंभ में उनकी नीति टकरावपूर्ण थी, लेकिन बाद में उन्होंने सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव के साथ वार्ता कर परमाणु हथियारों को सीमित करने की दिशा में कदम उठाए, जिससे अंततः शीत युद्ध के अंत का मार्ग प्रशस्त हुआ।

8.6.6. यूरोप में मिसाइल तैनाती और तनाव वृद्धि (1983)

1983 में ''नए शीत युद्ध" के चरम चरण के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप में Pershing II मिसाइल तथा क्रूज़ मिसाइलों की तैनाती प्रारंभ की। यह कदम NATO की 'ड्यूल-ट्रैक नीति' (1979) का हिस्सा था, जिसके अंतर्गत एक ओर सोवियत संघ के साथ हथियार नियंत्रण वार्ता जारी रखनी थी, जबकि दूसरी ओर सैन्य शक्ति को भी सुदृढ़ करना था। अमेरिका की इस रणनीति का उद्देश्य सोवियत संघ द्वारा पहले से तैनात मध्यम दूरी की परमाणु मिसाइलों के प्रभाव को संतुलित करना और यूरोप में सामरिक संतुलन स्थापित करना था।

इसके प्रत्युत्तर में सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में SS-20 मिसाइल की तैनाती को न केवल बनाए रखा बल्कि उसे और अधिक मजबूत किया। SS-20 मिसाइल तकनीकी दृष्टि से अत्यंत विकसित, गतिशील और बहु-लक्ष्यभेदी (MIRV) क्षमता से युक्त थीं, जो एक साथ कई लक्ष्यों को निशाना बना सकती थीं। इस प्रकार दोनों महाशक्तियों के बीच ''मिसाइल प्रतिस्पर्धा" तेज हो गई, जिसने यूरोप को संभावित परमाणु युद्ध का मुख्य क्षेत्र बना दिया।

इस सैन्य प्रतिस्पर्धा के कारण यूरोप में व्यापक जन-विरोध भी उभरा, जहाँ लाखों लोगों ने परमाणु हथियारों के विरुद्ध आंदोलन किए। समग्र रूप से, 1983 की यह मिसाइल तैनाती न केवल महाशक्तियों के बीच अविश्वास और तनाव को चरम पर ले गई, बल्कि वैश्विक स्तर पर परमाणु युद्ध की आशंका को भी अत्यधिक गंभीर बना दिया।

8.6.7. स्टार वार्स कार्यक्रम (1983)

1983 में रोनाल्ड रीगन ने सामरिक रक्षा पहल "Strategic Defence Initiative" (SDI) की घोषणा की, जिसे लोकप्रिय रूप से ''स्टार वार्स प्रोग्राम'' भी कहा गया। यह पहल पारंपरिक प्रतिरोध (deterrence)की नीति से आगे बढ़कर एक ऐसी उन्नत रक्षा प्रणाली विकसित करने का प्रयास थी, जिसका उद्देश्य अंतरिक्ष आधारित तकनीकों-जैसे उपग्रहों, लेज़र और मिसाइल-रोधी प्रणालियों- की सहायता से शत्रु के बैलिस्टिक मिसाइल हमलों को प्रक्षेपण के बाद ही नष्ट करना था। इसके अतिरिक्त, इस घोषणा का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक-सामरिक उद्देश्य सोवियत संघ को तकनीकी एवं आर्थिक रूप से ऐसी प्रतिस्पर्धा में धकेलना था जिसमें उसके संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ सके।

इस योजना ने वैश्विक सामरिक संतुलन की अवधारणा, विशेषकर ''पारस्परिक सुनिश्चित विनाश'' ;डाक्द्ध को चुनौती दी, क्योंकि यदि यह सफल होती, तो एक पक्ष को परमाणु हमलों से प्रभावी सुरक्षा मिल सकती थी। परिणामस्वरूप सोवियत संघ ने इसे अपनी सामरिक सुरक्षा के लिए गंभीर खतरे के रूप में देखा। सोवियत नेतृत्व ने इस परियोजना को न केवल सामरिक संतुलन के लिए चुनौती माना, बल्कि इसे 1972 की एंटी बैलिस्टिक मिसाइल संधि की भावना के विरुद्ध भी समझा, जो मिसाइल-रोधी प्रणालियों को सीमित करने पर आधारित थी। SDI ने न केवल हथियारों की होड़ को और तीव्र किया, बल्कि शीत युद्ध के इस चरण में महाशक्तियों के बीच अविश्वास और तनाव को भी उल्लेखनीय रूप से बढ़ा दिया।

8.6.8. कोरियाई विमान हादसा (1983)

1983 में घटित ''कोरियन एयरलाइंस फ्लाइट 007'' घटना नव शीतयुद्ध के इतिहास की एक अत्यंत संवेदनशील और निर्णायक घटना थी, जिसने महाशक्तियों के बीच अविश्वास को नई ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया। 1 सितंबर 1983 को कोरियन एयर लाइंस का यात्री विमान KAL-007, जो न्यूयॉर्क से सियोल जा रहा था, मार्ग से भटककर अनजाने में सोवियत संघ के संवेदनशील वायुक्षेत्र, विशेषकर सखालिन द्वीप के निकट, में प्रवेश कर गया। उस समय यह क्षेत्र सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था, जहाँ सोवियत संघ के सैन्य ठिकाने स्थित थे।

सोवियत वायु रक्षा प्रणाली ने इस विमान को संदिग्ध मानते हुए जासूसी विमान होने का संदेह जताया और अपने लड़ाकू विमानों को कार्रवाई के लिए भेजा। चेतावनी संकेतों और पहचान की प्रक्रिया में असफल रहने के बाद, सोवियत पायलटों ने विमान पर मिसाइल दाग दी, जिससे वह समुद्र में गिर गया और उसमें सवार सभी 269 लोगों की मृत्यु हो गई। इस घटना में अमेरिकी नागरिकों सहित विभिन्न देशों के यात्री भी शामिल थे, जिससे यह एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्दा बन गया।

इस दुर्घटना के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए इसे ''निर्दाेष नागरिकों की हत्या'' और अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन नियमों का घोर उल्लंघन बताया। वहीं सोवियत संघ ने प्रारंभ में अपनी कार्रवाई को वैध ठहराने का प्रयास किया और विमान को जासूसी मिशन से जोड़ने की दलील दी। इस विरोधाभासी दृष्टिकोण ने दोनों महाशक्तियों के बीच पहले से मौजूद तनाव को और तीव्र कर दिया।

8.6.9. सोवियत संघ द्वारा लॉस एंजिल्स ओलंपिक खेलों का बहिष्कार (1984)

1984 में लॉस एंजिल्स में आयोजित ओलम्पिक खेलों में सोवियत संघ तथा उसके सहयोगी देशों ने प्रतिभाग करने से इन्कार कर दिया। इस निर्णय को व्यापक रूप से 1980 के मॉस्को ओलंपिक के बहिष्कार की प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके सहयोगी देशों ने सोवियत संघ के अफगानिस्तान हस्तक्षेप के विरोध में हिस्सा नहीं लिया था। यद्यपि सोवियत संघ ने आधिकारिक रूप से खिलाड़ियों की सुरक्षा और अमेरिका में विद्यमान ''सोवियत विरोधी वातावरण'' को कारण बताया, लेकिन वास्तविकता में यह निर्णय राजनीतिक तनाव और वैचारिक टकराव से प्रेरित था।

8.6.10. मिखाइल गोर्बाचोव का उदय और सुधारवादी नीतियाँ (1985)

1985 में मिखाइल गोर्बाचोव का सोवियत संघ के नेतृत्व में उदय ''नए शीत युद्ध'' के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ। वे अपेक्षाकृत युवा और सुधारवादी दृष्टिकोण वाले नेता थे, जिन्होंने सोवियत व्यवस्था की आंतरिक कमजोरियों- जैसे आर्थिक ठहराव, प्रशासनिक जड़ता और तकनीकी पिछड़ापन- को दूर करने की आवश्यकता को समझा।

इसी उद्देश्य से उन्होंने दो महत्वपूर्ण नीतियाँ अपनाई-पेरेस्त्रोइका (Perestroika), जिसका लक्ष्य आर्थिक संरचना का पुनर्गठन और सीमित बाज़ार तत्त्वों का समावेश था, तथा ग्लास्नोस्त (Glasnost), जिसके अंतर्गत शासन में पारदर्शिता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सार्वजनिक बहस को प्रोत्साहन दिया गया।

गोर्बाचोव की इन नीतियों का प्रभाव केवल घरेलू स्तर तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उन्होंने विदेश नीति में भी ''नई सोच'' (New Thinking) को अपनाते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंध

सुधारने और शीत युद्ध के तनाव को कम करने का प्रयास किया। इस प्रकार, उनका नेतृत्व शीत युद्ध की तीव्रता को कम करने और अंततः उसके समापन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ।

8.7 पुराने और नए शीत युद्ध में भिन्नताएँ

यद्यपि यह कहा जाता है कि पुराने और नये शीत युद्ध के बीच कोई मूलभूत या संरचनात्मक अंतर नहीं था, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में महाशक्तियों के बीच प्रभुत्व, प्रभाव-विस्तार और वैचारिक प्रतिस्पर्धा की भावना समान रूप से विद्यमान रही, फिर भी वास्तविक परिस्थितियों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों युगों में कई महत्वपूर्ण और व्यावहारिक अंतर मौजूद थे। ये अंतर केवल सतही नहीं थे, बल्कि इनका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, शक्ति-संतुलन, सैन्य रणनीतियों तथा वैश्विक कूटनीति पर गहराई से पड़ा, जिसके परिणाम दीर्घकाल तक महसूस किए गए।

पुराने शीत युद्ध के समय विश्व व्यवस्था अपेक्षाकृत स्थिर द्विध्रुवीय संरचना पर आधारित थी, जिसमें अमेरिका और सोवियत संघ दो प्रमुख ध्रुवों के रूप में स्पष्ट रूप से स्थापित थे। इसके विपरीत, नये शीत युद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य अधिक जटिल और परिवर्तनशील हो गया था। इस अवधि में न केवल महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा के स्वरूप में बदलाव आया, बल्कि अन्य देशों, विशेषकर विकासशील और गुटनिरपेक्ष देशों की भूमिका भी अधिक सक्रिय और प्रभावशाली हो गई। इसके अतिरिक्त, नये शीत युद्ध में सैन्य प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ तकनीकी, आर्थिक और वैचारिक क्षेत्रों में भी तीव्रता से प्रतिस्पर्धा देखने को मिली। हथियारों की होड़, अंतरिक्ष अनुसंधान, और नई तकनीकों के विकास ने इस संघर्ष को और अधिक व्यापक बना दिया। वहीं, विकासशील देशों ने अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए अधिक स्वतंत्र और संतुलित विदेश नीतियाँ अपनानी शुरू कर दीं, जिससे वे महाशक्तियों के बीच केवल मोहरे भर नहीं रहे, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरे।

इस प्रकार, भले ही दोनों शीत युद्धों का मूल उद्देश्य और आधार समान प्रतीत होता हो, फिर भी उनके स्वरूप, कार्यप्रणाली, प्रभाव क्षेत्र और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर पड़ने वाले प्रभावों में स्पष्ट और महत्वपूर्ण अंतर दिखाई देते हैं। यही कारण है कि इन दोनों अवस्थाओं के बीच के भेदों को समझना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इनसे वैश्विक राजनीति के विकासक्रम को सही ढंग से समझा जा सकता है।

इन प्रमुख अंतरों को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है-

8.7.1. विचारधारा का महत्व कम होना

पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच संघर्ष की जड़ें 1945 में नहीं, बल्कि 1917 की रूसी क्रांति से ही जुड़ी थीं, जिसने विश्व को दो वैचारिक गुटों में बाँट दिया था। 1945 से लेकर लगभग 1960 के प्रथम उत्तरार्ध तक यह वैचारिक टकराव शीत युद्ध का मुख्य आधार रहा। इसी के आधार पर दोनों महाशक्तियाँ एक-दूसरे की नीतियों का आकलन करती थीं और भविष्य की रणनीतियाँ तय करती थीं। शीत युद्ध के प्रथम चरण में विदेश नीति, सैन्य गठबंधन और आर्थिक सहायता तक का निर्धारण वैचारिक प्रतिबद्धता के आधार पर होता था। किन्तु नये शीत युद्ध के दौर में विचारधारा का महत्व स्पष्ट रूप से कम होता दिखाई देता है। ऐसा नहीं लगता कि किसी एक पक्ष ने जानबूझकर इसे कम किया, बल्कि परिस्थितियों के विकास के साथ यह परिवर्तन आया। जॉन केनेथ गेलब्रेथ जैसे विद्वानों के अनुसार, जब राष्ट्र एक निश्चित तकनीकी और औद्योगिक स्तर तक पहुँच जाते हैं, तो पूँजीवादी और साम्यवादी व्यवस्थाएँ व्यवहार में काफी हद तक एक जैसी दिखने लगती हैं। उनकी प्रसिद्ध अवधारणा ‘अभिसरण सिद्धांत’ (Convergence Thesis) इसी बात को दर्शाती है।

नये शीत युद्ध के दौरान यह भी देखा गया कि महाशक्तियाँ कई बार ऐसे देशों के साथ सहयोग कर रहीं थी, जिनकी विचारधारा उनसे मेल नहीं खाती थी। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी होने के बावजूद अमेरिका ने साम्यवादी चीन के साथ सम्बन्ध सुधार कर सोवियत संघ के प्रभाव को संतुलित करने का प्रयास किया। इसी प्रकार, अमेरिका ने लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत सैन्य शासन वाले पाकिस्तान को अफगानिस्तान में सोवियत विरोध के लिए समर्थन दिया तथा सऊदी अरब जैसे राजतांत्रिक देश के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखे। दूसरी ओर, सोवियत संघ ने भी इराक और अफ्रीका के कई देशों- जैसे अंगोला और इथियोपिया- के साथ सहयोग किया, भले ही उनकी व्यवस्थाएँ पूरी तरह साम्यवादी न थीं। ये उदाहरण स्पष्ट करते है कि इस दौर में विचारधारा का स्थान व्यावहारिक, सामरिक और क्षेत्रीय हितों ने ले लिया।

8.7.2. संघर्ष के क्षेत्रों में परिवर्तन

पुराने शीत युद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष का मुख्य केन्द्र यूरोप था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोप राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक दृष्टि से दो भागों में विभाजित हो गया था- एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी पश्चिमी यूरोप और दूसरी ओर सोवियत संघ के प्रभाव में साम्यवादी पूर्वी यूरोप। जर्मनी का विभाजन, बर्लिन संकट, और ”लौह आवरण“ (Iron Curtain) जैसी स्थितियाँ इस क्षेत्र को शीत युद्ध का सबसे संवेदनशील और महत्वपूर्ण मंच बनाती थीं। अमेरिका द्वारा यूरोप में साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए मार्शल योजना लागू की गई, जबकि सोवियत संघ ने अपने प्रभाव क्षेत्र को बनाए रखने के लिए पूर्वी यूरोप में नियंत्रण मजबूत किया। इस प्रकार, प्रारम्भिक शीत युद्ध में संघर्ष का केंद्र मुख्यतः यूरोप ही रहा, जहाँ महाशक्तियों के बीच सीधा टकराव होने की आशंका भी अधिक थी।

किन्तु समय के साथ, विशेषकर 1960 के दशक के बाद, यह परिदृश्य बदलने लगा और संघर्ष के केन्द्र यूरोप से हटकर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के क्षेत्रों में स्थानांतरित होने लगे। इसका प्रमुख कारण उपनिवेशवाद का अंत और नए स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय था, जो महाशक्तियों के प्रभाव के लिए नए क्षेत्र बन गए। 1960 और 1970 के दशकों में वियतनाम और हिन्द-चीन क्षेत्र शीत युद्ध का प्रमुख युद्ध क्षेत्र बन गए, जहाँ अमेरिका और सोवियत समर्थित शक्तियाँ आमने-सामने थीं। इसके बाद 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने इस क्षेत्र को वैश्विक तनाव का केंद्र बना दिया।

नये शीत युद्ध (1979-86) के दौरान यह प्रवृत्ति और अधिक स्पष्ट हो गई। अब संघर्ष एक ही क्षेत्र तक सीमित न रहकर बहु-केन्द्रित (multi-centric) हो गया था। मध्य-पूर्व में ईरान-इराक युद्ध, दक्षिण-पूर्व एशिया में कम्पुचिया और वियतनाम के संघर्ष, तथा अफ्रीका में अंगोला, मोजाम्बिक, इथियोपिया और सोमालिया जैसे देशों में चल रहे संघर्ष महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के नए मंच बन गए। इन क्षेत्रों में महाशक्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि स्थानीय शक्तियों को समर्थन देकर अपने-अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास करती थीं।

इस प्रकार, नये शीत युद्ध में संघर्ष का स्वरूप अधिक व्यापक और विकेन्द्रित हो गया। यूरोप की अपेक्षा तीसरी दुनिया के देश महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के प्रमुख क्षेत्र बन गए। यह स्थानान्तरण इस बात का संकेत था कि शीत युद्ध अब केवल यूरोपीय शक्ति-संतुलन तक सीमित नहीं रहा, बल्कि एक वैश्विक और बहुआयामी संघर्ष का रूप ले चुका था, जिसके प्रभाव विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रूपों में दिखाई देने लगे।

8.7.3. सैन्य संगठनों के महत्व में कमी

प्रारम्भिक शीत युद्ध के दौर (1945-1960 के दशक) में सैन्य गठबंधन महाशक्तियों की शक्ति-राजनीति का प्रमुख आधार थे। अमेरिका ने नाटो (1949), सीएटो (1954) और सेन्टो (1955) जैसे गठबंधनों के माध्यम से साम्यवाद को रोकने की नीति अपनाई, जबकि सोवियत संघ ने इसके जवाब में वारसा पैक्ट (1955) का गठन किया। इन संगठनों का उद्देश्य केवल सुरक्षा ही नहीं था, बल्कि विश्व को दो स्पष्ट सैन्य गुटों में बाँटना भी था। इसी संदर्भ में 1950 के दशक में तत्कालीन अमरीकी विदेश मंत्री जॉन फॉस्टर डलेस का ”डोमिनो सिद्धांत“ तथा 1960 के दशक में सोवियत संघ का ”सीमित सम्प्रभुता सिद्धांत“ (ब्रझनेव सिद्धांत) विकसित हुआ, जो इन सैन्य गठबंधनों की विचारधारात्मक और रणनीतिक पृष्ठभूमि को दर्शाते हैं।

किन्तु 1960 के दशक के बाद और विशेषकर नये शीत युद्ध (1979-86) के समय इन सैन्य संगठनों का महत्व धीरे-धीरे कम होने लगा। इसका पहला कारण था गुटों के भीतर ही मतभेदों का उभरना। उदाहरणस्वरूप, सोवियत संघ और चीन के बीच वैचारिक व राजनीतिक टकराव ने साम्यवादी गुट

की एकता को कमजोर कर दिया। दूसरी ओर, पश्चिमी गुट में भी दरारें दिखाई देने लगीं-फ्रांसीसी राष्ट्रपति के नेतृत्व में फ्रांस ने 1966 मे नाटो की एकीकृत सैन्य संरचना से स्वयं को अलग कर लिया और स्वतंत्र परमाणु नीति अपनाई।

इसके अलावा, कई सैन्य गठबंधन समय के साथ अप्रभावी या समाप्त हो गए। सिएटो, जो दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्यवाद को रोकने के लिए बनाया गया था, वियतनाम युद्ध (1955-75) के दौरान अपने सदस्य देशों को एकजुट रखने में असफल रहा और अंततः 1977 में भंग कर दिया गया। इसी प्रकार सेन्टो भी ईरान की 1979 की इस्लामी क्रांति के बाद टूट गया और उसी वर्ष समाप्त हो गया। यह स्पष्ट संकेत था कि क्षेत्रीय और आंतरिक राजनीतिक परिवर्तनों के सामने ये सैन्य संगठन टिक नहीं पा रहे थे।

नाटो जैसे संगठन अस्तित्व में तो बने रहे, लेकिन उनकी आंतरिक एकता और प्रभावशीलता में कमी देखी गई। 1982 के फॉकलैंड युद्ध (Falklands War) जो कि अर्जेंटीना और ब्रिटेन के बीच दक्षिण अटलांटिक महासागर में स्थित फॉकलैंड द्वीप समूह पर अधिकार के लिए लड़ा गया 10 सप्ताह का संघर्ष था, के दौरान नाटो के सदस्य देशों ने केवल कूटनीतिक समर्थन दिया, परन्तु सामूहिक सैन्य हस्तक्षेप नहीं किया। नाटो विदेश मंत्रियों ने अर्जेंटीना की कार्रवाई की निंदा की, किन्तु यह प्रतिक्रिया केवल औपचारिक और सीमित रही, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि नाटो एक संगठित सैन्य शक्ति के रूप में इस संकट में सक्रिय नहीं हुआ। साथ ही, चूँकि यह संघर्ष नाटो के निर्धारित भौगोलिक क्षेत्र से बाहर था, इसलिए इसकी सामूहिक रक्षा व्यवस्था भी लागू नहीं हो सकी। इस संघर्ष ने नाटो की सीमाएँ उजागर हुई। इसी प्रकार, अमेरिका और उसके सहयोगियों के बीच परमाणु नीति, निरस्त्रीकरण वार्ताओं और यूरोप में तैनाती को लेकर मतभेद बढ़ते रहे।

इसके साथ ही, विश्व राजनीति में बहुध्रुवीयता का विकास भी एक महत्वपूर्ण कारण था। पश्चिमी यूरोप (विशेषकर पश्चिम जर्मनी), जापान और बाद में चीन जैसी शक्तियाँ आर्थिक और राजनीतिक रूप से उभरने लगीं, जिससे महाशक्तियों के नेतृत्व वाले कठोर सैन्य गुटों की आवश्यकता कम होती गई। विकासशील देशों ने भी गुटनिरपेक्षता को अपनाकर इन सैन्य संगठनों से दूरी बनाए रखी।

8.7.4. द्विध्रुवीय से बहुध्रुवीय विश्व में परिवर्तन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व व्यवस्था स्पष्ट रूप से द्विधुरवीय स्वरूप में संगठित हो गई थी, जिसमें एक ओर अमेरिका और दूसरी ओर सोवियत संघ दो प्रमुख महाशक्तियों के रूप में उभरे। परमाणु हथियारों के विकास, वैचारिक प्रतिस्पर्धा (पूँजीवाद बनाम साम्यवाद) और सैन्य गठबंधनों के कारण विश्व दो विरोधी गुटों में बँट गया। परन्तु समय के साथ, विशेषकर 1960 के दशक के बाद और नये शीत युद्ध के दौर में, यह द्विधुरवीय संरचना धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगी और बहुधुरवीयता की प्रवृत्ति उभरने लगी। इसका एक महत्वपूर्ण संकेत स्वेज संकट (1956) के दौरान देखने को मिलता है।

स्वेज संकट (1956) ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसी पुरानी औपनिवेशिक शक्तियाँ अब वैश्विक राजनीति में पहले जैसी प्रभावशाली नहीं रहीं, फिर भी वे अपनी पूर्व स्थिति बनाए रखने का प्रयास कर रही थीं। इसी अवधि में चीन में माओ जेदांग के नेतृत्व में स्वतंत्र नीति अपनाते हुए सोवियत संघ से मतभेद विकसित होने लगे, जिससे साम्यवादी गुट की एकता टूट गई। दूसरी ओर, चार्ल्स दे गोल के नेतृत्व में फ्रांस ने 1966 में नाटो की सैन्य संरचना से अलग होकर अपनी स्वतंत्र परमाणु नीति अपनाई, जो पश्चिमी गुट में मतभेद का संकेत था।

इसी प्रकार जापान और पश्चिमी जर्मनी ने 1950-70 के दशकों में तीव्र आर्थिक विकास के माध्यम से वैश्विक शक्ति-संतुलन में नई भूमिका निभानी शुरू की। साथ ही, बिली ब्रांट की ''ओस्त पोलीतिक'' अर्थात् ''पूर्वी नीति'', जो कि 1960 के दशक के अंत में पश्चिम जर्मनी द्वारा सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के साथ तनाव कम करने के लिए अपनाई गई राजनयिक नीति थी, ने पूर्वी यूरोप के साथ संबंध सुधारकर यह दिखाया कि अमेरिकी नीति से अलग रास्ते भी अपनाए जा सकते हैं। इन सभी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि नये शीत युद्ध के समय तक विश्व केवल दो महाशक्तियों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि कई क्षेत्रीय और आर्थिक शक्तियाँ उभर आईं। इस प्रकार, जहाँ पुराने शीत युद्ध में स्पष्ट द्विध्रुवीयता थी, वहीं नये शीत युद्ध के दौर में बहुध्रुवीयता का विकास हुआ, जिसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अधिक जटिल, लचीला और बहुआयामी बना दिया।

8.7.5. महाशक्तियों के बीच शक्ति-संतुलन की खाई का संकुचित होना

शीत युद्ध के पुराने और नए चरणों के बीच महाशक्तियों के स्वरूप, सामर्थ्य और शक्ति-संतुलन के आधार पर स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। पुराने शीत युद्ध के प्रारंभिक दौर (1945 के बाद) में दोनों महाशक्तियों के बीच स्पष्ट असमानता और असंतुलन था। संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक, तकनीकी और सैन्य दृष्टि से अत्यंत सशक्त स्थिति में था, क्योंकि वह द्वितीय विश्व युद्ध के विनाश से लगभग सुरक्षित बचा रहा, जबकि सोवियत संघ को भारी जन-धन की हानि और औद्योगिक क्षति का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, 1945 से 1949 तक परमाणु हथियारों के क्षेत्र में अमेरिका का एकाधिकार था, जो जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों में परमाणु बम विस्फोट के बाद स्थापित हुआ। इस प्रकार पुराने शीत युद्ध में शक्ति-संतुलन अमेरिका के पक्ष में झुका हुआ था और वैचारिक व सामरिक दोनों स्तरों पर उसकी बढ़त स्पष्ट थी।

इसके विपरीत, नए शीत युद्ध तक आते-आते यह स्थिति काफी बदल चुकी थी और दोनों महाशक्तियों के बीच असमानता में उल्लेखनीय कमी आ गई थी। विशेषकर सैन्य और परमाणु क्षमता के क्षेत्र में दोनों देश लगभग सामरिक समता की स्थिति में पहुँच चुके थे, जहाँ ''पारस्परिक सुनिश्चित विनाश'' (मुटुयाल्ली अससुरेड देस्तृक्टिओन- MAD) की अवधारणा लागू होती थी-

अर्थात् किसी भी युद्ध का परिणाम दोनों का विनाश होता। यद्यपि तकनीकी और आर्थिक क्षेत्रों में अमरीकी बढ़त बनी रही, फिर भी सोवियत संघ सैन्य शक्ति के स्तर पर उसके समकक्ष हो चुका था। इस संतुलन के कारण दोनों पक्ष स्वयं को पूर्णतः सुरक्षित नहीं मानते थे, जिससे प्रतिस्पर्धा और अविश्वास और अधिक बढ़ा।

इस प्रकार, जहाँ पुराने शीत युद्ध में महाशक्तियों के बीच स्पष्ट असंतुलन और एकपक्षीय बढ़त थी, वहीं नए शीत युद्ध में यह अंतर काफी हद तक कम होकर सापेक्ष समानता में बदल गया, जिसने संघर्ष को समाप्त नहीं किया, बल्कि उसे और अधिक जटिल, संवेदनशील और संतुलन-आधारित बना दिया।

8.8 शीतयुद्ध का विश्व की राजनीति पर प्रभाव

शीत युद्ध 20वीं सदी की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे निर्णायक घटना थी, जिसने वैश्विक शक्ति-संतुलन, कूटनीति, सुरक्षा अवधारणाओं और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका को मूल रूप से पुनर्परिभाषित किया। यह मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच प्रतिस्पर्धा थी, लेकिन इसका प्रभाव केवल यूरोप तक सीमित नहीं रहा, बल्कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका तक फैल गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न शक्ति-शून्य, उपनिवेशवाद के अंत और नए राष्ट्र-राज्यों के उदय ने इस प्रतिस्पर्धा को और व्यापक बना दिया। इसलिए शीत युद्ध को केवल घटनाओं के रूप में नहीं, बल्कि एक गहरे संरचनात्मक और वैचारिक परिवर्तन के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है।

सबसे पहले, शीत युद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली को द्विध्रुवीय बना दिया, जहाँ शक्ति दो महाशक्तियों में केंद्रित थी। कैनेथ वॉल्टज के अनुसार, इस प्रकार की संरचना अपेक्षाकृत स्थिर होती है क्योंकि शक्ति का संतुलन स्पष्ट रहता है। हालाँकि, यह स्थिरता वास्तविक सहयोग पर नहीं बल्कि निरंतर तनाव और प्रतिस्पर्धा पर आधारित थी, जिसे ''तनावपूर्ण शांति'' कहा जा सकता है।

दूसरे, शीत युद्ध ने सुरक्षा की अवधारणा को मूल रूप से बदल दिया। हैंस जे0 मॉर्गनथाऊ के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार, राज्य अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए शक्ति का संचय करते हैं। शीत युद्ध के दौरान यह शक्ति परमाणु हथियारों के रूप में सामने आई, जिससे ''पारस्परिक सुनिश्चित विनाश'' ;डाक्द्ध की स्थिति उत्पन्न हुई। इसने प्रत्यक्ष युद्ध को रोका, लेकिन ''आतंक का संतुलन'' के माध्यम से वैश्विक तनाव को बनाए रखा। इस प्रकार, निवारण नीति ;कमजमततमदबम चवसपबलद्ध अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केंद्रीय सिद्धांत बन गया।

तीसरे, शीत युद्ध एक गहन वैचारिक संघर्ष भी था, जिसमें पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच प्रतिस्पर्धा हुई। अंतोनियो ग्राम्शी के प्राधान्य के सिद्धांत के अनुसार, प्रभुत्व केवल सैन्य शक्ति से नहीं

बल्कि विचारों और सहमति के माध्यम से स्थापित होता है। इसी कारण दोनों महाशक्तियों ने शिक्षा, मीडिया, संस्कृति और प्रचार के माध्यम से अपने-अपने विचारों को वैश्विक स्तर पर फैलाने का प्रयास किया।

चौथे, शीत युद्ध ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों को वैश्विक राजनीति का केंद्र बना दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ने इन क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए आर्थिक सहायता, सैन्य सहयोग और राजनीतिक समर्थन का व्यापक उपयोग किया, जिससे कई देश किसी न किसी गुट पर निर्भर होते गए। इसके परिणामस्वरूप अनेक देशों में राजनीतिक अस्थिरता, सैन्य शासन, तख्तापलट और गृह-संघर्ष जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनसे लोकतांत्रिक संस्थाएँ कमजोर पड़ीं। साथ ही, विकास की नीतियाँ भी बाहरी सहायता और शर्तों से प्रभावित होने लगीं, जिससे आत्मनिर्भर और संतुलित विकास की प्रक्रिया बाधित हुई। इस प्रकार, विकासशील देश केवल वैश्विक शक्ति-संघर्ष के मैदान ही नहीं बने, बल्कि उनकी नीतिगत स्वायत्तता और दीर्घकालीन विकास पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।

पाँचवें, द्विध्रुवीय व्यवस्था के बीच गुट निरपेक्ष आंदोलन का उदय हुआ, जिसने एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। भारत जैसे देशों ने रणनीतिक स्वायत्तता बनाए रखने का प्रयास किया। हालाँकि, व्यवहार में कई देशों के लिए पूर्ण तटस्थता बनाए रखना कठिन रहा, क्योंकि वे आर्थिक और सैन्य रूप से किसी न किसी महाशक्ति पर निर्भर थे।

छठे, शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही, लेकिन उनकी प्रभावशीलता सीमित थी। इसका प्रमुख कारण सुरक्षा परिषद में महाशक्तियों के पास वीटो पॉवर का होना था, जिसके कारण संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ अपने-अपने हितों के विरुद्ध किसी भी प्रस्ताव को आसानी से रोक सकते थे। परिणामस्वरूप, कई अंतर्राष्ट्रीय संकटों में निर्णायक कार्रवाई नहीं हो सकी और संगठन अक्सर महाशक्तियों के बीच राजनीतिक गतिरोध का शिकार हो गया। फिर भी, संयुक्त राष्ट्र संघ पूरी तरह निष्क्रिय नहीं रहा, इसने शांति स्थापना अभियानों (peacekeeping operations) के माध्यम से विभिन्न संघर्ष क्षेत्रों में युद्धविराम बनाए रखने, मानवीय सहायता पहुँचाने और स्थिरता स्थापित करने में भूमिका निभाई। उदाहरण के रूप में, कोरिया संकट के बाद शांति प्रयासों तथा मध्य-पूर्व और अफ्रीका के कुछ क्षेत्रों में शांति सेनाओं की तैनाती ने सीमित लेकिन महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। इस प्रकार, शीत युद्ध के दौरान यूएन एक ऐसे मंच के रूप में कार्य करता रहा जहाँ महाशक्तियों के बीच संवाद संभव हुआ, भले ही वह वैश्विक शांति सुनिश्चित करने में पूर्णतः सफल न हो सका।

सातवें, शीत युद्ध ने यह भी स्पष्ट किया कि शक्ति केवल सैन्य नहीं होती, बल्कि सांस्कृतिक और वैचारिक भी होती है। जोसेफ नाई के ''सॉफ्ट पावर" सिद्धांत के अनुसार, आकर्षण और वैचारिक

प्रभाव के माध्यम से भी प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार, शीत युद्ध में मीडिया, शिक्षा और तकनीकी श्रेष्ठता भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे।

अंततः सोवियत संघ के विघटन के बाद भी शीत युद्ध की विरासत समाप्त नहीं हुई। वरन् उसने समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की दिशा और संरचना को गहराई से प्रभावित किया। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात कुछ समय के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका एकमात्र महाशक्ति के रूप में उभरा और विश्व व्यवस्था एकधुरवीय दिखाई दी, किंतु शीत युद्ध के दौरान विकसित शक्ति-संतुलन, सैन्य गठबंधन और सुरक्षा नीतियाँ आज भी सक्रिय हैं। उदाहरण के लिए, नाटो जैसे गठबंधनों का विस्तार और रूस के साथ पश्चिमी देशों के बढ़ते तनाव यह दर्शाते हैं कि पुरानी प्रतिस्पर्धात्मक मानसिकता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त, परमाणु निरोध (nuclear deterrence) की अवधारणा आज भी वैश्विक सुरक्षा का केंद्रीय आधार बनी हुई है, क्योंकि अनेक देश अपनी सामरिक शक्ति और सुरक्षा के लिए परमाणु हथियारों पर निर्भर हैं। साथ ही, वैचारिक प्रतिस्पर्धा का स्वरूप भी परिवर्तित रूप में जारी है, जहाँ लोकतंत्र बनाम अधिनायकवाद, तथा मुक्त बाजार बनाम राज्य-नियंत्रित आर्थिक मॉडल के बीच बहस जारी रहती है। शीत युद्ध के दौरान स्थापित अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, कूटनीतिक व्यवहार और रणनीतिक सोच आज भी वैश्विक शासन और विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। जॉन लुईस गैडिस के अनुसार, ‘‘शीत युद्ध को समझे बिना समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को पूर्णतः नहीं समझा जा सकता।’’ वर्तमान विश्व व्यवस्था उसी ऐतिहासिक अनुभव और शक्ति-संतुलन की राजनीति की निरंतरता पर आधारित है, इस प्रकार, शीत युद्ध केवल अतीत की घटना नहीं, बल्कि आज की विश्व राजनीति का एक स्थायी और प्रभावशाली आधार बना हुआ है।

8.9 सारांश

शीत युद्ध का अंत आधुनिक विश्व इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और परिवर्तनकारी घटना थी, जिसने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की संरचना को मूलतः परिवर्तित कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न द्विधुरवीय व्यवस्था, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ दो महाशक्तियों के रूप में आमने-सामने थे, 1980 के दशक के अंत तक धीरे-धीरे कमजोर होने लगी। सोवियत संघ की आर्थिक जड़ता, प्रशासनिक अक्षमता, तकनीकी पिछड़ापन तथा अफगानिस्तान जैसे संघर्षों का बोझ उसकी शक्ति को क्षीण कर रहा था। इस पृष्ठभूमि में मिखाइल गोर्बाचोव का उदय हुआ, जिन्होंने पेरेस्त्रोइका (आर्थिक पुनर्गठन) और ग्लास्नोस्त (खुलापन) जैसी नीतियों के माध्यम से न केवल आंतरिक सुधारों की शुरुआत की, बल्कि पश्चिम के साथ टकराव को कम करने की दिशा में भी कदम उठाए। अंततः 1991 में सोवियत संघ का विघटन के साथ शीत युद्ध का औपचारिक समापन हो गया।

इसके पूर्व का चरण, जिसे ''नव शीत युद्ध'' कहा जाता है, महाशक्तियों के बीच पुनः बढ़ते तनाव का द्योतक था। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप, यूरोप में परमाणु मिसाइलों की तैनाती, हथियारों की तीव्र होड़ तथा रोनाल्ड रीगन की आक्रामक नीतियों ने इस दौर को अत्यधिक तनावपूर्ण बना दिया। इस चरण ने यह स्पष्ट किया कि शीत युद्ध की घटना एक स्थिर या रैखिक प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि इसमें समय-समय पर तनाव और शिथिलता के चक्र आते रहे।

शीत युद्ध के अंत के साथ ही विश्व राजनीति में व्यापक और गहरे परिवर्तन हुए। द्विध्रुवीय शक्ति-संतुलन के स्थान पर एकध्रुवीय व्यवस्था का उदय हुआ, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका वैश्विक स्तर पर प्रमुख शक्ति के रूप में स्थापित हुआ। इसके साथ ही संयुक्त राष्ट्र संगठन की भूमिका अधिक सक्रिय और प्रभावशाली बनी, विशेषकर शांति स्थापना और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के क्षेत्रों में। वैश्वीकरण, उदारीकरण और मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था को व्यापक स्वीकृति मिली, जिससे विश्व अर्थव्यवस्था अधिक परस्पर निर्भर होती चली गई।

हालाँकि, शीत युद्ध के अंत के बाद भी विश्व पूरी तरह शांतिपूर्ण नहीं हुआ। पारंपरिक महाशक्ति संघर्षों की जगह अब क्षेत्रीय युद्धों, जातीय संघर्षों, आतंकवाद, परमाणु प्रसार और आर्थिक प्रतिस्पर्धा जैसे नए खतरे उभरकर सामने आए। इस प्रकार, विश्व राजनीति की प्रकृति में परिवर्तन तो हुआ, लेकिन संघर्ष और प्रतिस्पर्धा के स्वरूप बदल गए।

8.10 अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किस नेता की नीतियाँ शीत युद्ध के अंत में निर्णायक सिद्ध हुईं?

(A) रोनाल्ड रीगन (B) मिखाइल गोर्बाचोव

(C) रिचर्ड निक्सन (D) हैरी ट्रूमैन

2. शीत युद्ध की समाप्ति किस प्रमुख घटना से संबंधित मानी जाती है?

(A)बर्लिन दीवार का निर्माण (B) क्यूबा मिसाइल संकट

(C) सोवियत संघ का विघटन (D) कोरियाई युद्ध

3. 'नव शीत युद्ध' की शुरुआत का प्रमुख कारण क्या था?

(A)अफगानिस्तान संकट और हथियारों की होड़ (B) उपनिवेशवाद

(C) औद्योगिक क्रांति (D) प्रथम विश्व युद्ध

4. निम्नलिखित में से कौन-सा 'नव शीत युद्ध' की प्रमुख विशेषता नहीं है?

(A) परमाणु हथियारों की होड़ (B) प्रत्यक्ष महाशक्ति युद्ध

(C) वैचारिक एवं सामरिक प्रतिस्पर्धा (D) कूटनीतिक तनाव

5. 'नव शीत युद्ध' में मुख्य प्रतिस्पर्धा किस प्रकार की थी?

(A) धार्मिक (B) सांस्कृतिक

(C) कृषि (D) सामरिक और राजनीतिक

8.11 प्रमुख शब्दावली

देतांत- सोवियत संघ और अमेरिकी रिश्तों में तनाव-शैथिल्य और उनमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती मित्रता, सहयोग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना का विकास।

स्टार वार्स कार्यक्रम- एक ऐसी उन्नत रक्षा प्रणाली विकसित करने का प्रयास, जिसमें अंतरिक्ष आधारित तकनीकों-जैसे उपग्रहों, लेज़र और मिसाइल-रोधी प्रणालियों- की सहायता से शत्रु के बैलिस्टिक मिसाइल हमलों को प्रक्षेपण के बाद ही नष्ट कर देना।

साल्ट-II संधि- 1979 में अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य परमाणु अस्त्रों की संख्या सीमित करने के लिए की गई संधि।

पेरेस्त्रोइका- पेरेस्त्रोइका का शाब्दिक अर्थ है ''पुनर्गठन'', जो सोवियत संघ की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन को संदर्भित करता है, जिसका उद्देश्य गतिरोध के युग को समाप्त करना था।

ग्लास्नोस्त- ग्लास्नोस्त का अर्थ है ''खुलापन''। यह सोवियत संघ की राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर खुली चर्चा की नीति को संदर्भित करता है।

गुटनिरपेक्षता- विश्व के किसी भी शक्तिशाली सैन्य गुट में शामिल न होकर, अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी स्वतंत्र विदेश नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार निर्णय लेना।

8.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (B) 2.(C) 3.(A) 4. (B) 5.(D)

8.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध के अंत के प्रमुख कारणों का विश्लेषण कीजिए तथा इसके वैश्विक परिणामों का मूल्यांकन कीजिए।

2. नव-शीतयुद्ध से आप क्या समझते है? इसके उद्भव के कारणों और प्रमुख विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।

3. शीत युद्ध के पारंपरिक स्वरूप और 'नव शीत युद्ध' के बीच प्रमुख अंतर स्पष्ट कीजिए तथा उनके कारणों का विश्लेषण कीजिए।

4. नव-शीतयुद्ध की प्रमुख घटनाओं की सविस्तार व्याख्या करें।

5. शीत युद्ध के अंत के बाद विश्व राजनीति में आए परिवर्तनों का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

8.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Lucas, E. (2009). The new cold war: how the Kremlin menaces both Russia and the west. Bloomsbury Publishing.
2. Donaghy, A. (2021). The second Cold War: Carter, Reagan, and the politics of foreign policy. Cambridge University Press.
3. Subrahmanyam, K. (1983). The Second Cold War. ABC Publishing House, New Delhi.
4. पंत, पुष्पेश (2008). 21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध. टाटा मेकग्रोंव हिल्स पब्लिकेशन कम्पनी लिमिटेड।

5. खन्ना, बी0 एन0 एवं कुमार लेस्ली के. (2022). अंतर्राष्ट्रीय संबंध. विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0।

8.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Baylis, J., Smith, S., & Owens, P. (Eds.). (2020). The globalization of world politics: An introduction to international relations. Oxford University Press.

2. Heywood A. (2011). Global Politics. Palgrave MacMillan.

3. पंत, पुष्पेश एवं जैन, पाल (2013). अंतर्राष्ट्रीय राजनीति. मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

4. फड़िया, बी0 एल0 (2024). अंतर्राष्ट्रीय राजनीति. साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

इकाई 9: निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 निशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण: पृष्ठभूमि एवं परिचय

9.4 निशस्त्रीकरण के प्रकार

9.5 निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण: औचित्य

9.6 निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के प्रमुख उद्देश्य

9.7. निस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण : क्रमबद्ध एवं विश्लेषणात्मक विवरण

9.8 वर्तमान परिप्रेक्ष्य

9.9 सारांश

9.10 प्रमुख शब्दावली

9.11 आत्म-मूल्यांकन हेतु वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी अंतरराष्ट्रीय राजनीति में निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की अवधारणाओं को समझने में सक्षम होंगे। वे विभिन्न प्रकार के निशस्त्रीकरण, उनके सिद्धांतों तथा वैश्विक शांति और सुरक्षा में उनकी भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे। विद्यार्थी प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संधियों जैसे परमाणु अप्रसार संधि (NPT) और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) की प्रासंगिकता तथा सीमाओं को समझ सकेंगे। इसके साथ ही वे समकालीन विश्व राजनीति में हथियारों की होड़, सुरक्षा चुनौतियों और शस्त्र नियंत्रण के उपायों का समालोचनात्मक अध्ययन करने में सक्षम बनेंगे।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है-

1. विद्यार्थियों को निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की मूल अवधारणाओं से परिचित कराना।
2. विभिन्न प्रकार के निशस्त्रीकरण तथा अंतरराष्ट्रीय संधियों और प्रयासों का अध्ययन कराना।
3. वैश्विक शांति, सुरक्षा और शक्ति संतुलन में शस्त्र नियंत्रण की भूमिका को समझाना।
4. समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में हथियारों की होड़ और नई सुरक्षा चुनौतियों का विश्लेषण करने की क्षमता विकसित करना।

9.3 निशस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण: पृष्ठभूमि एवं परिचय

आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में निशस्त्रीकरण (Disarmament) और शस्त्र नियंत्रण (Arms Control) दो ऐसी महत्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं। जो विश्व की शांति, सुरक्षा और स्थिरता से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई हैं। सन 1945 में हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु हमले के पश्चात विश्व समुदाय को यह समझ आया कि हथियार मानव सभ्यता के लिए विनाशकारी सिद्ध हो सकते है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात जब 1945 में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई, तो विश्व शांति और सामूहिक सुरक्षा को प्राथमिकता दी । संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि अंतर-राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए सदस्य राष्ट्र मिलकर प्रयास करेंगे। इसी उद्देश्य से विभिन्न आयोगों और समितियों का गठन किया गया, दो विश्व युद्धों ने मानव सभ्यता को संदेश दिया कि हथियार केवल विनाश, अस्थिरता को जन्म देती है। परमाणु हथियारों के विकास ने विश्व को ऐसे विनाशकरी स्तर

पर खड़ा किया, जहाँ एक छोटी-सी गलती भी व्यापक विनाश का कारण बन सकती है। इसी परिदृश्य; में निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की अवधारणाएँ विकसित हुई जो निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के उपायों पर कार्य करें। शीत युद्ध के समय; अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य; परमाणु हथियारों की प्रतिस्पर्धा ने इस विषय; को और महत्वपूर्ण बना दिया। दोनों महाशक्तियों के पास इतनी परमाणु शक्ति थी कि सम्पूर्ण विश्व को अनेक बार नष्ट किया जा सकता था। इस स्थिति को "आतंक का संतुलन" (Balance of Terror) कहा गया। परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने के लिए 1968 में Nuclear Non-Proliferation Treaty (NPT) पर हस्ताक्षर किए गए। यह संधि तीन प्रमुख स्तंभों पर आधारित है—अप्रसार ,निरस्त्रीकरण और शांतिपूर्ण उपयोग। सन 1996 में Comprehensive Nuclear-Test-Ban Treaty (CTBT) अस्तित्व में आई, जिसका उद्देश्य परमाणु परीक्षणों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाना है। यद्यपि यह संधि अभी तक पूर्ण रूप से लागू नहीं हो पाई है, फिर भी इसने परमाणु परीक्षणों की संख्या में उल्लेखनीय कमी लाई है। इससे स्पष्ट होता है कि शस्त्र नियंत्रण के उपाय व्यावहारिक रूप से हथियारों की होड़ को सीमित करने में सहायक हो सकते हैं। निशस्त्रीकरण का मूल अर्थ है—हथियारों, विशेषकर व्यापक विनाश के हथियारों को पूर्णतः समाप्त कर तथा उनकी संख्या में कमी लाना। इसका उद्देश्य केवल हथियारों को सीमित करना नहीं, बल्कि उन्हें समाप्त कर विश्व को सुरक्षित बनाना है। इसके विपरीत, शस्त्र नियंत्रण अंतरराष्ट्रीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसका उद्देश्य राज्यों के बीच हथियारों की होड़ (Arms Race) को सीमित करना, सैन्य संतुलन बनाए रखना तथा विश्व शांति और सुरक्षा को सुदृढ़ करना है। यह पूर्ण निशस्त्रीकरण (Disarmament) से भिन्न है, क्योंकि इसमें हथियारों को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जाता, बल्कि उनकी संख्या, प्रकार, उत्पादन, परीक्षण और उपयोग पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है। यह नियंत्रण अंतरराष्ट्रीय संधियों, समझौतों और नियमों के माध्यम से स्थापित किया जाता है। ,ताकि हथियारों की होड़ को रोका जा सके और देशों के e/; संतुलन बना रहे।

9.4 निशस्त्रीकरण के प्रकार

9.4.1 सामान्य निशस्त्रीकरण (General Disarmament)- सामान्य निशस्त्रीकरण का अर्थ है सभी प्रकार के हथियारों में व्यापक स्तर पर कमी करना। इसमें केवल किसी एक प्रकार के हथियार को नहीं, बल्कि समस्त सैन्य शक्ति को कम करने का प्रयास किया जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि राष्ट्र अपनी सैन्य क्षमता को इस स्तर तक सीमित रखें कि वह केवल आत्मरक्षा के लिए पर्याप्त हो, आक्रामक युद्ध के लिए नहीं।

सामान्य निशस्त्रीकरण का विचार प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अधिक प्रबल हुआ। विश्व युद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि अत्यधिक सैन्यीकरण मानवता के लिए विनाशकारी है। इसलिए राष्ट्रों ने यह महसूस किया कि यदि स्थायी शांति स्थापित करनी है, तो व्यापक स्तर पर हथियारों में कटौती आवश्यक है।

सामान्य निशस्त्रीकरण आदर्शवादी दृष्टिकोण को दर्शाता है, परंतु व्यावहारिक राजनीति में इसे पूर्ण रूप से लागू करना चुनौतीपूर्ण है।

9.4.2 आंशिक निशस्त्रीकरण (Partial Disarmament)-आंशिक निशस्त्रीकरण का अर्थ है किसी विशेष प्रकार के हथियारों या सैन्य साधनों तक ही निशस्त्रीकरण को सीमित करना। इसमें सभी हथियारों को समाप्त नहीं किया जाता, बल्कि केवल कुछ चयनित हथियारों पर प्रतिबंध लगाया जाता है या उनकी संख्या कम की जाती है।

उदाहरण के लिए, परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने का प्रयास Comprehensive Nuclear-Test-Ban Treaty (CTBT) के माध्यम से किया गया। यह संधि परमाणु परीक्षणों को प्रतिबंधित करती है, किंतु मौजूदा परमाणु हथियारों को समाप्त नहीं करती। इसी प्रकार Nuclear Non-Proliferation Treaty (NPT) परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने का प्रयास करती है। आंशिक निशस्त्रीकरण वर्तमान समय में अधिक व्यावहारिक माना जाता है, क्योंकि यह पूर्ण निशस्त्रीकरण की तुलना में लागू करना आसान है।

9.4.3. क्षेत्रीय निशस्त्रीकरण (Regional Disarmament)-क्षेत्रीय निशस्त्रीकरण का अर्थ है किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र को हथियार-मुक्त या सीमित हथियारों वाला क्षेत्र घोषित करना। इसका उद्देश्य उस क्षेत्र में शांति और स्थिरता बनाए रखना है।उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और दक्षिण प्रशांत के कुछ क्षेत्रों को परमाणु हथियार-मुक्त क्षेत्र घोषित किया गया है। इन क्षेत्रों में सदस्य देशों ने यह संकल्प लिया है कि वे परमाणु हथियारों का निर्माण, परीक्षण या तैनाती नहीं करेंगे।

क्षेत्रीय निशस्त्रीकरण अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण कदम है, क्योंकि यह छोटे स्तर पर शांति की स्थापना कर व्यापक शांति की दिशा में मार्ग प्रशस्त करता है।

9.4.4. सार्वभौमिक निशस्त्रीकरण (Universal Disarmament)- सार्वभौमिक निशस्त्रीकरण का अर्थ है—पूरे विश्व में समान रूप से हथियारों का उन्मूलन या कमी। इसमें किसी भी देश के साथ भेदभाव नहीं किया जाता। सभी राष्ट्र समान रूप से निशस्त्रीकरण के नियमों का पालन करते हैं। यह प्रकार सबसे आदर्श और व्यापक माना जाता है। इसका उद्देश्य एक ऐसा विश्व बनाना है जहाँ कोई भी राष्ट्र अत्यधिक सैन्य शक्ति न रखे। इस दिशा में United Nations जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जो वैश्विक स्तर पर संधियों और समझौतों को प्रोत्साहित करते हैं। सार्वभौमिक निशस्त्रीकरण मानवता के आदर्श भविष्य की कल्पना करता है, परंतु वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इसे पूर्ण रूप से लागू करना कठिन है।

9.5 निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण: औचित्य

निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के समर्थन में कई तर्क दिए जाते हैं। पहला और सबसे महत्वपूर्ण तर्क है—विश्व शांति की स्थापना। जब देशों के पास अधिक हथियार होते हैं, तो संघर्ष की स्थिति में उनके प्रयोग की संभावना अधिक हो जब देशों के पास हथियारों में कहोती है तो, युद्ध की संभावना कम होती है। दूसरा हथियारों पर अत्यधिक व्यय राष्ट्रीय बजट का बड़ा हिस्सा खर्च कर देता है। यदि यही संसाधन शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और बुनियादी ढाँचे पर लगाए जाएँ, तो समाज का समग्र विकास संभव है। तीसरा तर्क मानवीय दृष्टिकोण से जुड़ा है। परमाणु, रासायनिक और जैविक हथियार मानवता के अस्तित्व के लिए गंभीर खतरा हैं।

हालाँकि, इन अवधारणाओं के समक्ष अनेक चुनौतियाँ भी हैं। सबसे बड़ी चुनौती है—राष्ट्र अपनी सुरक्षा को सर्वोपरि मानते हैं और उन्हें भय रहता है कि यदि उन्होंने हथियारों में कमी की, तो प्रतिद्वंद्वी देश इसका लाभ उठा सकते हैं। दूसरी चुनौती है—सत्यापन। यह सुनिश्चित करना कि कोई देश गुप्त रूप से हथियार विकसित न कर रहा हो, अत्यंत कठिन कार्य है। तीसरी चुनौती है—तकनीकी प्रगति। नई-नई सैन्य तकनीकों का विकास शस्त्र नियंत्रण को और जटिल बना देता है।

भारत का दृष्टिकोण भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। भारत ने सदैव सार्वभौमिक और भेदभाव-रहित निशस्त्रीकरण का समर्थन किया है। भारत का मत है कि कोई भी संधि तभी प्रभावी होगी जब वह सभी देशों पर समान रूप से लागू हो। इसी कारण भारत ने NPT और CTBT पर हस्ताक्षर नहीं किए, भारत का यह भी तर्क है कि वैश्विक सुरक्षा तभी संभव है जब सभी परमाणु शक्तियाँ ईमानदारी से निरस्त्रीकरण की दिशा में ठोस कदम उठाएँ। वर्तमान परिदृश्य में, जब अंतरराष्ट्रीय संबंधों में पुनः तनाव बढ़ रहा है और नई शक्तियाँ उभर रही हैं, तब निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। साइबर युद्ध परमाणु हथियार और कृत्रिम सैन्य तकनीकें भविष्य की नई चुनौतियाँ हैं। इन पर नियंत्रण के लिए भी मानवीय सहयोग एवं अंतरराष्ट्रीय सहयोग आवश्यक होगा।

निस्त्रीकरण (Disarmament) और शस्त्र नियंत्रण (Arms Control) अंतरराष्ट्रीय राजनीति और सुरक्षा अध्ययन के महत्वपूर्ण विषय हैं। आधुनिक विश्व में, विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, परमाणु हथियारों और उन्नत सैन्य तकनीकों के विकास ने वैश्विक शांति के लिए गंभीर चुनौतियाँ उत्पन्न कीं। निशस्त्रीकरण (Disarmament) का अर्थ है अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा बनाए रखने के लिए राष्ट्रों द्वारा अपने सैन्य हथियारों, विशेषकर परमाणु, जैविक और रासायनिक जैसे विनाशकारी शस्त्रों के भंडार को कम करना, सीमित करना या पूरी तरह समाप्त कर देना। इसका मुख्य उद्देश्य युद्ध की संभावना को कम करना, हिंसा रोकना और विश्व शांति को बढ़ावा देना है। हथियारों, विशेषकर विनाशकारी हथियारों की संख्या में कमी करना या उन्हें पूर्णतः समाप्त करना। आधुनिक युग में जब विश्व परमाणु, रासायनिक और जैविक हथियारों से लैस है, तब निशस्त्रीकरण की आवश्यकता और

भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार, निशस्त्रीकरण मानवता के उज्ज्वल भविष्य के लिए एक अनिवार्य कदम है, जो युद्ध के स्थान पर शांति और सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करता है।

9.6 निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के उद्देश्य

निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के प्रमुख उद्देश्य

निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. विश्व में शांति की स्थापना- निशस्त्रीकरण का पहला और प्रमुख उद्देश्य विश्व को युद्ध के भय से मुक्त करना है। आधुनिक युग में हथियारों की विनाशकारी क्षमता इतनी बढ़ चुकी है कि एक बड़े युद्ध की स्थिति में मानव सभ्यता का अस्तित्व ही संकट में पड़ सकता है। विशेष रूप से परमाणु हथियारों के संदर्भ में यह खतरा और अधिक गंभीर है। इसी कारण अंतरराष्ट्रीय स्तर पर Nuclear Non-Proliferation Treaty (NPT) जैसी संधियों के माध्यम से परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने और अंततः उनके उन्मूलन की दिशा में प्रयास किए गए। निशस्त्रीकरण का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि कोई भी राष्ट्र इतनी सैन्य शक्ति न रखे जो संपूर्ण मानवता के लिए विनाशकारी सिद्ध हो।

2. हथियारों की होड़ (Arms Ra कम करना या रोकना- इसी प्रकार शस्त्र नियंत्रण के भी कई महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं। शस्त्र नियंत्रण का पहला उद्देश्य हथियारों की होड़ को रोकना है। जब एक देश अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाता है, तो अन्य देश भी प्रतिस्पर्धा में हथियार बढ़ाने लगते हैं। यह स्थिति अस्थिरता और तनाव को जन्म देती है। शस्त्र नियंत्रण समझौतों के माध्यम से देशों के बीच यह सहमति बनाई जाती है कि वे हथियारों की संख्या और प्रकार पर सीमाएँ निर्धारित करेंगे। उदाहरणस्वरूप Comprehensive Nuclear-Test-Ban Treaty (CTBT) का उद्देश्य परमाणु परीक्षणों को रोककर हथियारों की गुणवत्ता में अनियंत्रित वृद्धि को सीमित करना है।

3. विश्व में युद्ध की संभावना को कम करना- शस्त्र नियंत्रण का तीसरा उद्देश्य युद्ध की संभावना को कम करना है। जब हथियारों की संख्या और उनकी तैनाती पर पारदर्शिता होती है, तो आकस्मिक युद्ध या गलतफहमी की संभावना कम हो जाती है। निरीक्षण और सत्यापन की व्यवस्थाएँ राष्ट्रों के बीच भरोसा बढ़ाती हैं। इससे अनावश्यक तनाव और संदेह की स्थिति समाप्त होती है।

4.सैन्य व्यय में कमी लाकर देश के विकास को बढ़ावा देना- निशस्त्रीकरण का तीसरा उद्देश्य आर्थिक संसाधनों की बचत और उनका विकासात्मक उपयोग है। आज विश्व के अनेक देश अपने बजट का बड़ा हिस्सा रक्षा व्यय पर खर्च करते हैं। यदि इन संसाधनों को शिक्षा, स्वास्थ्य,

विज्ञान, पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक कल्याण के क्षेत्रों में लगाया जाए, तो मानव विकास की गति तेज हो सकती है। इस प्रकार निशस्त्रीकरण का उद्देश्य केवल सैन्य क्षेत्र तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक और आर्थिक उन्नति से भी जुड़ा हुआ है।

5.मानव की सुरक्षा और वैश्विक स्थिरता सुनिश्चित करना- निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के उद्देश्य केवल युद्ध को रोकने तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे मानव सभ्यता के सुरक्षित और शांतिपूर्ण भविष्य की आधारशिला हैं। निशस्त्रीकरण जहाँ आदर्शवादी दृष्टिकोण से एक हथियार-मुक्त विश्व की कल्पना करता है, वहीं शस्त्र नियंत्रण व्यावहारिक उपायों के माध्यम से तत्काल सुरक्षा और संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। यदि राष्ट्र इन उद्देश्यों के प्रति ईमानदारी और प्रतिबद्धता के साथ कार्य करें, तो एक स्थायी और शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था की स्थापना संभव हो सकती है।

6. राष्ट्रों के बीच पारदर्शिता और भरोसा बढ़ाना- निशस्त्रीकरण का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय विश्वास और सहयोग को बढ़ावा देना है। जब राष्ट्र अपने हथियारों में कटौती करते हैं, तो उनके बीच आपसी विश्वास की भावना विकसित होती है। इससे शत्रुता और संदेह कम होते हैं तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की संभावना बढ़ती है। हथियारों की अधिकता अक्सर भय और असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है, जिससे संघर्ष की आशंका बनी रहती है। इसलिए निशस्त्रीकरण का उद्देश्य केवल हथियार कम करना ही नहीं, बल्कि शांति की संस्कृति को विकसित करना भी है।

9.7 निस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण : क्रमबद्ध एवं विश्लेषणात्मक विवरण

(क) निस्त्रीकरण (Disarmament) की अवधारणा

उदाहरण के लिए, परमाणु हथियारों को समाप्त करने की मांग पूर्ण निस्त्रीकरण की श्रेणी में आती है।

(ख) शस्त्र नियंत्रण (Arms Control) की अवधारणा-

शस्त्र नियंत्रण का उद्देश्य हथियारों को पूरी तरह समाप्त करना नहीं, बल्कि उन्हें नियंत्रित और विनियमित करना है।

उदाहरण:

- हथियारों की संख्या सीमित करना
- परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाना
- निरीक्षण प्रणाली लागू करना

यह व्यावहारिक दृष्टिकोण है क्योंकि पूर्ण निस्त्रीकरण राजनीतिक रूप से कठिन माना जाता है।

निस्त्रीकरण का लक्ष्य हथियारों को समाप्त करना है, जबकि शस्त्र नियंत्रण का उद्देश्य हथियारों की संख्या, प्रकार और उपयोग को नियंत्रित करना है। दोनों की प्रकृति अलग होते हुए भी अंतिम लक्ष्य विश्व शांति और स्थिरता ही है।

प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संधियाँ और प्रयास

1. परमाणु अप्रसार संधि (NPT) – परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने हेतु

2. व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) – परमाणु परीक्षणों पर रोक

3. रणनीतिक शस्त्र न्यूनीकरण संधि (START) – मुख्यतः संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस के मध्य सामरिक हथियारों में कमी

4. अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) – अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी द्वारा निरीक्षण और निगरानी

निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के लाभ

1. युद्ध की संभावना में कमी

2. वैश्विक स्थिरता

3. आर्थिक संसाधनों की बचत

4. मानव विकास को प्रोत्साहन

5. पर्यावरण संरक्षण

सीमाएँ और चुनौतियाँ

1. देशों के मध्य विश्वास की कमी

2. निरीक्षण प्रणाली की कमजोरी

3. देशों के अपने राजनीतिक स्वार्थ

4. उभरती तकनीकें (AI, साइबर हथियार, ड्रोन)

5. परमाणु शक्तियों की प्रभुत्व नीति

9.8 वर्तमान परिप्रेक्ष्य

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की अवधारणाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक बन चुकी हैं। 21वीं सदी में विज्ञान और तकनीक के तीव्र विकास ने जहाँ मानव जीवन को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया है, वहीं आधुनिक हथियारों की बढ़ती विनाशकारी क्षमता ने वैश्विक शांति और सुरक्षा के सामने गंभीर समस्याएँ भी खड़ी की हैं। अनेक प्रकार के हथियारों के विकास ने युद्ध की प्रकृति को अत्यधिक कठिन बना दिया है। ऐसे समय में निशस्त्रीकरण, जिसका उद्देश्य हथियारों का पूर्ण उन्मूलन है, और शस्त्र नियंत्रण, जिसका लक्ष्य हथियारों की संख्या तथा उपयोग पर नियंत्रण स्थापित करना है, दोनों की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक हो गयी है। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात यह अनोखा अंदेशा लगाया गया कि विश्व परमाणु हथियारों से मुक्त होने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ेगा, किंतु वास्तविकता इसके विपरीत दिखाई देती है। कई परमाणु संपन्न देश अपने शस्त्रागार का आधुनिकीकरण कर रहे हैं। परमाणु अप्रसार के क्षेत्र में Nuclear Non-Proliferation Treaty (NPT) को आधारशिला माना जाता है, जिसका उद्देश्य परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकना और शांतिपूर्ण परमाणु ऊर्जा के उपयोग को बढ़ावा देना है। इसी प्रकार Comprehensive Nuclear-Test-Ban Treaty (CTBT) परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास करता है, यद्यपि यह अभी पूर्ण रूप से लागू नहीं हो पाया है। अमेरिका और रूस के बीच सामरिक हथियारों की सीमा तय करने हेतु New START जैसी संधियाँ भी की गईं, किंतु बदलते राजनीतिक संबंधों के कारण इनकी स्थिरता पर प्रश्नचिह्न बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि निशस्त्रीकरण की प्रक्रिया धीमी और जटिल बनी हुई है।

वर्तमान समय में क्षेत्रीय संघर्षों ने शस्त्र नियंत्रण की आवश्यकता को और बढ़ा दिया है। यूरोप, पश्चिम एशिया और एशिया-प्रशांत क्षेत्र में शक्ति संतुलन की प्रतिस्पर्धा ने रक्षा बजट में वृद्धि और आधुनिक हथियारों की खरीद को बढ़ावा दिया है। कई देश अपनी सुरक्षा चिंताओं के कारण नई मिसाइल प्रणालियाँ, ड्रोन तकनीक और उन्नत रक्षा तंत्र विकसित कर रहे हैं। इससे हथियारों की होड़ पुनः तेज हो गई है। ऐसी स्थिति में यदि प्रभावी शस्त्र नियंत्रण व्यवस्था न हो, तो क्षेत्रीय तनाव व्यापक संघर्ष में बदल सकता है। इसके अतिरिक्त, नई तकनीकों ने युद्ध के स्वरूप को बदल दिया है। साइबर हमलों के माध्यम से किसी देश की आर्थिक और सैन्य व्यवस्था को पंगु बनाया जा सकता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित स्वायत्त हथियार प्रणाली, मानव रहित ड्रोन और अंतरिक्ष में सैन्य गतिविधियाँ वैश्विक सुरक्षा के लिए नए खतरे उत्पन्न कर रही हैं। इन उभरती तकनीकों पर अभी तक कोई व्यापक और बाध्यकारी अंतरराष्ट्रीय नियंत्रण व्यवस्था स्थापित नहीं हो पाई है। यही कारण है कि शस्त्र नियंत्रण की अवधारणा अब केवल पारंपरिक और परमाणु हथियारों तक सीमित नहीं रह गई, बल्कि इसे साइबर और अंतरिक्ष क्षेत्र तक विस्तारित करना आवश्यक हो गया है।

निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण के समक्ष कई चुनौतियाँ भी हैं। महाशक्तियों के बीच राजनीतिक अविश्वास, संधियों का कमजोर क्रियान्वयन, नई तकनीकों के लिए स्पष्ट नियमों का अभाव तथा राष्ट्रीय हितों का टकराव इन प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त आतंकवाद और गैर-राज्य तत्वों के हाथों में हथियारों का पहुँचना भी वैश्विक सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा है। इन परिस्थितियों में केवल संधियाँ पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि पारदर्शिता, संवाद और विश्वास निर्माण उपायों को भी सुदृढ़ करना आवश्यक है। आर्थिक दृष्टि से भी हथियारों की होड़ का प्रभाव गंभीर है। विकासशील देशों के लिए रक्षा व्यय का अत्यधिक बढ़ना शिक्षा, स्वास्थ्य और बुनियादी ढांचे जैसे क्षेत्रों के विकास को प्रभावित करता है। यदि शस्त्र नियंत्रण प्रभावी रूप से लागू किया जाए, तो संसाधनों को मानव विकास की दिशा में मोड़ा जा सकता है। इससे सामाजिक न्याय और आर्थिक प्रगति को बल मिलेगा।

9.9 सारांश

वर्तमान वैश्विक परिप्रेक्ष्य में निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण दोनों ही मानवता के भविष्य से जुड़े अनिवार्य उपाय हैं। पूर्ण निशस्त्रीकरण अभी एक आदर्श लक्ष्य प्रतीत हो सकता है, किंतु शस्त्र नियंत्रण के माध्यम से युद्ध की संभावना को कम किया जा सकता है और अंतरराष्ट्रीय स्थिरता को बनाए रखा जा सकता है। आवश्यक है कि राष्ट्र अपने संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर वैश्विक सहयोग, पारदर्शिता और पारस्परिक विश्वास को बढ़ावा दें। तभी एक सुरक्षित, शांतिपूर्ण और संतुलित विश्व व्यवस्था की स्थापना संभव हो सकेगी। आज परमाणु, जैविक और रासायनिक हथियारों के साथ-साथ साइबर और अंतरिक्ष हथियार भी नई चुनौती बनकर उभरे हैं। अतः निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण को नई तकनीकों के अनुरूप अद्यतन करने की आवश्यकता है।

शीत युद्ध के अनुभवों ने सिद्ध किया कि हथियारों की अंधाधुंध प्रतिस्पर्धा मानवता के लिए घातक है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में भी इन दोनों अवधारणाओं की प्रासंगिकता बनी हुई है।

9.10 प्रमुख शब्दावली

1. **निस्त्रीकरण** – हथियारों का उन्मूलन
2. **शस्त्र नियंत्रण** – हथियारों का नियमन
3. **अप्रसार (Non-Proliferation)** – हथियारों का फैलाव रोकना
4. **न्यूनीकरण (Reduction)** – हथियारों की संख्या में कमी के प्रयास
5. **परमाणु प्रतिरोध (Nuclear Deterrence)** – हमले को रोकने हेतु प्रतिकार की क्षमता

9.11 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1: निस्त्रीकरण का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) हथियार बढ़ाना (ख) हथियार समाप्त करना

(ग) युद्ध करना (घ) सैन्य खर्च बढ़ाना

प्रश्न 2: शस्त्र नियंत्रण किस पर बल देता है?

(क) पूर्ण उन्मूलन (ख) हथियारों का नियमन

(ग) युद्ध की तैयारी (घ) सैन्य गठबंधन

प्रश्न 3: NPT का संबंध किससे है?

(क) जैविक हथियार (ख) परमाणु अप्रसार

(ग) रासायनिक हथियार (घ) साइबर यद्ध

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ख), 2. (ख), 3. (ख)

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. निस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. शीत युद्ध काल में शस्त्र नियंत्रण समझौतों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति में निस्त्रीकरण की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।
4. परमाणु अप्रसार संधि की सीमाओं की विवेचना कीजिए।

9.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Baylis, J., Smith, S., & Owens, P. (2020). *The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations.* Oxford University Press. https://global.oup.com

2. Bandyopadhyaya, J., & Mukherjee, A. (2000). "International Regimes and World Peace: A Case Study of NPT and CTBT." *International Studies.* https://journals.sagepub.com/doi/10.1177/0020881700037004002

3. Cooper, D. A. (2021). *Arms Control for the Third Nuclear Age: Between Disarmament and Armageddon.* Routledge. https://books.google.com/books?id=r544EAAAQBAJ

4. Evans, C. (2022). *Assessing the Impact of the Treaty on the Prohibition of Nuclear Weapons.* University of Reading. https://centaur.reading.ac.uk/107506

5. Gautam, Y., & Mishra, Y. (2025). *Arms Control and Disarmament: Concepts, Theories and Global Challenges.* https://books.google.com

6. Ghosh, S. (1996). "Dynamics of Nuclear Arms Control: Case of the CTBT." *India Quarterly.* https://journals.sagepub.com/doi/10.1177/097492849605200401

7. Grant, T. D. (2024). *Nuclear Arms Control in Peril.* Bristol University Press. https://bristoluniversitypressdigital.com

8. Hamel-Green, M. (2018). "The Nuclear Ban Treaty and Disarmament Forums." *Journal for Peace and Nuclear Disarmament.* https://www.tandfonline.com/doi/10.1080/25751654.2018.1516493

9. International Atomic Energy Agency – आधिकारिक प्रकाशन[6:54 AM, 2/10/2026]

10. International Atomic Energy Agency (IAEA). *Nuclear Non-Proliferation and Safeguards Reports.* https://www.iaea.org

11. Kubiak, K. (2011). *CTBT Hold-Out States and Nuclear Disarmament.* https://edoc.vifapol.de/opus/volltexte/2011/3237/

12. Larsen, J. A., & Smith, J. M. (2005). *Historical Dictionary of Arms Control and Disarmament.* Scarecrow Press.
https://books.google.com/books?id=gDQvz0Bck8sC

13. Mackby, J. (2020). "The NPT–CTBT Connection." In *Nuclear Non-Proliferation in International Law.* Springer.
https://link.springer.com/chapter/10.1007/978-94-6265-347-4_3

14. Möller, U. (2025). "Lessons from Multilateral Negotiations for Nuclear Disarmament." Springer.
https://link.springer.com

15. Mulas, R. (2017). *Strategies of Disarmament: Civil Society and the NPT.* LUISS University.
https://iris.luiss.it/handle/11385/201149

16. Müller, H., & Wunderlich, C. (2020). "Nuclear Disarmament Without the Nuclear-Weapon States." *Daedalus*, 149(2), 171–189.
https://direct.mit.edu/daed/article/149/2/171

17. Sidhu, W. P. S. (2023). "The Nuclear Disarmament and Non-Proliferation Regime." In *Security Studies.* Routledge.
https://www.taylorfrancis.com

18. Thomson, D. B. (1999). *A Guide to the Nuclear Arms Control Treaties.* U.S. Department of Energy.
https://www.osti.gov/servlets/purl/13842

इकाई 10: परमाणु अप्रसार संधि (एन पी टी), व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी टी बी टी)

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

10 .2 उद्देश्य

10.3 निशस्त्रीकरण: परिचय एवं पृष्ठभूमि

10.3 परमाणु अप्रसार और निशस्त्रीकरण: परिचय एवं पृष्ठभूमि

10.4 परमाणु अप्रसार की आवश्यकता

10.5 परमाणु अप्रसार संधि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

10.6 सारांश

10.7 प्रमुख शब्दावली

10.8 आत्म-मूल्यांकन हेतु वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

10.9 निबंधात्मक प्रश्न

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम अंतरराष्ट्रीय राजनीति में निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की अवधारणाओं को समझेंगे। साथ ही, विभिन्न प्रकार के निशस्त्रीकरण, उनके सिद्धांतों तथा वैश्विक शांति और सुरक्षा में उनकी भूमिका का विश्लेषण करेंगे। प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संधियों जैसे परमाणु अप्रसार संधि (NPT) और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT), की प्रासंगिकता तथा सीमाओं के अवलोकन के साथ-साथ समकालीन विश्व राजनीति में हथियारों की होड़, सुरक्षा चुनौतियों और शस्त्र नियंत्रण के उपायों का समालोचनात्मक अध्ययन भी करेंगे।

10.2 उद्देश्य

इकाई के उद्देश्य-

1. शिक्षार्थियों को निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण की मूल अवधारणाओं से परिचित कराना।

2. विभिन्न प्रकार के निशस्त्रीकरण तथा अंतरराष्ट्रीय संधियों और प्रयासों का अध्ययन कराना।

3. वैश्विक शांति, सुरक्षा और शक्ति संतुलन में शस्त्र नियंत्रण की भूमिका को समझाना।

4. समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में हथियारों की होड़ और नई सुरक्षा चुनौतियों का विश्लेषण करने की क्षमता विकसित करना।

10.3 परमाणु अप्रसार और निशस्त्रीकरण: परिचय एवं पृष्ठभूमि

परमाणु हथियारों का विकास आधुनिक युग की सबसे महत्वपूर्ण, जटिल और विवादास्पद वैज्ञानिक उपलब्धियों में से एक है। यह उपलब्धि एक ओर मानव बुद्धि, वैज्ञानिक क्षमता और तकनीकी प्रगति का प्रतीक है, तो दूसरी ओर यह मानव सभ्यता के अस्तित्व के लिए एक गंभीर चुनौती भी प्रस्तुत करती है। 20वीं शताब्दी के मध्य में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए, उन्होंने मानव जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। इन परिवर्तनों ने जहां विकास, ऊर्जा उत्पादन, चिकित्सा और औद्योगिक प्रगति को नई दिशा दी, वहीं दूसरी ओर विनाशकारी हथियारों के निर्माण का मार्ग भी प्रशस्त किया।

परमाणु ऊर्जा की खोज ने मानव को एक ऐसी शक्ति प्रदान की, जिसका उपयोग दो विपरीत दिशाओं में किया जा सकता था—एक ओर यह ऊर्जा उत्पादन, चिकित्सा और अनुसंधान के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकती थी, वहीं दूसरी ओर इसका उपयोग अत्यंत विनाशकारी हथियारों के निर्माण में भी संभव था। यही द्वैत प्रकृति (dual nature) परमाणु ऊर्जा को अत्यंत संवेदनशील और नियंत्रित करने योग्य बनाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान परमाणु हथियारों का विकास तेज़ी से

हुआ। वैज्ञानिकों ने परमाणु विखंडन (nuclear fission) की प्रक्रिया के माध्यम से अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता को पहचाना और इसी के आधार पर परमाणु बम का निर्माण किया गया। इस प्रक्रिया में परमाणु के केंद्र (nucleus) को तोड़कर अत्यधिक ऊर्जा मुक्त की जाती है, जो विस्फोट के रूप में प्रकट होती है। यह ऊर्जा इतनी अधिक होती है कि कुछ ही क्षणों में पूरे शहर को नष्ट करने की क्षमता रखती है।

6 अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा शहर पर और 9 अगस्त 1945 को नागासाकी शहर पर परमाणु बम गिराए गए। इन हमलों ने न केवल द्वितीय विश्व युद्ध के अंत को गति दी, बल्कि मानव इतिहास में एक नए युग की शुरुआत भी की—एक ऐसा युग जिसमें मानव ने स्वयं अपने विनाश की क्षमता विकसित कर ली थी। इन हमलों में तत्काल लाखों लोगों की मृत्यु हो गई और जो लोग जीवित बचे, वे भी लंबे समय तक विकिरण (radiation) के दुष्प्रभावों से पीड़ित रहे। कैंसर, जन्म दोष, मानसिक आघात और पर्यावरणीय क्षति जैसे प्रभाव कई दशकों तक देखने को मिले। इन घटनाओं ने विश्व समुदाय को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि यदि भविष्य में परमाणु हथियारों का व्यापक स्तर पर उपयोग हुआ, तो इसका परिणाम मानव सभ्यता के पूर्ण विनाश के रूप में सामने आ सकता है। इस प्रकार, परमाणु हथियार केवल सैन्य शक्ति का प्रतीक नहीं रह गए, बल्कि वे एक वैश्विक संकट के रूप में उभरकर सामने आए।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व राजनीतिक रूप से दो प्रमुख गुटों में विभाजित हो गया—एक ओर संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके सहयोगी देश, तथा दूसरी ओर सोवियत संघ और उसके समर्थक देश। इस काल को शीत युद्ध (Cold War) के नाम से जाना जाता है। शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध नहीं हुआ, लेकिन उनके बीच राजनीतिक, वैचारिक और सैन्य प्रतिस्पर्धा अत्यधिक बढ़ गई। इस प्रतिस्पर्धा का सबसे खतरनाक रूप परमाणु हथियारों की होड़ के रूप में सामने आया। अमेरिका द्वारा 1945 में परमाणु हथियारों का उपयोग किए जाने के बाद सोवियत संघ ने भी 1949 में अपना पहला परमाणु परीक्षण किया। इसके बाद ब्रिटेन, फ्रांस और चीन ने भी परमाणु हथियार विकसित कर लिए। इस प्रकार, विश्व में परमाणु शक्ति संपन्न देशों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। इस स्थिति ने वैश्विक सुरक्षा व्यवस्था को अत्यंत अस्थिर बना दिया।

परमाणु हथियारों की इस होड़ ने "Mutually Assured Destruction (MAD)" की अवधारणा को जन्म दिया, जिसका अर्थ है कि यदि एक देश परमाणु हमला करता है, तो दूसरा देश भी उसी प्रकार का जवाब देगा, और परिणामस्वरूप दोनों ही देशों का विनाश निश्चित होगा। यह स्थिति एक प्रकार का भय संतुलन (balance of terror) उत्पन्न करती है, जिसमें शांति का आधार भय होता है, न कि सहयोग। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि यदि परमाणु हथियारों के प्रसार को नियंत्रित नहीं किया गया, तो भविष्य में और अधिक देश परमाणु शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिससे युद्ध और संघर्ष की संभावनाएँ बढ़ जाएँगी। छोटे देशों के पास भी यदि परमाणु हथियार होंगे, तो क्षेत्रीय विवाद वैश्विक संकट का रूप ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त, आतंकवादी संगठनों द्वारा परमाणु सामग्री के

उपयोग का खतरा भी बढ़ने लगा। इन सभी परिस्थितियों ने अंतरराष्ट्रीय समुदाय को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकने के लिए ठोस और प्रभावी कदम उठाए जाने चाहिए। केवल सैन्य संतुलन या राजनीतिक समझौते पर्याप्त नहीं थे; इसके लिए एक संगठित और कानूनी ढांचे की आवश्यकता थी, जो सभी देशों पर समान रूप से लागू हो सके।

इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न संगठनों और संधियों का निर्माण किया गया। 1957 में अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) की स्थापना की गई, जिसका मुख्य उद्देश्य परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग को बढ़ावा देना और इसके दुरुपयोग को रोकना था। यह संस्था परमाणु कार्यक्रमों की निगरानी करती है और यह सुनिश्चित करने का प्रयास करती है कि परमाणु तकनीक का उपयोग केवल शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए ही किया जाए।

इसके बाद संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में परमाणु हथियारों के नियंत्रण के लिए कई प्रयास किए गए, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण परमाणु अप्रसार संधि (NPT) और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) हैं। NPT को 1968 में अपनाया गया और 1970 में यह लागू हुई। इसका मुख्य उद्देश्य परमाणु हथियारों के प्रसार को रोकना, निरस्त्रीकरण को बढ़ावा देना और परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग को सुनिश्चित करना है। दूसरी ओर, CTBT को 1996 में अपनाया गया, जिसका उद्देश्य सभी प्रकार के परमाणु परीक्षणों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाना है। यह संधि इस विचार पर आधारित है कि यदि परमाणु परीक्षणों को रोक दिया जाए, तो नए और अधिक उन्नत परमाणु हथियारों के विकास को भी सीमित किया जा सकता है।

हालांकि, इन संधियों के निर्माण के बावजूद कई चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई हैं। सभी देशों द्वारा इन संधियों को स्वीकार नहीं किया गया है, और कुछ देशों ने अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए इनसे दूरी बनाए रखी है। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक मतभेद, तकनीकी जटिलताएँ और विश्वास की कमी भी इन संधियों के प्रभावी कार्यान्वयन में बाधा उत्पन्न करती हैं। परमाणु हथियारों का मुद्दा केवल राजनीतिक या सैन्य नहीं है, बल्कि यह एक नैतिक और मानवीय प्रश्न भी है। यह विचार करना आवश्यक है कि क्या किसी भी परिस्थिति में ऐसे हथियारों का उपयोग उचित ठहराया जा सकता है, जो लाखों निर्दोष लोगों की जान ले सकते हैं और पर्यावरण को स्थायी रूप से क्षति पहुँचा सकते हैं।

मानवाधिकारों के दृष्टिकोण से भी परमाणु हथियार अत्यंत गंभीर चुनौती प्रस्तुत करते हैं। जीवन का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार और सुरक्षित पर्यावरण का अधिकार—ये सभी परमाणु हथियारों की उपस्थिति से खतरे में पड़ जाते हैं। इसलिए, परमाणु निरस्त्रीकरण केवल एक रणनीतिक आवश्यकता नहीं, बल्कि एक नैतिक दायित्व भी है। आज के समय में जब विज्ञान और तकनीक और अधिक उन्नत हो रही है, तब परमाणु हथियारों से जुड़ी चुनौतियाँ भी जटिल होती जा रही हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, साइबर युद्ध और स्वचालित हथियार प्रणालियों के विकास ने सुरक्षा के पारंपरिक

दृष्टिकोण को बदल दिया है। इसके अतिरिक्त, गैर-राज्य तत्वों और आतंकवादी संगठनों के हाथों में परमाणु सामग्री पहुँचने का खतरा भी बढ़ रहा है।

इन सभी चुनौतियों के बीच यह आवश्यक हो जाता है कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय एकजुट होकर कार्य करे। केवल संधियाँ बनाना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनका प्रभावी कार्यान्वयन, निगरानी और निरंतर सुधार भी आवश्यक है। इसके लिए देशों के बीच विश्वास, पारदर्शिता और सहयोग को बढ़ावा देना होगा। अंततः यह कहा जा सकता है कि परमाणु हथियारों का मुद्दा मानवता के भविष्य से जुड़ा हुआ है। यदि इन हथियारों को नियंत्रित नहीं किया गया, तो यह पूरी सभ्यता के लिए खतरा बन सकते हैं। NPT और CTBT जैसी संधियाँ इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं, लेकिन इनकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि विश्व के देश कितनी गंभीरता से इनका पालन करते हैं।

इस प्रकार, परमाणु अप्रसार और निरस्त्रीकरण का प्रयास केवल एक अंतरराष्ट्रीय नीति नहीं, बल्कि मानवता के अस्तित्व की रक्षा के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है।

10.4 परमाणु अप्रसार की आवश्यकता

10.4.1. वैश्विक सुरक्षा की अनिवार्यता

परमाणु अप्रसार की आवश्यकता का सबसे मूल और केंद्रीय कारण वैश्विक सुरक्षा व्यवस्था को स्थिर बनाए रखना है। वर्तमान अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति संतुलन एक अत्यंत संवेदनशील विषय है, और परमाणु हथियार इस संतुलन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। यदि अधिक देशों के पास परमाणु हथियार उपलब्ध हो जाते हैं, तो अंतरराष्ट्रीय राजनीति में "अनिश्चितता" (uncertainty) का स्तर अत्यधिक बढ़ जाता है। किसी भी देश की सैन्य नीति अधिक आक्रामक हो सकती है, क्योंकि उसे अपनी परमाणु शक्ति पर अत्यधिक विश्वास होता है। इससे "deterrence" का सिद्धांत कमजोर पड़ सकता है और युद्ध की संभावना बढ़ सकती है।

परमाणु हथियारों की मौजूदगी में संघर्ष केवल पारंपरिक युद्ध तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह किसी भी समय पूर्ण विनाशकारी युद्ध में बदल सकता है। इस प्रकार, परमाणु अप्रसार वैश्विक स्थिरता के लिए एक सुरक्षा कवच की तरह कार्य करता है।

10.4.2. हथियारों की दौड़ (Arms Race) को रोकना

परमाणु अप्रसार का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य हथियारों की दौड़ को रोकना है। इतिहास यह दर्शाता है कि जब एक देश किसी नई सैन्य तकनीक को अपनाता है, तो अन्य देश भी उसे प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। यदि परमाणु हथियारों का प्रसार अनियंत्रित हो जाए, तो यह एक "chain reaction" की तरह काम करेगा, जिसमें एक देश के बाद दूसरा देश परमाणु शक्ति प्राप्त करने की होड़ में शामिल हो जाएगा। यह स्थिति अत्यंत खतरनाक होती है, क्योंकि इससे:

- वैश्विक तनाव बढ़ता है
- सैन्य खर्च बढ़ता है

- संघर्ष की संभावना अधिक होती है

10.4.3 क्षेत्रीय अस्थिरता को नियंत्रित करना

कई बार परमाणु हथियारों का प्रभाव केवल वैश्विक स्तर तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह क्षेत्रीय स्तर पर भी अस्थिरता उत्पन्न करता है। यदि किसी क्षेत्र में दो या अधिक देशों के पास परमाणु हथियार होते हैं, तो उनके बीच छोटे-छोटे विवाद भी अत्यधिक खतरनाक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए:

- सीमा विवाद
- जल संसाधनों को लेकर विवाद
- राजनीतिक या धार्मिक तनाव

इन सभी परिस्थितियों में परमाणु हथियारों की उपस्थिति संघर्ष को और अधिक जटिल और खतरनाक बना देती है।

10.4.4 मानव जीवन की व्यापक सुरक्षा

परमाणु अप्रसार की आवश्यकता का सबसे महत्वपूर्ण मानवीय पहलू यह है कि यह मानव जीवन की रक्षा से जुड़ा हुआ है। परमाणु हथियारों का उपयोग किसी भी युद्ध में असमान रूप से अधिक विनाशकारी होता है। यह केवल सैनिकों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि आम नागरिक, बच्चे, महिलाएँ और बुजुर्ग भी इसके शिकार होते हैं।

एक परमाणु विस्फोट:

- लाखों लोगों की तत्काल मृत्यु का कारण बन सकता है
- गंभीर जलन और चोटें उत्पन्न करता है
- अस्पताल और चिकित्सा व्यवस्था को नष्ट कर देता है

इस प्रकार, परमाणु अप्रसार मानव जीवन की सुरक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है।

10.4.5 विकिरण (Radiation) के दीर्घकालिक प्रभाव

परमाणु हथियारों की सबसे खतरनाक विशेषता उनका विकिरण प्रभाव है। यह प्रभाव केवल विस्फोट के समय तक सीमित नहीं रहता, बल्कि दशकों तक बना रहता है।

विकिरण के प्रभाव:

- कैंसर (विशेष रूप से ल्यूकेमिया)
- जन्मजात विकृतियाँ
- डीएनए में परिवर्तन
- प्रतिरक्षा प्रणाली की कमजोरी

यह प्रभाव केवल एक पीढ़ी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि आने वाली कई पीढ़ियों को प्रभावित करता है। इसलिए परमाणु अप्रसार केवल वर्तमान की नहीं, बल्कि भविष्य की भी सुरक्षा करता है।

10.4.6 पर्यावरणीय संतुलन की रक्षा

परमाणु हथियारों और परीक्षणों का प्रभाव पर्यावरण पर अत्यंत गंभीर होता है।

प्रमुख प्रभाव:

- वायु प्रदूषण (Radioactive particles)
- जल प्रदूषण (नदियों और महासागरों में विकिरण)
- भूमि की उर्वरता में कमी

परमाणु परीक्षणों के कारण कई क्षेत्रों में कृषि उत्पादन प्रभावित हुआ है। इससे खाद्य सुरक्षा पर भी खतरा उत्पन्न होता है।

10.4.7 जैव विविधता (Biodiversity) पर प्रभाव

परमाणु विकिरण केवल मनुष्यों को ही नहीं, बल्कि सभी जीव-जंतुओं और पौधों को प्रभावित करता है।

- कई प्रजातियाँ विलुप्त हो सकती हैं
- पारिस्थितिकी तंत्र असंतुलित हो जाता है
- प्राकृतिक चक्र प्रभावित होते हैं

इस प्रकार, परमाणु अप्रसार पृथ्वी के जैविक संतुलन को बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है।

10.4.8 "न्यूक्लियर विंटर" का खतरा

यदि बड़े पैमाने पर परमाणु युद्ध होता है, तो "न्यूक्लियर विंटर" जैसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

इस स्थिति में:

- धूल और धुआँ सूर्य के प्रकाश को रोक देते हैं
- पृथ्वी का तापमान गिर जाता है
- कृषि उत्पादन समाप्त हो सकता है

यह स्थिति मानव जीवन के लिए अत्यंत विनाशकारी होगी।

10.4.9 आर्थिक संसाधनों का संरक्षण

परमाणु हथियारों का निर्माण और रखरखाव अत्यंत महंगा होता है।

इसके परिणाम:

- विकास कार्यों में कमी
- शिक्षा और स्वास्थ्य पर कम खर्च
- गरीबी और असमानता में वृद्धि

यदि यही संसाधन विकास में लगाए जाएँ, तो समाज का समग्र विकास संभव है।

10.4.10 वैश्विक सहयोग को बढ़ावा

परमाणु अप्रसार अंतरराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देता है।

- देशों के बीच विश्वास बढ़ता है

- कूटनीतिक संबंध मजबूत होते हैं
- शांति स्थापित होती है

10.4.11 आतंकवाद के खतरे को कम करना

आज के समय में परमाणु आतंकवाद एक वास्तविक खतरा है।
यदि परमाणु हथियार अधिक देशों में फैलते हैं, तो:

- उनके चोरी होने का खतरा बढ़ता है
- गैर-राज्य तत्वों तक पहुँच संभव हो जाती है

इसलिए अप्रसार अत्यंत आवश्यक है।

10.4.12 नैतिक और मानवीय दृष्टिकोण

परमाणु हथियारों का अस्तित्व ही एक नैतिक प्रश्न है।

- क्या किसी को इतनी शक्ति मिलनी चाहिए?
- क्या निर्दोष लोगों की हत्या उचित है?

इस दृष्टि से अप्रसार एक नैतिक आवश्यकता भी है।

10.4.13 अंतरराष्ट्रीय कानून और व्यवस्था

परमाणु अप्रसार वैश्विक कानून व्यवस्था को मजबूत करता है।

- संधियाँ (Treaties)
- निगरानी प्रणाली
- पारदर्शिता

10.4.14 भविष्य की पीढ़ियों की सुरक्षा

परमाणु हथियारों का प्रभाव केवल वर्तमान तक सीमित नहीं रहता।

- पर्यावरणीय क्षति
- स्वास्थ्य समस्याएँ
- संसाधनों की कमी

इसलिए अप्रसार भविष्य के लिए आवश्यक है।

10.4.15 तकनीकी दुरुपयोग को रोकना

नई तकनीकों के साथ खतरे भी बढ़ रहे हैं:

- AI + Nuclear control
- Cyber attacks

अप्रसार इन जोखिमों को कम करता है।

परमाणु अप्रसार की आवश्यकता केवल एक सुरक्षा नीति नहीं, बल्कि एक व्यापक वैश्विक आवश्यकता है, जो मानव जीवन, पर्यावरण, अर्थव्यवस्था और भविष्य की पीढ़ियों से जुड़ी हुई है।

यदि परमाणु हथियारों के प्रसार को नियंत्रित नहीं किया गया, यह विश्व को अस्थिरता, भय और विनाश की ओर ले जा सकता है।

इसलिए, सभी देशों का यह दायित्व बनता है कि वे मिलकर इस दिशा में कार्य करें और एक सुरक्षित, संतुलित और शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था का निर्माण करें।

10.5 परमाणु अप्रसार संधि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि--

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन ने क्रमशः परमाणु हथियार विकसित किए।1950 और 1960 के दशकों में यह आशंका बढ़ गई कि यदि परमाणु हथियारों का प्रसार अन्य देशों तक हुआ तो अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा व्यवस्था अस्थिर हो जाएगी। सन 1957 में अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग को बढ़ावा देना था। इसके पश्चात संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में परमाणु अप्रसार संधि का प्रस्ताव तैयार किया गया। 1965 और 1968 के बीच, इस संधि पर जिनेवा , स्विट्जरलैंड में स्थित संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रायोजित संगठन , अठारह राष्ट्र निरस्त्रीकरण समिति द्वारा बातचीत की गई थी । NPT को 1968 में अपनाया गया और 1970 में यह लागू हुई, जबकि CTBT को 1996 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा स्वीकार किया गया। ये दोनों संधियाँ वैश्विक परमाणु व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। संधि परमाणु-हथियार संपन्न राज्यों को उन देशों के रूप में परिभाषित करती है जिन्होंने 1967 से पहले परमाणु विस्फोटक उपकरण का निर्माण और परीक्षण किया है ; ये संयुक्त राज्य अमेरिका (1945), रूस (1949), यूनाइटेड किंगडम (1952), फ्रांस (1960), और चीन (1964) हैं।

अगस्त 2016 तक, 191 देश संधि के पक्षकार बन चुके थे। उत्तर कोरिया, जो 1985 में शामिल हुआ था लेकिन कभी भी इसका अनुपालन नहीं किया, ने 2003 में एनपीटी से अपनी वापसी की घोषणा की - ऐसा करने वाला वह एकमात्र देश था - और 2006 में अपना पहला परमाणु परीक्षण किया। संयुक्त राष्ट्र के चार सदस्य देशों ने कभी भी एनपीटी को स्वीकार नहीं किया है, भारत, इज़राइल और पाकिस्तान । इसके अलावा, दक्षिण सूडान, जो 2011 में स्वतंत्र हुआ, इसमें शामिल नहीं हुआ है।

10.5.1 NPT की सदस्यता-

परमाणु हथियार संपन्न राज्य-

- अमेरिका
- रूस (पूर्व सोवियत संघ)
- ब्रिटेन
- फ्रांस
- चीन

10.5.2 परमाणु अप्रसार संधि मुख्य विशेषताएँ

परमाणु हथियारों का विकास मानव सभ्यता के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण और साथ ही सबसे चिंताजनक घटनाओं में से एक है। विज्ञान और तकनीक की प्रगति ने मानव को ऐसी शक्ति प्रदान की है, जो न केवल उसके जीवन स्तर को सुधार सकती है, बल्कि उसके अस्तित्व को भी समाप्त कर सकती है। यही कारण है कि परमाणु हथियारों को लेकर वैश्विक स्तर पर गहरी चिंता, बहस और नियंत्रण की आवश्यकता महसूस की गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जिस प्रकार परमाणु हथियारों का उपयोग किया गया, उसने यह स्पष्ट कर दिया कि भविष्य में यदि इनका प्रयोग व्यापक स्तर पर हुआ, तो मानवता के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग सकता है। हिरोशिमा और नागासाकी की त्रासदी केवल एक ऐतिहासिक घटना नहीं है, बल्कि यह मानव इतिहास की एक ऐसी चेतावनी है, जो आज भी हमें यह याद दिलाती है कि परमाणु शक्ति का दुरुपयोग कितना विनाशकारी हो सकता है। इसी पृष्ठभूमि में अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने परमाणु हथियारों के नियंत्रण और उनके प्रसार को रोकने के लिए विभिन्न प्रयास किए। इन प्रयासों का सबसे संगठित और प्रभावी रूप परमाणु अप्रसार संधि (NPT) और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) के रूप में सामने आया। ये दोनों संधियाँ केवल कानूनी दस्तावेज नहीं हैं, बल्कि यह वैश्विक शांति, सुरक्षा और सहयोग की दिशा में किए गए गंभीर प्रयासों का प्रतीक हैं।

NPT ने परमाणु हथियारों के प्रसार को सीमित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यदि यह संधि अस्तित्व में न होती, तो आज दुनिया में कई और देश परमाणु शक्ति बन चुके होते, जिससे वैश्विक अस्थिरता और संघर्ष की संभावना और अधिक बढ़ जाती। इस संधि ने एक ऐसा ढांचा प्रदान किया, जिसके माध्यम से परमाणु तकनीक के उपयोग को नियंत्रित किया जा सकता है और यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि इसका उपयोग मुख्यतः शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए ही हो। हालांकि, NPT की अपनी सीमाएँ भी हैं। इसकी सबसे बड़ी आलोचना यह है कि यह भेदभावपूर्ण है, क्योंकि यह केवल कुछ देशों को ही परमाणु शक्ति के रूप में मान्यता देती है, जबकि अन्य देशों को इससे वंचित रखती है। इस असमानता ने कई देशों में असंतोष को जन्म दिया है और यही कारण है कि कुछ देश इस संधि से बाहर रहे या इससे अलग हो गए। इसके अलावा, निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी प्रगति अपेक्षाकृत धीमी रही है, जिससे यह प्रश्न उठता है कि क्या परमाणु शक्ति संपन्न देश वास्तव में अपने हथियारों को समाप्त करने के लिए प्रतिबद्ध हैं या नहीं।

दूसरी ओर, CTBT ने परमाणु परीक्षणों को रोकने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। यह संधि इस विचार पर आधारित है कि यदि परीक्षणों को रोक दिया जाए, तो नए और अधिक उन्नत परमाणु हथियारों का विकास भी सीमित हो जाएगा। इस दृष्टि से CTBT एक तकनीकी और रणनीतिक दोनों प्रकार का समाधान प्रस्तुत करती है। CTBT की सबसे बड़ी विशेषता इसकी निगरानी प्रणाली है, जो आधुनिक तकनीक पर आधारित है और दुनिया के विभिन्न हिस्सों में होने वाली गतिविधियों को ट्रैक कर सकती है। यह प्रणाली न केवल पारदर्शिता बढ़ाती है, बल्कि देशों के

बीच विश्वास को भी मजबूत करती है। इसके बावजूद, CTBT अभी तक पूरी तरह लागू नहीं हो पाई है, जो इसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। कुछ महत्वपूर्ण देशों द्वारा इसे स्वीकृति न देने के कारण यह संधि अपने पूर्ण प्रभाव में कार्य नहीं कर पा रही है।

इन दोनों संधियों का संयुक्त प्रभाव यह है कि वे परमाणु खतरे को नियंत्रित करने के लिए एक व्यापक ढांचा प्रदान करती हैं। NPT जहां प्रसार को रोकती है, वहीं CTBT विकास को सीमित करती है। इस प्रकार, ये दोनों संधियाँ मिलकर एक ऐसी प्रणाली बनाती हैं, जो परमाणु हथियारों के नियंत्रण के लिए आवश्यक है। परमाणु हथियारों के संदर्भ में केवल राजनीतिक और तकनीकी पहलुओं पर विचार करना पर्याप्त नहीं है। इसके नैतिक और मानवीय पहलुओं को भी समझना अत्यंत आवश्यक है। परमाणु हथियारों का उपयोग केवल सैन्य लक्ष्य तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह निर्दोष नागरिकों, पर्यावरण और आने वाली पीढ़ियों को भी प्रभावित करता है। इस दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी भी परिस्थिति में ऐसे हथियारों का अस्तित्व उचित ठहराया जा सकता है।

मानवाधिकारों के दृष्टिकोण से भी परमाणु हथियार एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत करते हैं। जीवन का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार और सुरक्षित पर्यावरण का अधिकार—ये सभी परमाणु हथियारों की उपस्थिति से खतरे में पड़ जाते हैं। इसलिए, परमाणु निरस्त्रीकरण केवल एक रणनीतिक या राजनीतिक आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह एक नैतिक दायित्व भी है।

भारत का दृष्टिकोण इस संदर्भ में संतुलित और व्यावहारिक रहा है। भारत ने हमेशा वैश्विक निरस्त्रीकरण का समर्थन किया है, लेकिन साथ ही अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को भी प्राथमिकता दी है। भारत द्वारा अपनाई गई “No First Use” और “Credible Minimum Deterrence” जैसी नीतियाँ यह दर्शाती हैं कि वह परमाणु हथियारों को केवल एक प्रतिरोधक साधन के रूप में देखता है, न कि आक्रामक हथियार के रूप में। भविष्य की दृष्टि से देखें तो परमाणु हथियारों से जुड़ी चुनौतियाँ और अधिक जटिल होती जा रही हैं। नई तकनीकों जैसे कृत्रिम बुद्धिमत्ता, साइबर युद्ध और स्वचालित हथियार प्रणालियों के विकास ने सुरक्षा की परिभाषा को और अधिक जटिल बना दिया है। इसके अलावा, गैर-राज्य तत्वों और आतंकवादी संगठनों के हाथों में परमाणु सामग्री पहुँचने का खतरा भी बढ़ रहा है।

इन सभी चुनौतियों के बीच यह आवश्यक हो जाता है कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय एकजुट होकर कार्य करे। केवल संधियाँ बनाना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनका प्रभावी कार्यान्वयन और निरंतर सुधार भी आवश्यक है। इसके लिए देशों के बीच विश्वास, पारदर्शिता और सहयोग को बढ़ावा देना होगा। सुधार के स्तर पर NPT और CTBT दोनों में परिवर्तन की आवश्यकता है। NPT को अधिक समावेशी और न्यायसंगत बनाना होगा, ताकि सभी देश इसे स्वीकार कर सकें। वहीं CTBT को लागू करने के लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति और अंतरराष्ट्रीय दबाव दोनों की आवश्यकता होगी।

अंततः, यह समझना महत्वपूर्ण है कि परमाणु हथियारों का मुद्दा केवल सरकारों या सैन्य संस्थानों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह पूरे मानव समाज से जुड़ा हुआ है। जागरूकता, शिक्षा और

जनभागीदारी के माध्यम से ही इस दिशा में वास्तविक परिवर्तन संभव है। NPT और CTBT जैसे प्रयास इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं, लेकिन अभी लंबा रास्ता तय करना बाकी है। यदि विश्व समुदाय मिलकर इस दिशा में कार्य करे, तो एक सुरक्षित, शांतिपूर्ण और स्थायी भविष्य की कल्पना को वास्तविकता में बदला जा सकता है।

(क) अप्रसार (Non-Proliferation)

परमाणु हथियार संपन्न देश (अमेरिका, रूस, चीन, फ्रांस, ब्रिटेन) अन्य देशों को परमाणु हथियार या उनकी तकनीक हस्तांतरित नहीं करेंगे, और गैर-परमाणु संपन्न देश इन्हें प्राप्त नहीं करेंगे।

(ख) निरस्त्रीकरण (Disarmament):

संधि में शामिल सभी देश, विशेषकर परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र, परमाणु हथियारों की होड़ को समाप्त करने और पूर्ण परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में बातचीत करने और कदम उठाने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

(ग) शांतिपूर्ण उपयोग (Peaceful Use):

NPT के सभी सदस्य देशों को परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग (जैसे बिजली उत्पादन, चिकित्सा) के लिए तकनीक विकसित करने और उसका उपयोग करने का अधिकार है, जिसे अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) द्वारा सत्यापित किया जाता है।

इन तीन स्तंभों का मुख्य उद्देश्य वैश्विक सुरक्षा को बढ़ाना और परमाणु युद्ध के खतरों को कम करना है।

NPT की उपलब्धियाँ-

- परमाणु हथियारों के प्रसार को सीमित करने में महत्वपूर्ण भूमिका।
- परमाणु तकनीक के शांतिपूर्ण उपयोग को बढ़ावा।
- अंतरराष्ट्रीय परमाणु निरीक्षण प्रणाली को सुदृढ़ किया.

10.5.2 व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) : क्रमबद्ध एवं विश्लेषणात्मक विवरण

4.1 पृष्ठभूमि - यह नए परमाणु हथियारों के निर्माण और वर्तमान परमाणु हथियार डिजाइनों की प्रगति को रोकता है। संधि के लागू होने पर, यह परमाणु परीक्षण पर कानूनी रूप से बाध्यकारी प्रतिबंध स्थापित करता है। यह संधि परमाणु परीक्षण से होने वाली पर्यावरणीय क्षति को रोकने में भी योगदान देती है। Lku~1963 की आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि (PTBT) के Ik"pkr~ भूमिगत परमाणु परीक्षण, सभी प्रकार के परमाणु परीक्षणों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया जाए।

CTBT के उद्देश्य

- सभी प्रकार के परमाणु विस्फोटों पर प्रतिबंध।
- परमाणु हथियारों के गुणात्मक विकास को रोकना।
- वैश्विक परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में कदम।

प्रमुख प्रावधान

- किसी भी वातावरण (भूमि, जल, वायु, अंतरिक्ष) में परमाणु परीक्षण प्रतिबंधित।
- अंतरराष्ट्रीय निगरानी प्रणाली (IMS) की स्थापना।
- ऑन-साइट निरीक्षण की व्यवस्था।

CTBT की वर्तमान स्थिति-

CTBTको लागू होने के लिए 44 विशिष्ट देशों के अनुमोदन की आवश्यकता है। अमेरिका, चीन, भारत, पाकिस्तान और उत्तर कोरिया जैसे देशों के हस्ताक्षर, अनुमोदन न करने के कारण यह अभी तक प्रभावी नहीं हो सकी है।

CTBT की सीमाएँ

- कानूनी रूप से लागू न हो पाना।
- प्रमुख परमाणु शक्तियों की अनिच्छा।
- तकनीकी सत्यापन को लेकर विवाद।

भारतऔर NPT–CTBT

भारत ने NPT को भेदभावपूर्ण बताते हुए हस्ताक्ष रन हीं किए। भारत का तर्क है कि यह संधि परमाणु शक्तियों को स्थायी विशेषाधिकार देती है।इसी प्रकार CTBT पर भी भारत ने यह कहते हुए हस्ताक्षर नहीं किए कि यह निरस्त्रीकरण की स्पष्ट समय सीमा निर्धारित नहीं करती।

10.6 **सारांश**

परमाणु हथियारों के युग में मानव सभ्यता एक ऐसे जटिल और निर्णायक मोड़ पर खड़ी है, जहाँ प्रगति और विनाश की संभावनाएँ एक साथ विद्यमान हैं। विज्ञान और तकनीक ने मानव को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है, जिसके माध्यम से वह न केवल अपने जीवन को बेहतर बना सकता है, बल्कि दुर्भाग्यवश उसी शक्ति का उपयोग विनाश के लिए भी कर सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में परमाणु अप्रसार संधि (NPT) और व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) जैसे अंतरराष्ट्रीय प्रयास अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाते हैं, क्योंकि ये संधियाँ यह दर्शाती हैं कि वैश्विक समुदाय परमाणु हथियारों के खतरे को समझता है और उसे नियंत्रित करने के लिए संगठित रूप से प्रयास कर रहा है। NPT ने परमाणु हथियारों के अनियंत्रित प्रसार को सीमित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि अधिकाधिक देश इस खतरनाक प्रतिस्पर्धा का हिस्सा न बनें, जबकि CTBT ने परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने का प्रयास कर यह संदेश दिया है कि नए और अधिक उन्नत तथा घातक हथियारों का विकास मानवता के हित में नहीं है। इन दोनों संधियों का संयुक्त महत्व इस बात में निहित है कि वे परमाणु खतरे को अलग-अलग स्तरों पर नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं—एक ओर प्रसार को रोकना और दूसरी ओर विकास की प्रक्रिया को सीमित करना—जिससे एक संतुलित और सुरक्षित वैश्विक व्यवस्था की नींव रखी जा सके।

फिर भी, इन सकारात्मक प्रयासों के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में अनेक गंभीर चुनौतियाँ अब भी विद्यमान हैं, जो इन संधियों की प्रभावशीलता को सीमित करती हैं। सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि आज भी पूर्ण परमाणु निरस्त्रीकरण का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सका है और विश्व के कई देशों के पास हजारों परमाणु हथियार मौजूद हैं, जो किसी भी समय मानव सभ्यता के लिए विनाशकारी सिद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सभी देशों की समान और पूर्ण भागीदारी का अभाव भी एक बड़ी बाधा है, क्योंकि जब तक हर राष्ट्र इन नियमों का पालन नहीं करेगा, तब तक वैश्विक सुरक्षा अधूरी ही रहेगी। इसके साथ ही, राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी एक ऐसी समस्या है जो इन सभी प्रयासों को कमजोर करती है, क्योंकि देश अक्सर अपने राष्ट्रीय हितों, सुरक्षा चिंताओं और शक्ति संतुलन की राजनीति को प्राथमिकता देते हैं, जिसके कारण वे निरस्त्रीकरण की दिशा में ठोस और निर्णायक कदम उठाने से बचते हैं।

इन चुनौतियों के पीछे गहराई से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि असमानता, अविश्वास और शक्ति-राजनीति जैसे कारक वैश्विक स्तर पर सहयोग की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। जब कुछ देशों को विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं और अन्य देशों को सीमित किया जाता है, तो यह असंतुलन पैदा करता है, जिससे असंतोष और विरोध की भावना जन्म लेती है। इसी प्रकार, देशों के बीच विश्वास की कमी भी एक बड़ी समस्या है, क्योंकि यदि एक राष्ट्र को दूसरे की नीतियों पर संदेह होता है, तो वह स्वयं भी अपनी सुरक्षा बढ़ाने के लिए हथियारों का विस्तार करता है, जिससे एक अंतहीन हथियारों की दौड़ शुरू हो जाती है। यह स्थिति न केवल संसाधनों की बर्बादी का कारण बनती है, बल्कि वैश्विक शांति और स्थिरता के लिए भी गंभीर खतरा उत्पन्न करती है।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक युग में नई तकनीकों जैसे कृत्रिम बुद्धिमत्ता, साइबर युद्ध और उन्नत सैन्य प्रणालियों के विकास ने इस समस्या को और जटिल बना दिया है। ये तकनीकें जहाँ एक ओर सुरक्षा को मजबूत कर सकती हैं, वहीं दूसरी ओर गलत निर्णय, साइबर हमले और तकनीकी विफलताओं के कारण अनजाने में बड़े संघर्षों को जन्म दे सकती हैं। साथ ही, आतंकवाद और गैर-राज्यीय तत्वों के हाथों में परमाणु सामग्री पहुँचने का खतरा भी एक गंभीर चिंता का विषय है, क्योंकि यह एक ऐसा जोखिम है जिसे पारंपरिक सैन्य उपायों से पूरी तरह नियंत्रित करना कठिन है।

इन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाणु-मुक्त विश्व केवल एक आदर्शवादी विचार नहीं, बल्कि मानवता के अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। यदि परमाणु हथियारों का उपयोग कभी भी बड़े पैमाने पर होता है, तो उसके परिणाम केवल तत्काल विनाश तक सीमित नहीं रहेंगे, बल्कि पर्यावरण, स्वास्थ्य और आने वाली पीढ़ियों पर भी गहरा और दीर्घकालिक प्रभाव डालेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि सभी देश अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों से ऊपर उठकर एक व्यापक वैश्विक दृष्टिकोण अपनाएँ, जिसमें सहयोग, पारदर्शिता और विश्वास को प्राथमिकता दी जाए।

आगे की राह में यह जरूरी है कि अंतरराष्ट्रीय सहयोग को मजबूत किया जाए, निरस्त्रीकरण की दिशा में ठोस और व्यावहारिक कदम उठाए जाएँ, नई तकनीकों के उपयोग के लिए स्पष्ट और नैतिक नियम बनाए जाएँ, तथा वैश्विक संस्थाओं को अधिक प्रभावी बनाया जाए। साथ ही, देशों के बीच संवाद और विश्वास निर्माण के उपायों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए, ताकि गलतफहमियों और संघर्षों की संभावना को कम किया जा सके।

अंततः यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाणु हथियारों से मुक्त विश्व की स्थापना न केवल संभव है, बल्कि आवश्यक भी है, और यह तभी साकार हो सकती है जब सभी राष्ट्र मिलकर सामूहिक प्रयास करें। शांति, सुरक्षा और मानवता का भविष्य किसी एक देश के हाथ में नहीं, बल्कि पूरे विश्व की साझा जिम्मेदारी है, और इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए सभी को एकजुट होकर कार्य करना होगा, तभी एक ऐसा विश्व बनाया जा सकता है जो भय, विनाश और असुरक्षा से मुक्त होकर स्थायी शांति और समृद्धि की दिशा में आगे बढ़ सके।

10.7 शब्दावली

1.परमाणु अप्रसार (Nuclear Non-Proliferation) – परमाणु हथियारों तथा उनसे संबंधित तकनीक के नए देशों या संस्थाओं तक प्रसार को रोकने की नीति।

2. निरस्त्रीकरण (Disarmament) – हथियारों, विशेषकर सामूहिक विनाश के हथियारों, में कमी लाने या उन्हें समाप्त करने की प्रक्रिया।

3. परमाणु परीक्षण (Nuclear Test) – परमाणु हथियारों की क्षमता, प्रभावशीलता एवं विश्वसनीयता की जाँच हेतु किया जाने वाला नियंत्रित विस्फोट।

4. अंतरराष्ट्रीय निगरानी प्रणाली (International Monitoring System – IMS) – परमाणु परीक्षणों का पता लगाने और उनकी निगरानी करने के लिए स्थापित वैश्विक वैज्ञानिक एवं तकनीकी नेटवर्क।

5. अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (International Atomic Energy Agency – IAEA) – 1957 में स्थापित संयुक्त राष्ट्र से संबद्ध संस्था, जो परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग को बढ़ावा देती है तथा परमाणु सामग्री के सैन्य उपयोग को रोकने के लिए निरीक्षण और सुरक्षा उपाय (Safeguards) लागू करती है।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रीय परमाणु अप्रसार संधि (NPT) कब लागू हुई?

(अ) 1968 (ब) 1970

(स) 1972 (द) 1995

2. व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (CTBT) को कब अपनाया गया?

(अ) 1994 (ब) 1995

(स) 1996 (द) 1998

3. परमाणु अप्रसार संधि (NPT) के तीन प्रमुख स्तंभ कौन-से हैं?

(अ) परमाणु अप्रसार, निरस्त्रीकरण तथा परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण उपयोग

(ब) परमाणु परीक्षण, मिसाइल नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण

(स) परमाणु सुरक्षा, आतंकवाद-निरोध तथा निरस्त्रीकरण

(द) परमाणु सहयोग, सामूहिक सुरक्षा तथा प्रतिबंध

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ब) 1970

2. (स) 1996

3. (अ) परमाणु अप्रसार, निरस्त्रीकरण तथा परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण उपयोग

10.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.NPT का ऐतिहासिक विकास तथाइसकी उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

2. CTBT वैश्विक परमाणु निरस्त्रीकरण में किस प्रकार सहायक हो सकती है?

3. भारत का NPT और CTBT के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए?

4. NPT और CTBT के मध्य संबंध एवं अंतर को स्पष्ट कीजिए?

10.10 संदर्भग्रंथ

1.Müller, H., Fischer, D., & Kötter, W. (1994). *Nuclear Non-Proliferation and Global Order.* Oxford University Press. https://books.google.com/books?id=lAJdIao1iHUC

2. Bandyopadhyaya, J., & Mukherjee, A. (2000). International Regimes and World Peace: A Case Study of NPT and CTBT. *International Studies Journal*

3. Comprehensive Nuclear-Test-Ban Treaty Organization (CTBTO). *Official Reports and Monitoring System Publications.*
https://www.ctbto.org
4. Diehl, S. J., & Moltz, J. C. (2007). *Nuclear Weapons and Nonproliferation: A Reference Handbook.* ABC-CLIO.
https://books.google.com
5. Evans, C. (2022). *Assessing the Impact of the Treaty on the Prohibition of Nuclear Weapons.* University of Reading.
https://centaur.reading.ac.uk
6. Graham, A. T. (2021). The Nuclear Non-Proliferation Treaty: Delayed Review – Issues Old and New. *Journal for Peace and Nuclear Disarmament.*
7. Hamel-Green, M. (2018). The Nuclear Ban Treaty and Disarmament Forums. *Journal for Peace and Nuclear Disarmament.*
8. International Atomic Energy Agency (IAEA). *Safeguards and Nuclear Non-Proliferation Reports.*
https://www.iaea.org
9. Lodgaard, S. (2010). *Nuclear Disarmament and Non-Proliferation: Towards a Nuclear-Weapon-Free World.* Routledge.
https://www.taylorfrancis.com
10. Mulas, R. (2017). *Strategies of Disarmament: Civil Society and the Nuclear Non-Proliferation Treaty.* LUISS University.
11. Njølstad, O. (2010). *Nuclear Proliferation and International Order: Challenges to the Non-Proliferation Treaty.* Routledge.
12. Petersen, B. C. (2012). *The Nuclear Non-Proliferation Treaty: A Comparison of Realist, Liberal and Constructivist Views.*
13. Pietrobon, A. (2014). Nuclear Powers' Disarmament Obligation under the Treaty on the Non-Proliferation of Nuclear Weapons and the CTBT. *Leiden Journal of International Law.*
https://www.cambridge.org
14. Siracusa, J. M., & Warren, A. (2018). The Nuclear Non-Proliferation Regime: An Historical Perspective. *Diplomacy & Statecraft.*

15. Sokolski, H. D. (2010). *Reviewing the Nuclear Non-Proliferation Treaty (NPT).* Strategic Studies Institute.
https://books.google.com
16.Søndenaa, E. (2008). *The Nuclear Non-Proliferation Treaty and Regime Theories.* University of Tromsø.
17. United Nations. *Treaty on the Non-Proliferation of Nuclear Weapons (NPT).*
https://www.un.org

इकाई 11-साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद

इकाई का स्वरुप

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 साम्राज्यवाद का इतिहास, अर्थ एवं परिभाषा

11.3.1 साम्राज्यवाद की विशेषताएं

11.3.2 साम्राज्यवाद के सिद्धांत

11.3.3 प्राचीन साम्राज्यवाद एवं आधुनिक साम्राज्यवाद

11.4 समानार्थीकरण का संक्रमण काल

11.5 उपनिवेशवाद का का उदय, विकास

11.5.1 उपनिवेशवाद एवं अर्थ

11.5.2 उपनिवेशवाद की विशेषताएं

11.5.3 उपनिवेशवाद के प्रकार

11.6 उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद में अंतर एवं संबंध

11.7 उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के परिणाम

11.8 साराशं

11.9 अभ्यास प्रश्न

11.10 तकनीकी शब्दावली

11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.12 सहायक पाठ्य सामग्री

11.13 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

इतिहास एवं अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद सहज रूप से, बिना किसी अंतर के, एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग कर लिए जाते हैं। दोनों ही शब्दावली एक राज्य अथवा समाज द्वारा दूसरे कमजोर राज्य की सीमा पर प्रभुत्व स्थापित करते हैं। किंतु यदि गहन विश्लेषण किया जाए तो साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद दो भिन्न किंतु आपस में जुड़ी हुई परिघटनाओं को दर्शाते हैं। दोनों की कार्य-प्रणालियाँ, कारण एवं ऐतिहासिक रूपरेखा भिन्न है, दोनों ही राज्य में राजनीतिक एवं आर्थिक नियंत्रण करते हैं। साम्राज्यवाद को हम एक नीति या विचारधारा के रूप में समझ सकते हैं जिसके अंतर्गत वह विचार और महत्वाकांक्षाएं जन्म लेती हैं जो किसी राज्य को अपनी शक्ति एवं प्रभाव को विस्तार करने के लिए प्रेरित करती हैं। यह विस्तार सैन्य बल आर्थिक दबाव, कूटनीतिक अथवा संस्कृति के प्रभुत्व के माध्यम से हो सकता है। साम्राज्यवाद को हम विस्तार की महत्वाकांक्षा के रूप में देखते हैं चाहे वह राजनीतिक लाभ के लिए हो आर्थिक लाभ के लिए हो अथवा राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के लिए ही क्यों ना हो। साम्राज्यवाद मुख्यतः अपने साम्राज्य का विस्तार करना है जिसमें पड़ोसी राज्यों को नियंत्रित करके मुख्य राज्य से संचालित किया जाता है। उपनिवेशवाद इस अभ्यास अथवा क्रिया को कहते हैं जो साम्राज्यवाद की महत्वाकांक्षाओं के परिणाम के रूप में नजर आता है। इसका आशय किसी विदेशी भूमि अथवा राज्य (उपनिवेश) में भौतिक प्रसार से है जिसके माध्यम से वहां प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक वर्चस्व नियंत्रण प्रवासियों को बसाकर वहां के संसाधनों अथवा मजदूरों का शोषण करना है यह उस आर्थिक दृष्टिकोण का प्रतिफल है जिसके अंतर्गत मुख्य राज्य (मेट्रोपोलिस) किसी दूसरे स्थान में जाकर वहां अपनी बसाहट बनाकर पूरी व्यवस्था पर नियंत्रण कर उसे संचालित करता है। जहां साम्राज्यवाद बिना उपनिवेशवाद के अस्तित्व रखता है जिसमें बसाहट एवं आर्थिक नियंत्रण नहीं होता वहीं उपनिवेशवाद हमेशा साम्राज्य का प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होता है यदि संक्षेप में हम समझें तो साम्राज्यवाद एक विचार अथवा प्रेरणा है वहीं उपनिवेशवाद उस प्रेरणा का अभ्यास अथवा क्रिया है ।

11.2 उद्देश्य

- इस इकाई में हम समझ सकेंगे की साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद क्या है
- साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के मध्य संबंध को समझ सकेंगे
- साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक विकास, उनके प्रमुख सिद्धांतों को समझ सकेंगे।
- उपनिवेशवाद के प्रमुख प्रकार एवं उसके प्रभाव को जान सकेंगे।

11.3 साम्राज्यवाद का इतिहास,अर्थ एवं परिभाषा

चार्ल्स हाजस के अनुसार, ''साम्राज्यवाद दूसरे राष्ट्रों के लोगों के आतंरिक जीवन में विदेशी राजनीतिक, आर्थिक या सांस्कृतिक स्तर पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय हस्तक्षेप है अर्थात् एक देश के लोगों द्वारा दूसरे देश के लोगों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण करना है।'

माइकल डॉयल साम्राज्यवाद को "साम्राज्य स्थापित करने या बनाए रखने की प्रक्रिया या नीति" के तौर पर परिभाषित करते हैं,

वहीँ क्रिस्टोफर बेली इसे "प्रभुत्व के लिए क्रूर अभियान" कहकर इसके आक्रामक व विस्तारवादी स्वभाव पर ज़ोर देते हैं।

जॉन ए. हॉब्सन की परिभाषा के अनुसार, "साम्राज्यवाद किसी राज्य द्वारा विदेशी देशों पर अपना नियंत्रण या अधिकार बढ़ाने और उपनिवेशों तथा आश्रित क्षेत्रों को हासिल करने और उन पर कब्ज़ा बनाए रखने की नीति है।"

साम्राज्यवाद शब्द लैटिन शब्द इम्पेरारे (*imperare*) से बना है जिसका अर्थ है - आदेश देना या हावी होना। "साम्राज्यवाद विस्तारवादी नीति के अंतर्गत अपनी शक्ति बनाए रखने एवं उसका विस्तार करने की प्रक्रिया है जो प्रत्यक्ष रूप से सैन्य या आर्थिक मार्ग द्वारा या अप्रत्यक्ष रूप से सांस्कृतिक या कूटनीतिक मार्ग से अभ्यास में लायी जाती है।"

साम्राज्यवाद को समझने से पहले हम साम्राज्य शब्द को समझें जिसका लम्बा इतिहास रहा है। अध्ययनकर्ता सामान्यतः गैर पश्चिमी सभ्यताओं के राज्यों जैसे भारत,चीन, मंगोल,ओट्टोमान साम्राज्य आदि के अध्ययन में पाते हैं। साम्राज्य एक शक्तिशाली राजा द्वारा विजित छोटे छोटे राज्यों अथवा क्षेत्रों का संघ होता है जिनमें शासक तो होते हैं किन्तु वे अंततः सम्राट के अधीन होते हैं। भारत के ग्रंथों में सम्राट के स्थान पर समराज (यानि सर्वोच्च शासक) , राजाधिराज(राजाओं का राजा), अधिराज या अधिपति जैसे शब्दों का प्रयोग उल्लिखित है। साम्राज्यों के गठन एवं विस्तार के पीछे प्रमुख कारण हैं- शासक की अधिकतम भू भाग पर शासन करने की महत्वकांक्षा , अधीन किये गए क्षेत्र के संसाधनों एवं लोगों की सहायता से अपनी आर्थिक एवं सैन्य शक्ति में विस्तार करने की इच्छा , भावी पीढ़ियों के लिए अपने राज्य और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत करने की उत्कंठा आदि। भारतीय दृष्टि में वैदिक काल से ही यदि हम देखें तो राजा अपनी सर्वोच्चता एवं साम्राज्य विस्तार हेतु अश्वमेघ एवं राजसूय यज्ञों का आयोजन किया करते थे। वैवाहिक संबंधों के माध्यम से भी एक राज्य दूसरे राज्य से संधि करते थे , व्यापारिक मार्गों, बंदरगाहों, उपजाऊ भूमि पर नियंत्रण कर अपने राज्यों को भौगोलिक एवं आर्थिक रूप से सशक्त बनाना उनका एक मात्र लक्ष्य होता था।

इनका वर्णन भारत के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ महाभारत एवं रामायण में भी मिलता है। छठी से चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में मगध साम्राज्य जिसमें अजातशत्रु एक शक्तिशाली शासक के रूप में हुए, 321 ईसा पू में चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौर्य वंश की स्थापना की और विस्तार किया। पश्चिम में मैसिडोनिया का शासक सिकंदर जिसने 334 से 323 ईसा पूर्व के बीच अपने सैन्य अभियान चलाकर तीन महाद्वीपों में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। रोमन साम्राज्य का विभिन्न क्षेत्रों में विस्तार भी इसका एक उत्तम उदाहरण है। लैटिन अमेरिका में मुनरो सिद्धांत एवं अपनी आर्थिक नीतियों से संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ द्वारा पुर्वी यूरोप को पश्चिमी प्रभाव के खिलाफ एक बफर क्षेत्र बनाना आदि साम्राज्यवाद के प्रमुख उदाहरण हैं।

हालाँकि साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया इतिहास में पूर्व में ही चली आ रही थी। इसे प्राचीन साम्राज्यवाद (16वीं - 18वीं शताब्दी) तथा नवसाम्राज्यवाद (19वीं सदी के उत्तरार्ध से 20वीं सदी तक) में विभाजित किया जाता है। 'साम्राज्यवाद' शब्द साम्राज्य की तुलना में आधुनिक है, आधुनिक 'साम्राज्यवाद' (Imperialism) 1850 के दशक में ब्रिटेन में फ्रांस के लूइस बोनापार्ट के शासन की आलोचना के लिए गढ़ा गया। ब्रिटिश लेखकों और राजनेताओं द्वारा इस शब्द का उपयोग लुइस बोनापार्ट(नेपोलियन तृतीय) के तख्तापलट के बाद उसके तानाशाही शासन की आलोचना करने के लिए किया। उसके लिए इसका अर्थ आंतरिक तौर पर जनता को वादों से लुभाने और अपनी कमियों से जनता का ध्यान हटाने के लिए बाहर साम्राज्य का आक्रामक विस्तार करन था।

पूर्व में यदि हम देखें तो यह मुख्यतः राज्य द्वारा अपनी सीमा से लगे राज्यों पर नियंत्रण की प्रक्रिया थी जिसे हम इस रूप से भी समझ सकते हैं की यह अपने पडोसी राज्यों में सैन्य जीत एवं आक्रमण के आधार पर अपने प्रभुत्व के विस्तार की प्रक्रिया रही। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटेन में उदारवादी पार्टी के विलियम ग्लैडस्टोन ने कंजर्वेटिव पार्टी के बेंजामिन डिज़रायली (जो सैन्य ताकत से अंग्रेजी साम्राज्य के आक्रामक विस्तार के समर्थक थे) का विरोध साम्राज्यवादी शब्द के उपयोग से किया।

तत्पश्चात उदारवादी अर्थशास्त्री जे. ए. हॉब्सन ने अपनी पुस्तक 'इम्पीरियलिज़्म: ए स्टडी' (1902) में साम्राज्यवाद की आलोचना करते हुए उसे आर्थिक और वैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट किया। उन्होंने अल्प-उपभोग (अंडर-कंजम्पशन) का सिद्धांत दिया जिसके अनुसार ब्रिटेन में पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों के शोषण के फलस्वरूप उन मजदूरों की क्रयशक्ति कम हो जाती है, खरीदने की शक्ति न होने के कारण अधिक उत्पादित माल बिक नहीं पाता जिस कारण अतिरिक्त पूँजी (सरप्लस कैपिटल) जमा हो ज़ाती है जिसे निवेश करने और अधिक मुनाफा कमाने के लिए वे सरकार पर नए देशों को गुलाम बनाने के लिए दबाव डालते हैं। हॉब्सन के सिद्धांतों से प्रभावित होकर लेनिन ने 1916 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इम्पिरिअलिस्म द हाईएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म'। लेनिन ने साम्राज्यवाद

को हॉब्सन के अनुसार पूंजीपतियों के लालच हेतु सरकार की विस्तारवादी नीति ही नहीं बल्कि इसे पूँजीवाद का अनिवार्य एवं अंतिम चरण बताया। जब पूँजीवाद एकाधिकार के स्तर तक पहुँच जाता है तो वित्तीय पूँजी के विस्तार के लिए दुनियां का बंटवारा करना आवश्यक हो जाता है इसके परिणामस्वरूप ही प्रथम विश्वयुद्ध जैसे साम्राज्यवादी टकराव होते हैं।

11.3.1 साम्राज्यवाद की विशेषताएं

1. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नियंत्रण- साम्राज्यवादी प्रभुत्व आवश्यक नहीं कि प्रत्यक्ष बसाहट के माध्यम से हो यह अपने नियंत्रित परोक्ष सरकारों के माध्यम से, आर्थिक निर्भरता, अपने सैन्य अड्डों या सीधे विजय के माध्यम से हो सकता है।

2. विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएं- प्राथमिक रूप से इसका लक्ष्य अपने राज्य की सीमाओं और क्षेत्र का विस्तार करके अपना प्रभाव बढ़ाना है।

3. आर्थिक एवं सैन्य प्रभाव- औपनिवेशिक शक्तियां व्यापार समझौतों, सैन्य गठबंधन, अथवा सीधे दखल देकर कमजोर राज्य पर नियंत्रण करते हैं।

4. उदाहरण - संयुक्त राज्य अमेरिका का लैटिन अमेरिका में प्रभाव (मुनरो सिद्धांत), शीत युद्ध के दौरान पूर्वी यूरोप पर सोवियत संघ का प्रभुत्व ।

11.3.2 साम्राज्यवाद के सिद्धांत

मार्क्सवादी और पूँजीवादी विचारकों ने साम्राज्यवाद के कारण खोजने हेतु 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में विचारकों ने कुछ सिद्धांतों को प्रतिपादित किया जिन्हें मुख्यतः इन मानदंडों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है :-

1. आर्थिक सिद्धांत जिसके प्रमुखं विचारक हॉबसन, हिल्फर्डिंग, रोजा लक्जमबर्ग, लेनिन और राजनीतिक सिद्धांत जिसके प्रमुख विचारक जोसेफ शुम्पीटर, डी. के. फील्डहाउस, जॉन गालाघर और रोनाल्ड रॉबिनसन हैं।

   आर्थिक दृष्टिकोण - जे. ए. हॉबसन का मानना था की साम्राज्यवाद पूंजीवादी व्यवस्था का परिणाम है अपनी पुस्तक इम्पिरिअलिस्म : ए स्टडी (1902) में उनहोंने **अल्प-उपभोग** का सिद्धांत दिया जिसके अंतर्गत धनी अभिजात वर्ग द्वारा जमा की गयी **अधिशेष पूंजी** के निवेश एवं अतिरिक्त उत्पादित माल के लिये बाज़ार खोजने के लिए उपनिवेशों के विस्तार को बढ़ावा देते हैं। उनका मानना था की यदि मजदूरों की आमदनी बढ़ाकर उनकी क्रय क्षमता बढ़ा दी जाए तो घरेलू खपत भी बढ़ेगी और साम्राज्यवाद की

आवश्यकता नहीं रहेगी । जर्मन मार्क्सवादी रुडोल्फ हिल्फर्डिंग ने (1910) में 'दास फाइनेंस कैपिटल' लिखी जिसमें उन्होंने बताया कि कैसे मुक्त प्रतिस्पर्धी पूंजीवाद, एकाधिकार और बैंकों के उदय के साथ एक नए रूप में बदल गया। बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी के विलय से वित्तीय पूंजी का उदय हुआ। कच्चे माल, बाज़ार और निवेश के अवसरों के लिए वित्तीय और औद्योगिक गुटों ने राज्यों पर सामूहिक दबाव बनाकर नए देशों में विस्तार करने हेतु प्रतिबद्ध किया और यही साम्राज्यवाद का कारण बना। प्रमुख यूरोपीय देशों की आर्थिक प्रतिद्वंदिता राजनीतिक संघर्ष बन गई और अंततः उसका परिणाम विश्व-युद्ध हुआ ।

पोलिश मूल की जर्मन क्रांतिकारी नेत्री रोजा लक्जमबर्ग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द अक्युमुलेशन ऑफ़ कैपिटल (पूँजी संचय) में यह तर्क दिया की पूँजीवाद को अपने अतिरिक्त उत्पादन को बेचने और निरंतर लाभ लेते रहने के लिए गैर-पूंजीवादी क्षेत्रों की और बढ़ना होगा जो अंततः साम्राज्यवाद को बढ़ावा देता है। रूस की बोल्शेविक क्रांति के नेता व्लादीमिर लेनिन ने अपनी पुस्तक इम्पीरियलिज्म : द हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म (1916) में स्पष्ट किया की साम्राज्यवाद ही पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था है। उनका तर्क था की पूंजीपति अपने देशों में इसलिए पूँजी नहीं लगाते क्योंकि वहां लाभ पाने के लिए मजदूर समाज को सशक्त बनाना होगा, उस से बेहतर विकल्प के रूप में वे पिछड़े देशों में निवेश करते हैं।

राजनीतिक दृष्टिकोण- ऑस्ट्रियाई अर्थशास्त्री जोसेफ शुम्पीटर ने 1919 में 'द सोशियोलॉजी ऑफ़ इम्पिरिअलिस्म' लिखी उनका लक्ष्य मार्क्सवादी सिद्धांत का खंडन करना था। उनका कहना था की साम्राज्यवाद पूँजीवाद से सम्बंधित नहीं है बल्कि यह **अतावाद** (सामंती अवशेष) है जिस प्रकार राजा युद्ध और विस्तार को गौरव मानते थे। उनका तर्क था की जैसे-जैसे लोकतंत्र और पूँजीवाद मजबूत होगा पुरानी सोच और उसके साथ साम्राज्यवाद भी समाप्त हो जाएगा। डी. के. फील्डहाउस ने अपनी पुस्तक 'द कोलोनियल एम्पायर्स' में यह स्पष्ट किया की साम्राज्यवाद कोई सुव्यवस्थित योजना नहीं थी बल्कि अपने व्यापारिक अड्डों की सुरक्षा हेतु ही उन्होंने उन क्षेत्रों में कब्ज़ा किया। फील्डहाउस के अनुसार, 1882 के बाद साम्राज्यवाद आर्थिक ज़रूरतों के कारण नहीं बढ़ा बल्कि यूरोपीय शक्तियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण बढ़ा। जॉन गालाघर और रोनाल्ड रॉबिनसन ने अपने लेख 'द इम्पिरिअलिस्म ऑफ़ फ्री ट्रेड' में 'मुक्त व्यापार का साम्राज्यवाद' शब्द गढ़ा और अनौपचारिक साम्राज्य की अवधारणा दी । जहाँ संभव हो अनौपचारिक कब्ज़ा जैसे ब्रिटेन द्वारा लैटिन अमेरिका पर नियंत्रण और जहाँ आवश्यक हो वहां औपचारिक नियंत्रण जैसे भारत । उनका मानना था की साम्राज्य बहार से नहीं थोपे

जाते वरन साम्राज्य के संभ्रांत (इलीट) या शासक वर्ग के सहयोग से ही अस्तित्व में बने रहते हैं।

2. अधिकेंद्रिक (मेट्रोसेंट्रिक) ये 'धकेलने वाले कारकों' (पुश फैक्टर्स) के बारे में है यानी विस्तारवादी राज्य (केंद्र) के आतंरिक कारक जैसे अतिरिक्त पूँजी, सैन्य-औद्योगिक परिसर, बेरोज़गारी, उद्देश्यहीन विस्तार की प्रवृत्ति, राजनीतिक महत्वाकांक्षा आदि इन्हें विस्तार करने के लिए प्रेरित करते हैं, इसके मुख्य सिद्धांतकार शुम्पीटर, लेनिन, हॉबसन हैं। और परिकेंद्रिक (पैरीसेंट्रिक) ये 'खींचने वाले कारकों' (पुल फैक्टर्स) का विश्लेषण करता है, ये सिद्धांत उपनिवेशों (परिधि) पर ध्यान केन्द्रित करते हैं इसके सिद्धांतकारों का मानना है कि साम्राज्यवाद की वजह उपनिवेशों की स्थितियां हैं जैसे कमजोर स्थानीय शासक या अस्थिरता, संसाधन इसके मुख्य सिद्धांतकार गालाघर और रॉबिनसन, फील्डहाउस हैं।

11.3.3 प्राचीन साम्राज्यवाद एवं आधुनिक साम्राज्यवाद

साम्राज्यवादी शक्तियों के उद्देश्य, प्रणाली, आवश्यकताओं के अनुसार सामराज्यवाद को दो हिस्सों में बांटा जाता है प्राचीन साम्राज्यवाद एवं आधुनिक साम्राज्यवाद। प्राचीन साम्राज्यवाद का उदय खोज के युग यानी कोलंबस, वास्को डी गामा जैसे खोजी यात्रियों से लेकर 18वीं सदी के अंत तक माना जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य 3 जी यानी गोल्ड (कीमती धातुएं), ग्लोरी (राष्ट्रीय प्रतिष्ठा), गॉड(इसाई धर्म का प्रसार) करना था । विस्तारवादियों का लक्ष्य मुख्य रूप से एशिया से मसाले, अमेरिका से सोना, चांदी, और अफ्रीका से हाथी के दांत एवं श्रम का उपभोग करना था। स्पेन ने लैटिन अमेरिका में बड़े पैमाने पर धर्म परिवर्तन कराया। पुर्तगाल ने भारत के गोवा सहित कई क्षेत्रों में मिशनरियों को भेजा जिन्होंने क्षेत्रीय लोगों को हिंसा के सहारे परिवर्तित किया। वणिकवाद के अंतर्गत उपनिवेश साम्राज्यवादियों के लिए केवल उत्पादक थे । स्पेन,पुर्तगाल, फ्रांस,ब्रिटेन, नीदरलैंड प्रमुख शक्तियां थीं जो मस्कट, नौसैनिक जहाज, तोपों का सहारा लेकर नए भूभाग में तटीय किलों और चौकियों को बसाकर अमेरिका जैसे विशाल क्षेत्रों में नियंत्रण स्थापित करते । औद्योगिक पूँजीवाद का उदय, उपनिवेशों के रखरखाव की बढती लागत, राष्ट्रवादी आन्दोलन और नेपोलियन युद्ध के कारण प्राचीन साम्राज्यवाद का स्वरुप बदल गया और नया साम्राज्यवाद प्रारम्भ हुआ।

आधुनिक साम्राज्यवाद का कालखंड 1880 के दशक में अफ्रीका के लिए होड़ (स्क्रेम्बल ऑफ़ अफ्रीका) से प्रथम विश्व युद्ध (1914) तक माना जाता है । औद्योगिक पूँजीवाद के चलते कच्चा माल (कपास, रबर, तेल), सस्ता श्रम, नए बाजार, पूँजी निवेश के स्थान, और सैन्य अड्डे की आवश्यकताओं को पूरा करने के चलते इसका विस्तार हुआ। उपनिवेश उत्पादक के साथ-साथ उपभोक्ता भी बन गए उदाहरण के तौर अफ्रीका का तेल यूरोप में रिफाइन होता था और वापस अफ्रीकी बाजार में बेचा जाता था। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, अमेरिका, रूस, बेल्जियम प्रमुख

शक्तियों ने रेलवे, तार, और मशीन गन का उपयोग कर पूरे अफ्रीका और एशिया पर अपना कब्ज़ा स्थापित किया। यूरोपीय शक्तियों ने अपने इस साम्राज्यवादी विस्तार को उचित ठहराने के लिए निम्न विचारधाराओं का उपयोग किया- पहला, **सभ्यता मिशन** यूरोपीय शक्तियाँ दावा करती थीं कि वे एशिया और अफ्रीका के लोगों को सभ्य, शिक्षित और आधुनिक बनाने आई हैं। दूसरा, **सामाजिक डार्विनवाद** के अनुसार समाज में "योग्यतम की उत्तरजीविता" के आधार पर वे मानते थे कि कमजोर समाजों पर शासन करना उनका प्राकृतिक अधिकार है। और तीसरा, **श्वेत व्यक्ति का बोझ** के विचार अनुसार उन्होंने यह तर्क दिया की श्वेत यूरोपीय लोगों का नैतिक दायित्व है कि वे एशिया और अफ्रीका के लोगों को "सभ्य" बनाएं। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध ने यूरोपीय साम्राज्यों को आर्थिक, सैन्य और राजनीतिक रूप से कमजोर कर दिया। एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद की चेतना का विकास हुआ जिससे तेज हुए आन्दोलनों ने औपनिवेशिक शासन को चुनौती दी और विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई।

11.4 समानार्थीकरण का संक्रमण काल

पारंपरिक आधार पर साम्राज्यवाद विजित शक्ति के बाहरी राज्य पर नियंत्रण को सही ठहरा रहा था जो उनसे कमतर या कमजोर थे और उपनिवेशवाद मुख्यतः किसी क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से बसकर वहां नियंत्रण करना था। किन्तु उन्नीसवीं सदी में एक महत्वपूर्ण वैचारिक संक्रमण हुआ जब साम्राज्यवाद भी शासन के औचित्य को विजय से हटाकर सभ्यता मिशन, विकास, और लोकतंत्रीकरण की अपीलों के तर्क के आधार पर अपना विस्तार करने लगा। साम्राज्यवादियों ने अपने विस्तार को नैतिक आवरण प्रदान करने के लिए कुछ विचारकों के तर्क स्वीकार किये जैसे जॉन स्टुअर्ट मिल जो उन्हें पारंपरिक जीवन शैली (जिसे वो अप्राप्तवयस्कता/नॉन एज कहते थे) त्यागने को कहते। यह तर्क जॉन लॉक के उस आह्वान के समानांतर चला जिसमें वो स्वदेशी लोगों से अपनी धारणाओं, रीति-रिवाजों और ढंगों को त्यागकर सुधरे हुए (अंग्रेजी), वहां बसने वालों जैसा बनने का आग्रह करते थे। बीसवीं सदी के प्रारंभ तक दोनों अवधारणाओं साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद को अलग माना जाता था। साम्राज्यवाद से पूंजीवाद के अंतिम चरण के रूप में लड़ रहे यूरोपीय कम्युनिस्ट और समाजवादी और यूरोपीय शक्तियों के औपनिवेशिक उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ रहे दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के मुक्ति आंदोलनों के नेताओं ने 1927 में ब्रुसेल्स में 'औपनिवेशिक उत्पीड़न और साम्राज्यवाद के विरुद्ध कांग्रेस' शीर्षक पर कांग्रेस आयोजित की। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दोनों अवधारणाएँ समानार्थी हो गई। संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने अनुच्छेद 73 और 74 के अंतर्गत 'गैर-स्वशासी क्षेत्रों' की अवधारणा दी जिसे परिभाषित करने के लिए 'खारे पानी की थीसिस' प्रस्तुत की। जिसके अंतर्गत केवल वे क्षेत्र ही उपनिवेश माने जायेंगे जो शासकों के देश से समुद्र द्वारा विभाजित होंगे। कनाडा, ऑस्ट्रेलिया में जो स्वदेशियों पर शासन किया गया (बसावटी उपनिवेशवाद) और यूरोपीय देशों के भीतर अल्पसंख्यकों पर शासन (आंतरिक उपनिवेशवाद) को

बाहार रख दिया गया। अप्रैल 1955 में बांडुंग सम्मेलन में एशियाई और अफ्रीकी राज्यों ने उपनिवेशवाद की अभिव्यक्तियों की आलोचना तो की किन्तु उनकी परिभाषा भी खारे पानी की थीसिस पर ही आधारित रही। 1960 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 'औपनिवेशिक देशों और लोगों को स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा' संकल्प पारित किया। इस संकल्प ने उपनिवेशवाद को विदेशी प्रभुत्व के रूप में स्वीकार किया जो साम्राज्यवाद के लैटिन मूल **इम्पीयर** (प्रभुत्व) के समान था। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय कानून में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद समानार्थी हो गए।

11.5 उपनिवेशवाद का इतिहास,अर्थ एवं परिभाषा

11.5.1 उपनिवेशवाद का उदय,विकास

उपनिवेशवाद का उदय 15वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य हुआ जिसके मुख्य चार प्रमुख कारक हैं पहला - **खोज का युग** भी माना जाता है। स्पेन और पुर्तगाल के कोलंबस और वास्को डा गामा जैसे खोजकर्ता अपनी खोज के माध्यम से अमेरिका, अफ्रीका एशिया की खोज की और उन पर अपना दावा किया। शुरुआत में उनका लक्ष्य केवल व्यापार था जिसमें सोना, चांदी, मसाले इत्यादि थे किंतु कालांतर में उन्होंने वहां अपने स्थाई ठिकाने बनाए और वहां बस गए। दूसरा- **वाणिज्यवाद**, उपनिवेश वाणिज्यवाद का एक महत्वपूर्ण अंग बन कर रहे जहां से कच्चा माल जैसे कपास, चीनी, तंबाकू आदि का आयात करते एवं तैयार माल को वहां बाजार के रूप में निर्यात करते थे। तीसरा- औद्योगिक क्रांति, ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में थी जिसके बाद उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद दोनों का ही तेजी से विकास एवं विस्तार हुआ क्योंकि प्रमुख औद्योगिक देश को अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल चाहिए था और लाभ कमाने हेतु अपने अधिक उत्पादित तैयार माल के लिए एक बेहतर **बंधुआ बाजार**,भारत का कपड़ा उद्योग इसका एक प्रमुख उदाहरण है। चौथा- अधिशेष पूँजी, उद्योगों के द्वारा कमाए गए अधिशेष पूँजी को पुनः निवेश हेतु उपनिवेशों को चुना जहां मजदूर सस्ते थे, जमीन मुफ्त थी तथा कच्चा माल आसानी से उपलब्ध था इसलिए उन्होंने अपने उपनिवेश में बंदरगाह, रेलवे लाइन, चाय और कॉफी के बागान, खदानों आदि में अपना पैसा निवेश किया। पूर्व में जहाँ साम्राज्यवाद केवल अपने पडोसी राज्यों पर नियंत्रण करना था औद्योगीकरण एवं जहाजरानी के आविष्कार एवं विकास ने, दूरबीन, वायुदाब मापक तंत्र, नक्शों के आविष्कार एवं खोज की जिजीविषा आदि ऐसे मुख्य प्रेरक तत्त्व थे जिसके पश्चात यूरोपीय देशों ने समुद्र पार भी अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारंभ किया, इसके पश्चात ही साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद एक दूसरे के स्थान पर उपयोग किये जाने लगे। उपनिवेशवाद स्वयं को तीन सिद्धांतों- पृथक्करण, कृषि और श्रम, सुधार की अवधारणा के तर्क देकर विदेशी भूमि या

राज्य के भीतर ही रिक्त भूमि पर जाकर बसना और नियंत्रण करने को सही ठहराता है और साम्राज्यवाद को स्वयं से अलग करता है।

11.5.2 उपनिवेशवाद एवं अर्थ

अंग्रेजी शब्द उपनिवेशवाद शब्द की उत्पत्ति लैटिन संज्ञा 'कोलोन्या' (colonia) से हुई है, जिसका अर्थ "कृषि बस्ती या फार्म" होता है। यह शब्द कलोनस (colonus) (कृषि मजदूर) और कोलेरे (colere) (खेती करना/बसाना) से जुड़ा है। कॉलिन्स इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार उपनिवेशवाद "वह प्रथा जिसके द्वारा एक शक्तिशाली देश कम शक्तिशाली देशों को सीधे नियंत्रित करता है और अपनी शक्ति और धन बढ़ाने के लिए उनके संसाधनों का उपयोग करता है"। पूर्व में, जब किसी **मेट्रोपोल** में आबादी बहुत बढ़ जाती थी, तो "अतिरिक्त लोगों" को बहारी बंजर एवं खाली क्षेत्र पर खेती करने और जीवनयापन के लिए भेज दिया जाता था। इन बस्तियों को 'colonia' कहा जाता था, जो मुख्य शहर से दूर रहकर भी स्वायत्त होती थीं। उपनिवेशवाद स्वयं को दोषमुक्त दिखाने एवं विदेश अथवा अपने ही राज्य में पड़ी खाली भूमि में अपने उपनिवेश को सही ठहराने के लिए यह तर्क देते हैं कि वे असभ्य, पिछड़े, रीतिरिवाजों में फसे तर्कहीन लोगों और रिक्त पड़ी भूमि को सुधारने का कार्य कर रहे हैं जिसके लिए उन्होंने तीन मार्ग अपनाए-:

1. पृथक्करण (Segregation):- बाहर से आए शासकों अथवा बसाए गए लोगों और वहां के मूल निवासियों के बीच एक सामाजिक और भौगोलिक दूरी बनाए रखना।
2. कृषि और श्रम (Agrarian Labor):- जमीन को उपजाऊ बनाना और उत्पादन के लिए मानव श्रम का उपयोग करना।
3. सुधार की अवधारणा (Improvement):- यह उपनिवेशवाद का सबसे महत्वपूर्ण वैचारिक हथियार है। इसके तहत दो चीजों को सुधारने का दावा किया जाता था पहला- लोग, वहां के स्थानीय लोगों को आलसी, अतार्किक और पुरानी रूढ़ियों में जकड़ा हुआ मानकर उन्हें शिक्षा या श्रम के जरिए सुधारने का स्वांग करना। दूसरा- जमीन, जिस प्राकृतिक जमीन पर खेती नहीं हो रही होती थी, उसे उपनिवेशवादी बंजर या खाली घोषित कर देते थे। उनका मानना था कि श्रम के जरिए इस बंजर जमीन को उपयोगी बनाना उनका अधिकार और कर्तव्य है।

   आवासीय एवं उद्देश्य-निर्मित संस्थानों के माध्यम से इन तीनों का प्रसार किया जाता। आवासीय विद्यालयों के माध्यम से आदिवासी बच्चों को उनकी भाषाओं, मान्यताओं और सांस्कृतिक पहचानों को नष्ट करके उनके स्थान पर यूरोपीय सभ्यता स्थापित करने के लिए प्रेरित किया गया। मानसिक रूप से बीमार, विकलांग और गरीब लोगों को ऐसे

संस्थानों में रखा गया, जहाँ उन्हें श्रम और अनुशासन में प्रशिक्षित करने के नाम पर शारीरिक, मानसिक और यौन दुर्व्यवहार के मामले आम हुए। लक्ष्य व्यवहार में सुधार नहीं बल्कि जबरन आत्मसात्करण, संस्थागत दुर्व्यवहार, भूमि का विस्थापन और आदिवासी बच्चों के मामले में सांस्कृतिक नरसंहार था।

11.5.3 उपनिवेशवाद की विशेषताएं

1. स्थाई बसाहट - उपनिवेशवादी अपने उपनिवेश में पलायन करते हैं तथा वहां बसते हैं किंतु वह अपने मूल राज्य से हमेशा निष्ठावान रहते हैं।
2. प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन- औपनिवेशिक शक्ति अक्सर स्थानीय प्रणालियों को विस्थापित कर अपने प्रशासनिक, कानूनी एवं शासन की संरचनाएं उन पर थोपती हैं एवं उन्हें अपने अधीन कर लेती हैं।
3. आर्थिक शोषण- उपनिवेशकों द्वारा अपने उद्योगों को चलाने, कच्चे माल एवं सस्ते श्रम के लिए अपने उपनिवेशों से प्राकृतिक संसाधन, वहां का बाजार और वहां के मजदूरों का शोषण किया जाता है ।
4. सांस्कृतिक प्रभुत्व- औपनिवेशी शक्तियां निरंतर अपनी भाषा, धर्म, शिक्षा एवं सामाजिक नियमों को लागू कर स्थानीय संस्कृति को दबाती हैं अथवा खत्म कर देती हैं।

11.5.4 उपनिवेशवाद के प्रकार

विभिन्न विचारकों ने उपनिवेशकों के उद्देश्य, स्थानीय जनसँख्या के साथ संबंध, बसाहट के प्रकार, आर्थिक गतिविधियों के आधार पर वर्गीकृत किया है। उनमें से कुछ मुख्य प्रकार हैं :-

- **बस्तीवादी उपनिवेशवाद (settler colonialism)-** जब उपनिवेशक किसी विदेशी क्षेत्र में हमला करके वहां बस जाते हैं और स्थानीय लोगों को पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित करने का प्रयास करते हैं। पैट्रिक वोल्फ (Patrick Wolfe) ने इसे 'उन्मूलन का तर्क' (लॉजिक ऑफ एलिमिनेशन) कहा है। उनका कहना है कि उपनिवेशवाद केवल एक घटना नहीं है, बल्कि उन्मूलन हेतु एक स्थायी संरचना है यह उन्मूलन केवल हत्या से नहीं बल्कि बच्चों के अपहरण, ईसाई धर्म में धर्मांतरण से भी हुआ । उदाहरण अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड में ब्रिटिश बसावट दक्षिण अफ्रीका में बोअर्स ।

- **शोषणकारी/निष्कर्षण उपनिवेशवाद (Exploitation/Extractive Colonialism)-** यह आर्थिक शोषण पर केन्द्रित नीति है जो नए स्थान पर बसकर वहां के मुफ्त श्रम, संसाधनों और कच्चे माल का दोहन करती है, यहाँ बड़े पैमाने पर बसावट नहीं होती, केवल शासन-तंत्र स्थापित किया जाता है।
- **बागान उपनिवेशवाद (Plantation Colonialism) -** इसके अंतर्गत उपनिवेशक अपनी अपर्याप्त श्रम की मांग को पूर्ण करने और मुख्यतः एकल फसलों के अधिकतम उत्पादन हेतु बगान स्थापित करते हैं और दासों, बंधुआ मजदूरों को आयत करते हैं। उदाहरण: अमेरिका, कैरिबियन और दक्षिण अमेरिका में 1526–1867 के मध्य ट्रान्साटलांटिक दास व्यापार में 1.2 करोड़ से अधिक अफ्रीकियों को पकड़कर भेजा गया।
- **व्यापार उपनिवेशवाद (Trade Colonialism)-** यह व्यापारिक पूँजीवाद का एक रूप है। उपनिवेशक उपनिवेश से कच्चा माल प्राप्त करता है और वह स्वयं निर्मित वस्तुओं का निर्यात करता है। व्यापारिक सुगमता के लिए ब्रिटेन ने चीन को कैंटन के अतिरिक्त अतिरिक्त बंदरगाहों को विदेशी व्यापार के लिए खोलने पर मजबूर करने के लिए 1842 में ब्रिटिश ओपियम युद्ध हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी इसका प्रमुख उदाहरण है।
- **परिवहन उपनिवेशवाद (Transport Colonialism)-** यह रणनीतिक एवं भू-राजनीतिक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत विस्तारवादी शक्ति द्वारा अपने जहाजों, सैनिकों, व्यापारिक बेड़ों तथा सामरिक गतिविधियों के सुरक्षित एवं तेज आवागमन हेतु वैश्विक परिवहन मार्गों, बंदरगाहों, समुद्री अड्डों, हवाई अड्डों, नहरों तथा संचार केंद्रों पर नियंत्रण स्थापित करते हैं। चीन की बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव, भारत का ईरान के चाबहार बंदरगाह में निवेश इसके प्रमुख उदाहरण हैं।
- **आंतरिक उपनिवेशवाद (Internal Colonialism) -** यह राज्य के भीतर ही बहुसंख्यक या शक्तिशाली वर्ग द्वारा अल्पसंख्यकों पर उसी तरह नियंत्रण और शोषण करते हैं जैसे बहारी उपनिवेश करते हैं। अमेरिका के भीतर अफ्रीकी-अमेरिकी समुदायों का उत्पीड़न, माइकल हेक्टर द्वारा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक

'इंटरनल कोलोनिअलिस्म' में कहना था की ब्रिटेन के भीतर सेल्टिक क्षेत्रों में आंतरिक उपनिवेशीकरण के लक्षण दिखते हैं।

- **छद्म/सरोगेट उपनिवेशवाद (Surrogate Colonialism) -** जब उपनिवेशक सीधे नियंत्रण के स्थान पर स्थानीय शासकों, कठपुतली सरकारों, बसने वाले समुदायों, निजी कंपनियों के माध्यम से अपना राजनीतिक, आर्थिक या सैन्य नियंत्रण बनाए रखते है। ब्रिटिश भारत में रियासतों के माध्यम से अप्रत्यक्ष शासन, जापान द्वारा नियंत्रित कठपुतली राज्य मांचुकुओ।
- **नॉट-इन-माय-बैकयार्ड उपनिवेशवाद (NIMBY Colonialism) -** इसका अर्थ है मेरे घर के पास नहीं अर्थात जब कोई शक्तिशाली देश अपने भीतर के अवांछित और खतरनाक गतिविधियों जैसे विषैले कचरे का निपटान, कैदी, परमाणु परीक्षण आदि के लिए अपने राज्य से दूर कहीं उपनिवेश स्थापित करता है। ब्रिटेन द्वारा ऑस्ट्रेलिया को **टेरा नलियस**(रिक्त भूमि) घोषित किया गया और अपने कैदियों को दूर रखने हेतु वहां 'बॉटनी बे' नामक जेल स्थापित किया गया, अमेरिका द्वारा मार्शल द्वीपों में परमाणु परीक्षण।

11.6 उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद में अंतर एवं संबंध

प्रोफेसर रॉबर्ट यंग के अनुसार, साम्राज्यवाद एक 'केन्द्रीय नियंत्रित नौकरशाही' की संरचना है, जबकि उपनिवेशवाद प्रायः व्यापारिक कंपनियों या अलग-अलग समुदायों द्वारा स्थापित बस्तियों के रूप में विकसित हुआ। वस्तुतः कहा जा सकता है की साम्राज्यवाद राज्य के प्रयासों का प्रतिफल होता है जबकि उपनिवेशवाद व्यक्तिगत एवं संस्थागत दोनों के प्रयासों से संभव है।भारत इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी केवल व्यापारिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत आई थी। किंतु स्थानीय शासकों के साथ संघर्ष और राजनीतिक हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप कंपनी ने सैन्य शक्ति का प्रयोग किया और धीरे-धीरे प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित कर लिया। अंततः 1858 में ब्रिटिश क्राउन ने भारत का प्रत्यक्ष शासन अपने हाथों में ले लिया। यह प्रक्रिया दर्शाती है कि किस प्रकार साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएं उपनिवेशवादी शासन में परिवर्तित हो जाती हैं।

यद्यपि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद में अंतर है, फिर भी दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। साम्राज्यवाद वह वैचारिक और राजनीतिक आधार प्रदान करता है जिसके माध्यम से किसी विदेशी क्षेत्र पर प्रभुत्व स्थापित करने को उचित ठहराया जाता है। उपनिवेशवाद उसी प्रभुत्व को व्यवहार में लागू करने का माध्यम बनता है।

उपनिवेशवादी शक्तियां अक्सर यह दावा करती थीं कि उनका उद्देश्य "पिछड़े" समाजों को सभ्य बनाना, बंजर भूमि को उत्पादक बनाना तथा आर्थिक विकास को बढ़ावा देना है। उनके द्वारा इस विचार को 'सभ्यता मिशन' कहा गया। किंतु व्यवहार में इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सैन्य शक्ति, राजनीतिक दबाव और प्रशासनिक नियंत्रण का उपयोग किया जाता था। विद्वान अनिया लूम्बा इसे स्थानिक अंतर के रूप में देखने का सुझाव देती हैं: साम्राज्यवाद वह प्रक्रिया है जो केन्द्र (मेट्रोपोल) से उत्पन्न होकर नियंत्रण की ओर ले जाती है, जबकि उपनिवेशवाद उसके परिणामस्वरूप परिधि पर स्थापित होने वाली व्यवस्था है। फिर भी, चाहे इसे विचारधारा कहें या व्यवहार, इन दोनों का अंतिम परिणाम एक ही होता था - स्थानीय आबादी का शोषण, सांस्कृतिक विनाश और प्राकृतिक संसाधनों की अंधाधुंध लूट। अतः जमीनी स्तर पर उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर पूरक प्रक्रियाएं थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जबयूरोपीय शक्तियों के बीच अफ्रीका के विभाजन की प्रतिस्पर्धा (अफ्रीका के लिए हाथापाई, Scramble for Africa) इसका प्रमुख उदाहरण है। आर्थिक संसाधनों, सामरिक महत्व और अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं ने यूरोपीय देशों को अफ्रीका में प्रवेश करने के लिए प्रेरित किया। इसका चरमोत्कर्ष बर्लिन सम्मेलन (1884-85) में हुआ, जहाँ यूरोपीय शक्तियों ने साम्राज्यवादी सोच के तहत अफ्रीकी महाद्वीप को आपस में बाँट लिया। इसके बाद विभिन्न क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण स्थापित कर उन्हें उपनिवेशों में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार साम्राज्यवाद ने उपनिवेशवाद को जन्म दिया और उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का संस्थागत रूप बन गया। नीचे दी गई तालिका से दोनों के बीच के अंतर को हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं -:

उपनिवेशवाद बनाम साम्राज्यवाद (Colonialism vs Imperialism)

पहलू (Aspect)	साम्राज्यवाद (Imperialism)	उपनिवेशवाद (Colonialism)
शब्द की व्युत्पत्ति	लैटिन शब्द - इम्पेरारे (imperare) - आदेश देना या हावी होना	लैटिन शब्द - कोलोनिया (colonia) अर्थ - फार्म या कृषि बस्ती
ऐतिहासिक उत्पत्ति	इसका मूल बहुत प्राचीन है जैसे रोमन, ग्रीक, एवं फारसी साम्राज्य। इसका आधुनिक रूप 19वीं शताब्दी में देखा गया।	यह खोज के युग (लगभग 15वीं शताब्दी) से प्रारम्भ हुआ।
	अपनी शक्ति एवं प्रभाव का विस्तार कर रणनीतिक लाभ	उपनिवेश के श्रम एवं संसाधनों का उपभोग एवं आर्थिक शोषण

उद्देश्य	पाना एवं वैश्विक स्तर पर स्वयं को शक्तिशाली प्रदर्शित करना।	कर उसे राजनीतिक रूप से गुलाम बनाना।
बसाहट	विजित राज्य में बसना जरूरी नहीं , मूल राज्य से ही नियंत्रित किया जाता है।	उपनिवेश बनाने वाले लोग नियंत्रित राज्य में जाकर स्थायी रूप से बस जाते हैं।
नियंत्रण का स्वरुप	मुख्यतः अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक,आर्थिक एवं सैन्य नियंत्रण होता है।	शासन एवं प्रशासन पर अपने लोगों को बिठाकर सीधा नियंत्रण रखा जाता है।
नियंत्रित समाज (मूल निवासियों) पर प्रभाव	स्थानीय लोगों को अपने जीने के तौर तरीकों को जारी रखने की अनुमति तो देता है किन्तु वे विजेता राज्य के अधीन ही रहते हैं।	यह अक्सर स्थानीय संस्कृति, सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे को पूर्ण रूप से नष्ट या बदल देता है।
उदाहरण	लैटिन अमेरिका में अमेरिकी प्रभाव, पूर्वी यूरोप में सोवियत संघ का दबदबा, वियतनाम पर चीनी प्रभुत्व	ब्रिटिश भारत (British India), फ्रांसीसी अल्जीरिया, डच ईस्ट इंडीज।

साम्राज्यवाद का अध्ययन करते समय हम केंद्रीय राज्य जो विजेता है उस पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करते हैं जैसे आर्थिक, राजनैतिक एवं सामरिक लाभ-हानि वहीँ उपनिवेशवाद के अध्ययन का केंद्र जीते गए उपनिवेश होते हैं जहाँ वहां बसे लोगों द्वारा संसाधनों और क्षेत्रीय लोगों के श्रम का शोषण किया जाता है।

11.7 उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के परिणाम

आर्थिक प्रभाव

आर्थिक स्थिति पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा धन, श्रम, और संसाधनों का दोहन कर अधिशेष मूल्य नियंत्रणकारी राज्य को हस्तांतरित किया गया। दादाभाई नौरोजी जैसे राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने **संपदा के अपवहन** (ड्रेन ऑफ़ वेल्थ,1901) की इस प्रक्रिया को विस्तार से रेखांकित किया। सस्ते आयत एवं अपने बाजार के विस्तार हेतु स्थानीय लघु उद्योग नष्ट कर दिए गए जिसने स्थानीय बुनकरों और कारीगरों को विस्थापित कर उन्हें कृषि की ओर धकेल दिया।

भौगोलिक एवं स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार स्वदेशी मुख्य भोजन को छोड़कर निर्यात हेतु नकदी फसलें उगाई गयी जिस से अकाल पड़े। व्यापारिक सुगमता के लिए रेलवे, बंदरगाह और सड़कें आदि बुनियादी ढाँचा तैयार किया गया।

राजनीतिक एवं सामाजिक प्रभाव

अधिकतम राजस्व निकालने के लिए आधुनिक नौकरशाही का जन्म हुआ कहा भी जाता है की ब्रिटिश शासन ने ऐसे नौकरशाह तैयार किये जो त्वचा के रंग में भारतीय थे, किंतु शिष्टाचार में अंग्रेज। औपनिवेशिक शासन ने कृत्रिम सीमाएँ खींचीं जिन्होंने जातीय समूहों को विभाजित कर दिया और विरोधियों को साथ मिला दिया जिससे दीर्घकालिक संघर्ष पैदा हुए। स्वदेशी कानून को विस्थापित कर पश्चिमी कानून प्रणाली स्थापित की गयी जिससे संपत्ति कानून, नस्लीय संबंधों और संस्थागत हितों में बड़े बदलाव किये गए। एक स्थानीय वर्ग भी उभरा जो अंग्रेजी शिक्षा पाकर जनता के हितों की कीमत पर औपनिवेशिक हितों की सेवा करता था।

सांस्कृतिक प्रभाव

देशी भाषाएँ, ज्ञान, परम्पराएं नष्ट कर दिए गए, पश्चिमी मूल्यों को श्रेष्ठ बताकर क्षेत्रीय लोगों में हीन भावना बढ़ा दी गयी। एंथोनी गिड्डेन्स ने भी स्पष्ट किया कि उपनिवेशवाद ने यूरोपीय मूल्यों और ज्ञान को सार्वभौमिक और श्रेष्ठ बताकर **सांस्कृतिक हेग्मनी** स्थापित की जिस से उपनिवेशित समाजों में अपने ज्ञान एवं परम्पराओं के लिए हीन भावना उत्पन्न हुई।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव

उपनिवेशवाद का गहरा एवं दीर्घकालिक प्रभाव मनोवैज्ञानिक रहा जिसे फ्रांत्ज़ फैनन ने अपनी पुस्तक ब्लैक स्किन वाइट मास्क्स (1952)में विस्तार से स्पष्ट किया। उन्होंने कहा की उपनिवेशक उपनिवेशितों को हीन समझते हैं और ये धारणा उपनिवेशित लोग स्वीकार कर गहरे मन में बैठा लेते हैं और श्वेत त्वचा को श्रेष्ठता का प्रतीक मानने लगते हैं। यह भावना इतनी प्रगाढ़ हो जाती है की स्वतंत्रता के पश्चात भी उपनिवेश के लोगों में नकारात्मक आत्म-बोध बना रहता है।

हांलाकि कुछ विद्वान इसके सकारात्मक पहलू के रूप में यह तर्क देते हैं कि इनके कारण ही आधुनिक चिकित्सा, पश्चिमी शिक्षा, रेलवे, बंदरगाहों और टेलीग्राफ लाइनों का निर्माण उपनिवेशों में संभव हो पाया। किन्तु ये लाभ उपनिवेशों के लिए नहीं, बल्कि उपनिवेशकों के लिए थे।

11.8 सारांश

इस अध्याय में हमने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद एक-दूसरे से ऐतिहासिक रूप से जुड़े हुए हैं, फिर भी ये दोनों भिन्न विचारधाराएँ हैं जिनके मूल, औचित्य, शक्ति के तंत्र और व्यावहारिक परिणाम अलग-अलग हैं। उपनिवेशवाद कोलोनिया में निहित, कृषि श्रम, सुधार और अलगाव द्वारा संचालित उनके द्वारा घोषित पिछड़े लोगों और भूमि को भीतर से, निकट निगरानी के माध्यम से बदलना चाहता है। वहीँ साम्राज्यवाद इम्पेरारे में निहित है जो स्वभावतः हीन प्रजाओं पर दूर से,

विजय या आर्थिक दबाव के माध्यम से प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। इन दोनों का लक्ष्य अपनी वैचारिक,आर्थिक और सामरिक शक्ति का विकास एवं क्षेत्रीय जनसँख्या की संप्रभुता छीनना, आर्थिक अविकास, सांस्कृतिक नरसंहार और दीर्घकालिक राजनीतिक अस्थिरता ही रहा। हांलाकि समय के साथ इनकी कार्यशैली में परिवर्तन हुआ किन्तु दोनों के परिणाम उपनिवेशों में संपदा का अपवहन, विऔद्योगीकरण, नकदी फसल निर्भरताको बढाया और आधुनिक नौकरशाही, कृत्रिम सीमाएँ, सामाजिक विभाजन, भाषा एवं ज्ञान का विनाश, सांस्कृतिक हेग्मनी, हीनता की भावना, आंतरिक आत्म-अवमूल्यन के रूप में हुए। **विऔपनिवेशीकरण** की प्रकिया प्रारम्भ तो हुई किन्तु औपनिवेशिक संरचनाएँ नए समकालीन रूपों में पुनर्जीवित हुईं जिसे हम नवउपनिवेशवाद, उत्तर-उपनिवेशवाद के नाम से जानते हैं जिसका अध्ययन हम आगामी इकाइयों में करेंगे।

11.9 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद का उच्चतम चरण है' - यह कथन किस विचारक का है?

(A) व्लादीमिर लेनिन (B) रोजा लक्जमबर्ग

(C) जे. ए. हॉबसन (D) जोसेफ शुम्पीटर

प्रश्न 2. 'अल्प-उपभोग' का सिद्धांत किस विचारक ने दिया?

(A) व्लादीमिर लेनिन (B) जोसेफ शुम्पीटर

(C) जे. ए. हॉबसन (D) रोजा लक्जमबर्ग

प्रश्न 3. 'श्वेत मानव का बोझ' किस विचारधारा को व्यक्त करता है?

(A) आर्थिक उदारवाद (B) सभ्यता मिशन

(C) सामाजिक डार्विनवाद (D) वाणिज्यवाद

प्रश्न 4. 'उन्मूलन का तर्क' किस प्रकार के उपनिवेशवाद की विशेषता है?

(A) शोषणकारी उपनिवेशवाद (B) बागान उपनिवेशवाद

(C) व्यापार उपनिवेशवाद (D) बसने वाला उपनिवेशवाद

प्रश्न 5. फ्रांत्ज़ फैनन की प्रसिद्ध पुस्तक कौन-सी है?

(A) द रेच्ड ऑफ द अर्थ (B) ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क्स

(C) ओरिएंटलिज़्म (D) इम्पीरियलिज़्म: ए स्टडी

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर – 1- (A) , 2- (C) , 3- (B) , 4 - (D) 5- (B)

11.10 तकनीकी शब्दावली

- खोज का युग - 15वीं से 17वीं शताब्दी तक का वह ऐतिहासिक काल है जब यूरोपीय नाविकों ने धन, व्यापार मार्गों और नए क्षेत्रों की तलाश में दुनिया भर की समुद्री यात्राएं की।
- बंधुआ बाजार (Captive Market) - मिला जहां गुलाम देश के लोग केवल शासक देश का माल खरीदने हेतु मजबूर किये जाते हैं।
- अधिशेष पूँजी (Surplus Capital) - वह पूँजी जो घरेलू अर्थव्यवस्था में लाभ के अवसरों से अधिक हो जाती है, और जिसे अधिक लाभ कमाने हेतु विदेशों (उपनिवेशों) में निवेश किया जाता है।
- मेट्रोपोल(Metropole) - मातृदेश यानी उपनिवेश पर शासन करने वाला मूल देश।
- वाणिज्यवाद(mercantilism) -16 वीं से 18वीं शताब्दी तक निर्यात को बढ़ावा देने के लिए यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं की प्रमुख नीति जिसमें वे आयात को हतोत्साहित करते, और अपने उपनिवेशों को कच्चे माल के स्रोत एवं तैयार माल के बाजार के रूप में उपयोग करते थे।
- श्वेत व्यक्ति का बोझ (White Man's Burden) - यूरोपीय श्रेष्ठता पर आधारित औपनिवेशिक वैचारिकी थी जिसकी आड़ में शोषण, आक्रमण और उपनिवेशवाद को उचित ठहराया गया।
- अतावाद (Atavism) - जोसेफ शुम्पीटर का विचार कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद से संबंधित नहीं है, बल्कि सामंती अतीत का अवशेष है जैसे प्राचीन राजा युद्ध और विस्तार को गौरव मानते थे।
- सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism) - डार्विन का योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांत का सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोग।
- सभ्यता मिशन(Civilizing Mission) - उपनिवेशवाद को सभ्यता फैलाने के नाम पर उचित ठहराने का विचार।

- अल्प-उपभोग (Underconsumption) - पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों के शोषण के कारण मजदूरों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, जिससे अधिक उत्पादित माल घरेलू बाजार में नहीं बिक पाता।
- टेरा नलियस (Terra Nullius) - 'किसी की भूमि नहीं' की औपनिवेशिक अवधारणा।
- सांस्कृतिक हेग्मनी (Cultural Hegemony) - एंटोनियो ग्राम्स्की द्वारा दी गई यह अवधारणा उस सांस्कृतिक प्रभुत्व को दर्शाती है जो बलपूर्वक नहीं, बल्कि स्कूल, मीडिया, धर्म और सिनेमा का सहारा लेकर निर्मित सहमति से स्थापित होता है।
- संपदा का अपवहन (Drain of Wealth) - दादाभाई नौरोजी की अवधारणा जो उस प्रक्रिया को दर्शाती है जिसके द्वारा उपनिवेशों से अधिशेष धन एवं संसाधनों को मातृ देशमें स्थानांतरित किया गया।
- विऔपनिवेशीकरण (Decolonization) - वह प्रक्रिया जिसके द्वारा कोई उपनिवेश उपनिवेशक शक्ति से प्रायः हिंसक संघर्षों, राष्ट्रवादी आंदोलनों एवं अंतर्राष्ट्रीय दबावों के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त करता है।

11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

- https://www.historians.org/perspectives-article/a-typology-of-colonialism-october-2015/
- Arneil, B. (2024). Colonialism versus imperialism. *Political Theory*, *52*(1), 146-176.
- https://journals.sagepub.com/doi/10.1177/00905917231193107?icid=int.sj-abstract.similar-articles.4
- http://www8.austlii.eMercentalism
- Young, R. J. (2016). *Postcolonialism: An historical introduction*. John Wiley & Sons.

- Simal, B. (1999). Ania Loomba. Colonialism/Postcolonialism. London: Routledge, 1998, xviii+ 289 pp. *Revista alicantina de estudios ingleses, No. 12 (Nov. 1999); pp.*

11.12 सहायक पाठ्य सामग्री

- Ania Loomba - Colonialism/Postcolonialism
- Robert J. C. Young - Postcolonialism: An Historical Introduction
- Patrick Wolfe - Settler Colonialism and the Transformation of Anthropology
- Frantz Fanon - The Wretched of the Earth
- Edward Said - Orientalism
- John M. Hobson - Imperialism
- Lenin - Imperialism: The Highest Stage of Capitalism

11.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. उपनिवेशवाद की अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके ऐतिहासिक विकास एवं प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
2. साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद में अंतर स्पष्ट कीजिए। क्या दोनों अवधारणाएँ परस्पर पूरक हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. उपनिवेशवाद के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभावों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. उपनिवेशवाद के विभिन्न प्रकारों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए तथा प्रत्येक के उपयुक्त ऐतिहासिक उदाहरण दीजिए।
5. बसावट उपनिवेशवाद शोषणात्मक उपनिवेशवाद में अंतर स्पष्ट कीजिए।
6. आंतरिक उपनिवेशवाद की अवधारणा का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई -12 नव उपनिवेशवाद, बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका

इकाई का स्वरुप

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 नव उपनिवेशवाद की अवधारणा

12.3.1 नव उपनिवेशवाद: परिभाषा और मूल तत्व

12.3.2 नवउपनिवेशवाद के प्रमुख लक्षण एवं उपकरण

12.3.3 निर्भरता सिद्धान्त एवं केन्द्र-परिधि मॉडल

12.3.4 विश्व व्यवस्था सिद्धान्त

12.3.5 फ्रांज फैनन, ज्याँ पॉल सार्त्र एवं उत्तर-उपनिवेशवादी चिंतन

12.4 सांस्कृतिक उपनिवेशवाद

12.5 बहुराष्ट्रीय निगम: अवधारणा, ऐतिहासिक विकास एवं विशेषताएँ

12.6 नवउपनिवेशवाद में बहुराष्ट्रीय निगमों के तंत्र

12.7 डिजिटल उपनिवेशवाद - नियंत्रण का नया स्वरूप

12.8 बहु-राष्ट्रीय निगमों का विकासशील देशों पर प्रभाव

12.9 सारांश

12.10 अभ्यास प्रश्न

12.11 तकनीकी शब्दावली

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.13 सहायक पाठ्य सामग्री

12.14 निबंधात्मक

12.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध ने वैश्विक स्टार पर शक्ति संतुलन में परिवर्तन कर दिया। यूरोपीय औपनिवेशक ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैंड, बेल्जियम और पुर्तगाल युद्ध के कारण आर्थिक रूप से बर्बाद हो चुके थे और अपने उपनिवेशों पर नियंत्रण बनाए रखने में असमर्थ थे। सभी उपनिवेशक राष्ट्रवादियों, छात्रों, बुद्धिजीवियों और किसानों के व्यापक गठबंधन से शुरू हुए स्वतंत्रता आंदोलनों को कुचलने में असमर्थ थे इसीलिए कई उपनिवेशों में कम संघर्ष या शांतिपूर्ण ढंग से स्वतंत्रता प्राप्त हुई । 18-24 अप्रैल, 1955 को इंडोनेशिया के बांडुंग शहर में एशिया-अफ्रीका सम्मेलन आयोजित किया गया। यह पहला स्वतंत्र अफ्रीकी-एशियाई विश्व आयोजन था जिसमें 29 देशों ने प्रतिभाग किया, जो पश्चिमी हस्तक्षेप से स्वतंत्र था जिसका आयोजन इंडोनेशिया, म्यांमार, श्रीलंका, भारत और पाकिस्तान के नेताओं द्वारा किया गया। इस सम्मलेन ने क्षेत्रीय अखंडता एवं संप्रभुता को बढ़ावा दिया और उपनिवेशवाद के सभी रूपों की निंदा की।

जैसे - जैसे अफ्रीका एवं एशिया में कई देश स्वतंत्र हुए और वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया तेज़ हुई किन्तु वह स्वतंत्रता केवल राजनीतिक थी उपनिवेशकों ने आर्थिक रूप से नियंत्रण बनाया हुआ था और उपनिवेशवाद का उनकी सामजिक स्थिति में इतना बुरा प्रभाव पड़ा की वो पूर्णतः स्वायत्त रूप से आत्मनिर्भर नहीं हो सके। इसी आर्थिक निर्भरता और अप्रत्यक्ष नियंत्रण की व्यवस्था को नव उपनिवेशवाद (Neocolonialism) कहा गया। घाना के प्रथम राष्ट्रपति क्वामे नक्रूमा को इस शब्द को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है। यह शब्द 1963 में अफ्रीकी एकता संगठन (OAU) के अधिकारपत्र की प्रस्तावना में भी शामिल हुआ। वर्त्तमान में भी जब हम अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों की स्थिति का अवलोकन करते हैं, तो हमें एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है। एक ओर इन देशों ने औपचारिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, उनके पास अपने झंडे हैं, संयुक्त राष्ट्र में अपनी सीटें हैं, और अंतरराष्ट्रीय कानून के तहत संप्रभु राष्ट्रों के रूप में मान्यता प्राप्त है। दूसरी ओर, इन देशों की आर्थिक नीतियाँ, उनके व्यापारिक संबंध, उनके संसाधनों का दोहन, और उनके विकास की दिशा अक्सर बाहरी ताकतों द्वारा निर्धारित की जाती हैं। यह विडंबनापूर्ण स्थिति ही नव उपनिवेशवाद की अवधारणा का केंद्र बिंदु है।

नक्रूमा के अनुसार, नव उपनिवेशवाद की गहरी जड़ें बहुराष्ट्रीय निगमों और वैश्विक वित्तीय संस्थानों के कार्यों में निहित हैं। उन्होंने तर्क दिया कि औपनिवेशिक शक्तियों ने अपनी औपनिवेशिक संपत्तियों को खो देने के बाद, अपने आर्थिक प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए नए और अधिक सूक्ष्म तरीके विकसित किए। पहले जहाँ उपनिवेशवादी शक्तियाँ प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण और सैन्य बल का प्रयोग करती थीं, वहीं अब उन्होंने आर्थिक साधनों, सहायता कार्यक्रमों, व्यापार समझौतों, और वित्तीय संस्थानों के माध्यम से अपना प्रभाव बनाए रखना शुरू कर दिया। इस संदर्भ में बहुराष्ट्रीय निगम नव उपनिवेशवाद के प्रमुख साधन बन गए हैं। ये निगम अपनी विशाल पूंजी, तकनीकी विशेषज्ञता और वैश्विक पहुँच का उपयोग करके विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं में प्रवेश

करते हैं और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं। वे स्थानीय संसाधनों का दोहन करते हैं, स्थानीय उद्योगों को प्रतिस्पर्धा से बाहर कर देते हैं, और लाभ को अपने मूल देशों में स्थानांतरित कर देते हैं, जिससे विकासशील देशों की गरीबी और असमानता बढ़ती है।

12.2 उद्देश्य

1. नव उपनिवेशवाद की अवधारणा को उसके ऐतिहासिक और सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में समझना।
2. बहुराष्ट्रीय निगमों की ऐतिहासिक भूमिका का विश्लेषण करना, विशेष रूप से ईस्ट इंडिया कंपनी के उदाहरण के माध्यम से, जो आधुनिक बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए एक आदर्श के रूप में कार्य करती है।
3. निर्भरता सिद्धांत, विश्व व्यवस्था सिद्धांत एवं उत्तर-उपनिवेशवादी चिंतन के माध्यम से नव उपनिवेशवाद के विभिन्न आयामों का विश्लेषण करना।
4. सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की अवधारणा एवं उसके विभिन्न सैद्धांतिक आयामों को समझना।
5. भारत सहित विभिन्न विकासशील देशों पर बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रभाव का मूल्यांकन करना तथा नव उपनिवेशवाद से मुक्ति हेतु विकासशील देशों के लिए रणनीतियाँ सुझाना।

12.3 नव उपनिवेशवाद की अवधारणा: ऐतिहासिक और सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

12.3.1 नव उपनिवेशवाद: परिभाषा और मूल तत्व

नवउपनिवेशवाद को "विकसित देशों द्वारा अल्प-विकसित देशों का अप्रत्यक्ष माध्यमों से नियंत्रण" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। नव-उपनिवेशवाद को 'डॉलर साम्राज्यवाद' व 'आर्थिक साम्राज्यवाद' भी कहा जाता है। यह वह व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक रूप से स्वतंत्र देश आर्थिक, सांस्कृतिक एवं वित्तीय माध्यमों से पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों या पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के नियंत्रण में रहते हैं। एनक्रूमा ने नव-उपनिवेशवाद को साम्राज्यवाद का अंतिम चरण घोषित किया। उन्होंने लेनिन के इस विचार को आधुनिक रूप दिया कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का उच्चतम चरण है। एनक्रूमा का मानना था कि जब यूरोपीय शक्तियों को पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था को बनाए रखना असंभव लगा, तो उन्होंने 'नव-उपनिवेशवाद की व्यवस्था' की स्थापना की।

क्वामे नक्रूमा, जिन्होंने घाना को 1957 में ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता दिलाई और अफ्रीकी एकता के प्रबल समर्थक थे उन्होंने अपनी पुस्तक 'नव उपनिवेशवाद: साम्राज्यवाद का अंतिम चरण' (1965) में नव उपनिवेशवाद को साम्राज्यवाद के सबसे खतरनाक और अंतिम चरण के रूप में वर्णित किया। उनका कहना था की यूरोपीय शक्तियां अफ्रीकी देशों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण तो समाप्त कर रही हैं किन्तु वित्तीय और कॉर्पोरेट नियंत्रण के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूओप से नियंत्रण कर रही थीं। नक्रूमा के अनुसार, नव उपनिवेशवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अधीन राज्य सैद्धांतिक रूप से स्वतंत्र होता है और उसके पास अंतरराष्ट्रीय संप्रभुता के सभी बाहरी आभूषण होते हैं, लेकिन वास्तव में उसकी आर्थिक प्रणाली और इस प्रकार उसकी राजनीतिक नीति बाहर से निर्देशित होती है। नक्रूमा ने स्पष्ट किया कि पुराने उपनिवेशवाद को पहचानना व उसका विरोध करना तुलनात्मक रूप से आसान था क्योंकि पवः प्रत्यक्ष था और उपनिवेशवादी शक्ति को कम से कम अपने देश में अपने कार्यों को समझाना और सही ठहराना पड़ता था, लेकिन नव उपनिवेशवाद में ऐसी कोई जवाबदेही नहीं होती।

नक्रूमा ने नव उपनिवेशवाद के तीन प्रमुख तत्वों की पहचान की। पहला तत्व <u>आर्थिक नियंत्रण</u> है, जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम और वित्तीय संस्थान विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं। दूसरा तत्व <u>राजनीतिक हस्तक्षेप</u> है, जिसमें सहायता कार्यक्रमों, ऋणों, और व्यापार समझौतों के माध्यम से विकासशील देशों की नीतियों को प्रभावित किया जाता है। तीसरा तत्व <u>सांस्कृतिक और वैचारिक प्रभुत्व</u> है, जिसमें शिक्षा, मीडिया, और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से विकासशील देशों के नागरिकों की मानसिकता को प्रभावित किया जाता है। नव उपनिवेशवाद के तहत निवेश दुनिया के अमीर और गरीब देशों के बीच की खाई को कम करने के बजाय बढ़ाता है। यह स्थिति विश्व शांति के लिए एक गंभीर खतरा है क्योंकि नव उपनिवेशवाद 'सीमित युद्धों' के लिए प्रजनन स्थल प्रदान करता है।

12.3.2 नवउपनिवेशवाद के प्रमुख लक्षण एवं उपकरण

ब्रिटैनिका विश्वकोश के अनुसार, नवउपनिवेशवाद "आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दबावों" के माध्यम से पूर्व उपनिवेशों को नियंत्रित और शोषित करता है। यह नियंत्रण अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से किया जाता है। विकसित और विकासशील देशों के मध्य अन्यायपूर्ण विदेशी निवेश, असमान व्यापार, ऋण जाल के कारण आर्थिक निर्भरता बनी हुई है। वैश्विक दक्षिण के देश अपनी मुद्राओं को स्थिर रखने के लिए अमेरिकी डॉलर उधार लेने के लिए मजबूर होते हैं जो उन्हें ऋण जाल में फंसा देता है परिणामस्वरूप, विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए उन्हें अपने कच्चे माल और अर्ध-प्रसंस्कृत वस्तुओं को सस्ते में निर्यात करना पड़ता है। राजनीतिक नियंत्रण के अंतर्गत एकतरफा प्रतिबंध, ऋण बंधन, सैन्य और राजनीतिक दबाव, चुनावी प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप, मानवीय सहायता और मानवाधिकारों का राजनीतिकरण, और नियम आधारित विश्व

व्यवस्था का थोपना शामिल है। प्रतिबंध, आर्थिक नाकाबंदी और राजनीतिक हस्तक्षेप नवउपनिवेशवाद की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। इस ऐतिहासिक अन्याय को स्वीकार करते हुए अफ्रीकी संघ ने 2026 से 2036 की अवधि को **क्षतिपूर्ति का दशक** घोषित किया है। सांस्कृतिक प्रभुत्व नवउपनिवेशवाद का सबसे सूक्ष्म एवं गहरा रूप है। स्कूलों,मीडिया, गैर-सरकारी संगठनों और बड़ी प्रौद्योगिकी कंपनियों के माध्यम से शिक्षा, फैशन, विज्ञान और यहाँ तक कि आत्म-मूल्यों में भी **वैश्विक उत्तर** ने अपना सांस्कृतिक एवं वैचारिक प्रभुत्व बनाया है।

नवउपनिवेशवाद विभिन्न आर्थिक, वित्तीय, व्यापारिक, सैन्य एवं कूटनीतिक उपकरणों के माध्यम से संचालित होता है। शोधकर्ताओं का तर्क है की 1944 में स्थापित **ब्रिटन वुड्स संस्थाओं** की कानूनी सीमाएँ एक अकथित नवउपनिवेशवादी एजेंडा को सुगम बनाती हैं के मूल में हैं। समीर अमीन के अनुसार वैश्विक पूंजीवाद **सामूहिक साम्राज्यवाद** के रूप में पाँच नियंत्रणों के माध्यम से गरीब देशों पर नियंत्रण रखता है - 1. तकनीक पर नियंत्रण, 2. प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच, 3. वैश्विक वित्त, 4. वैश्विक मीडिया, 5. जनसंहार के साधन। उनका मानना है की इन पाँचों एकाधिकारों में, IMF और विश्व बैंक द्वारा संचालित वैश्विक वित्त पर नियंत्रण सबसे शक्तिशाली है। **संरचनात्मकन समायोजन कार्यक्रम** जिसका उपयोग नवउपनिवेशवाद का प्राथमिक उपकरण माना जाता है और सशर्त ऋण नवउपनिवेशवाद के प्रमुख वित्तीय उपकरण हैं। विकसित देश विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत बौद्धिक संपदा अधिकारों, कृषि सब्सिडी, चयनात्मक टैरिफ तथा गैर-शुल्क व्यापार बाधाओं का उपयोग इस प्रकार करते हैं कि विकासशील देशों के लिए वैश्विक बाजार में प्रतिस्पर्धा कठिन हो जाती है। सुरक्षा आश्वासन एवं हथियारों की बिक्री के बदले राजनीतिक समर्थन एवं सैन्य अड्डों की स्थापना, तथा प्रतिभा प्रवास (ब्रेन ड्रेन) के माध्यम से विकासशील देशों के प्रतिभाशाली एवं शिक्षित मानव संसाधनों का ह्रास ये सभी तंत्र मिलकर इस अप्रत्यक्ष साम्राज्यवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करते हैं।

12.3.3 निर्भरता सिद्धान्त एवं केन्द्र-परिधि मॉडल

20 वीं सदी के उत्तरार्ध में वि-औपनिवेशीकरण के दौर में नक्रूमा के नव उपनिवेशवाद के सिद्धांत के अतिरिक्त कई अन्य सिद्धान्तकारों ने नियंत्रण एवं शोषण के विभिन्न आयामों एवं प्रकारों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन कर निम्नलिखित नए सिद्धांत प्रतिपादित किये जो नव-उपनिवेशवादी शोषण को ही वर्णित करते हैं।

1. **केन्द्र-परिधि मॉडल(Centre - Periphery Model) -** अर्जेंटीना के अर्थशास्त्री राउल प्रेबिस्क (Raúl Prebisch) ने विश्व अर्थव्यवस्था को केन्द्र और परिधि में विभाजित किया ,केन्द्र में जहाँ औद्योगिक राष्ट्र शामिल हैं और परिधि में प्राथमिक उत्पादक यानी कच्चे

माल के निर्यातक देश आते हैं। उनके अनुसार केन्द्र और परिधि के बीच विषमताएँ तीसरी दुनिया के देशों को निर्भरता की स्थिति में धकेल देती हैं।

2. **अल्पविकास का विकास (Development of Underdevelopment) -** 1966 में अपने महत्वपूर्ण लेख 'द डेवलपमेंट ऑफ़ अंडर डेवलपमेंट' में एंड्रे गुंडर फ्रैंक ने निर्भरता सिद्धांत की शुरुआत की। फ्रैंक ने 'विकास और अल्पविकास एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं' का विचार प्रस्तुत किया। उनके अनुसार विकसित देशों की समृद्धि, विकासशील देशों के संसाधनों, श्रम और बाजारों के निरंतर शोषण पर आधारित रही। इसलिए, जब विकसित देश अधिक समृद्ध होते गए, तब अनेक विकासशील देश अपेक्षाकृत अधिक निर्भर और अल्पविकसित बने रहे।
3. **विश्व स्तर पर संचय (Accumulation on a World Scale) और साम्राज्यवादी किराया(Imperialist Rent) -** मिस्र के अर्थशास्त्री समीर अमीन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अकुमुलेशन ऑफ़ वर्ल्ड स्केल में उन्होंने बताया कि विश्व अर्थव्यवस्था केन्द्र और परिधि के बीच असमान संबंधों पर आधारित है। विश्व स्तर पर संचय की प्रक्रिया ऐसी है जिसमें परिधीय देशों को अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की आवश्यकताओं के अनुरूप एकतरफा समायोजन करना पड़ता है जबकि विकसित देश अपने हितों के अनुसार ही नीतियों और निर्णयों का निर्माण करते हैं। अमीन ने पूँजी संचय के दो प्रतिरूपों केन्द्र में स्वायत्त एवं औद्योगिक विकास तथा परिधि में आश्रित एवं असंतुलित विकास का उल्लेख किया। उन्होंने साम्राज्यवादी किराया की अवधारणा दी जो की विकसित देश विकासशील देशों के श्रम, प्राकृतिक संसाधनों, पूँजी और असमान व्यापारिक संबंधों के माध्यम से प्राप्त करते हैं। यह लाभ किसी अतिरिक्त उत्पादकता के कारण नहीं, बल्कि वैश्विक आर्थिक व्यवस्था में असमान शक्ति-संबंधों के कारण प्राप्त होता है।
4. **आश्रित विकास (Dependent Development) -** ब्राज़ीलियाई समाजशास्त्री फर्नांडो हेनरिक कार्डोसो (Fernando Henrique Cardoso) और एन्ज़ो फलेटो (Enzo Faletto) की पुस्तक डिपेंडेंसी एंड डेवलपमेंट (1967) ने निर्भरता सिद्धांत में एक महत्वपूर्ण मोड़ लाया। आश्रित विकास का अर्थ है कि कोई विकासशील देश आर्थिक विकास तो करता है, लेकिन उसका विकास विदेशी पूँजी, बहुराष्ट्रीय निगमों, प्रौद्योगिकी और वैश्विक बाजार पर निर्भर रहता है। अर्थात् विकास होता है, परंतु उसकी दिशा और सीमाएँ काफी हद तक बाहरी आर्थिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं।

12.3.4 विश्व व्यवस्था सिद्धान्त (World-Systems Theory)

इमैनुएल वालरस्टीन (Immanuel Wallerstein) ने अपनी पुस्तक द मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम में यह तर्क दिया कि आधुनिक विश्व को अलग-अलग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के रूप में नहीं, बल्कि एक एकीकृत पूँजीवादी विश्व-अर्थव्यवस्था के रूप में समझना चाहिए। यह वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर आधारित है जिसके तीन प्रमुख भाग हैं – पहले केन्द्र जिसमें विकसित देश आते हैं जो उच्च मूल्यवर्धित वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करते हैं तथा वैश्विक व्यापार और वित्त पर महत्वपूर्ण नियंत्रण रखते हैं। दूसरे अर्ध-परिधीय देश ये कुछ क्षेत्रों में औद्योगिक रूप से विकसित होते हैं, जबकि अन्य क्षेत्रों में अभी भी केन्द्र देशों पर निर्भर रहते हैं। और तीसरे परिधीय देश जिनकी अर्थव्यवस्था मुख्यतः कच्चे माल, कृषि उत्पादों तथा कम मूल्यवर्धित वस्तुओं के निर्यात पर आधारित होती है। वालरस्टीन के अनुसार, विश्व-व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक संरचना है, जिसकी अपनी सीमाएँ, संस्थाएँ, नियम और शक्ति-संबंध होते हैं। इस व्यवस्था में संसाधनों, पूँजी और अधिशेष का प्रवाह मुख्यतः परिधि से केन्द्र की ओर होता है। यही कारण है कि विकसित केन्द्र देश अपनी समृद्धि बनाए रखते हैं, जबकि अनेक परिधीय देश आर्थिक निर्भरता और असमान विकास की स्थिति में बने रहते हैं।

12.3.5 फ्रांज फैनन, ज्याँ पॉल सार्त्र एवं उत्तर-उपनिवेशवादी चिंतन

फ्रांज फैनन(Frantz Fanon)

फ्रांज फैनन ने उपनिवेशवाद एवं नव-उपनिवेशवाद के मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक आयामों का गहन विश्लेषण किया। उनका मानना था कि उपनिवेशवाद केवल राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित नहीं करता, बल्कि उपनिवेशित समाज की मानसिकता, सांस्कृतिक पहचान और आत्मसम्मान को भी प्रभावित करता है। अपनी पुस्तक काली त्वचा, सफेद मुखौटे(Black Skin, White Mask)के माध्यम से फैनन नस्लवाद के शानदार विश्लेषण के लिए जाने जाते हैं, यह पुस्तक बताती है कि कैसे उपनिवेशित व्यक्ति श्वेत संस्कृति के मुखौटे को धारण कर अपनी पहचान खो देता है। । उनकी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक पृथ्वी के अभागे (The Wretched of the Earth)यह फैनन की सबसे प्रसिद्ध कृति है, जिसमें उन्होंने औपनिवेशिक व्यवस्था की पकड़ से मुक्त दुनिया की कल्पना की।

ज्याँ पॉल सार्त्र(Jean-Paul Sartre)

फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पॉल सार्त्र ने 1964 में फ्रांस की अल्जीरियाई नीति के विरोध करने वाले निबंधों का संकलन उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद (कोलोनिअलिस्म एंड निओ कोलोनिअलिस्म) पुस्तक लिखी। यह पुस्तक फ्रांस की अल्जीरिया में नीतियों की आलोचना पर है। सार्त्र ने तर्क दिया कि उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद उत्पीड़नकारी व्यवस्थाएँ हैं जो

उपनिवेशित लोगों का शोषण करती हैं और उनकी भूमि से संसाधनों को निकालती हैं। सार्त्र की इस कृति ने उपनिवेशवाद, उत्तर-उपनिवेशवाद, राजनीति और साहित्य पर बाद में होने वाले अनेक लेखन को प्रेरित किया।

12.4 सांस्कृतिक उपनिवेशवाद (Cultural Colonialism)

उत्तर-उपनिवेशवाद काल में नव-उपनिवेशवाद का एक क्रूर चेहरा सांस्कृतिक उपनिवेशवाद भी है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का तात्पर्य है पश्चिम का सांस्कृतिक प्रभुत्व। इस प्रभुत्व के कारण तीसरी दुनिया के निवासी पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी संस्थाओं, पश्चिमी परम्पराओं, पश्चिमी जीवन शैली व विचार प्रणाली को श्रेष्ठ मानते हैं तथा उसी के अनुसार अपने जीवन का निर्माण करते हैं। पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित करती रुडयार्ड किपलिंग की रचना श्वेत मानव का बोझ (White Man's Burden Theory) यह विचार को बढ़ावा देती है कि श्वेत जाति का कर्तव्य है कि वह 'असभ्य' उपनिवेशों को सभ्य बनाए। उत्तर-उपनिवेशवादी व्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्तकार एडवर्ड सेड (Edward Said) ने अपनी दो महत्वपूर्ण पुस्तकों में पश्चिमी ज्ञान व संस्कृति की श्रेष्ठता का विरोध किया पहली पुस्तक प्राच्यवाद (ओरिएंटलिस्म 1978) में सेड ने दिखाया कि कैसे पश्चिमी विद्वानों ने पूर्व(ओरिएंट) की एक काल्पनिक छवि निर्मित की, जो पश्चिमी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए अपरिपक्व, रहस्यमय एवं हीन के रूप में चित्रित की गई। अपनी दूसरी पुस्तक 'संस्कृति और साम्राज्यवाद'(कल्चर एंड इम्पिरिअलिस्म 1993) में सेड ने बताया सांस्कृतिक उत्पाद जैसे साहित्य, कला, मीडिया और साम्राज्यवादी परियोजना के उपकरण हैं। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक (Gayatri Chakravorty Spivak) ने अपने प्रसिद्ध लेख क्या उप-वैकल्पिक बोल सकता है?1988 में पाश्चात्य श्रेष्ठता का विरोध किया है। स्पीवाक ने तर्क दिया कि उप-वैकल्पिक (Subaltern) हाशिए पर खड़े, दबे-कुचले वर्ग की आवाज़ को मुख्यधारा के विमर्शों में सुनने का कोई अवसर नहीं मिलता। नॉम चॉमस्की (Noam Chomsky) ने 'सहमति का निर्माण (मैन्युफैक्चरिंग कंसेंट 1988)' पुस्तक में मीडिया के प्रभुत्व को प्रकट किया। चॉम्स्की के अनुसार, मीडिया केवल समाचार नहीं देता, बल्कि समाचारों के चयन और प्रस्तुतीकरण के माध्यम से ऐसी जनसहमति का निर्माण करता है, जो प्रायः सत्ता और प्रभुत्वशाली आर्थिक हितों को वैधता प्रदान करती है अन्य प्रमुख विचारक जैसे बेन्जामिन बार्बर (Benjamin Barber) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जिहाद बनाम मैकवर्ल्ड' में दिखाया कि कैसे वैश्वीकरण (मैकवर्ल्ड) और कट्टरपंथी राष्ट्रवाद (जिहाद) दोनों ही लोकतंत्र के लिए खतरा हैं। जॉर्ज रिट्ज़र (George Ritzer) ने अपनी पुस्तक The McDonaldization of Society (1993) में मैकडोनाल्डीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार, आधुनिक समाज में फास्ट-फूड श्रृंखला जैसे मैकडोनाल्ड की कार्यप्रणाली के सिद्धांत (दक्षता, गणनीयता, पूर्वानुमेयता, नियंत्रण) केवल भोजन उद्योग तक सीमित नहीं रहे, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, पर्यटन, मनोरंजन और प्रशासन सहित अनेक सामाजिक संस्थाओं में फैल गए हैं। मूलतः मुम्बईवासी

और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर होमी के. भाभा (Homi K. Bhabha) ने सांस्कृतिक संकरता की अवधारण दी । उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित हुई और एक नयी संस्कृति का विकास हुआ यही सांस्कृतिक संकरता (Cultural Hybridity) कहलाती है। एंग्लो-इण्डियन समुदाय इसका मुख्या उदाहरण है जो ब्रिटिश और भारतीय दोनों संस्कृतियों के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करता है।

12.5 बहुराष्ट्रीय निगम: अवधारणा, ऐतिहासिक विकास एवं विशेषताएँ

बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporation - MNC) एक ऐसा बड़ा उद्यम है जो अपने मूल देश के अतिरिक्त कम से कम एक अन्य देश में वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन का स्वामित्व या नियंत्रण रखता है। ये निगम अनेक देशों में संचालित होते हुए भी अपने गृह देश से ही नियंत्रित होते हैं तथा इनकी लंबी वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, ये निगम एक देश से कच्चे माल की खरीद करते हैं, दूसरे देश में उत्पादन करते हैं, और तीसरे देश में अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं की बिक्री करते हैं। वैश्विक अर्थव्यवस्था में इनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है, ये निगम विश्व निर्यात का आधा, वैश्विक सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का लगभग एक-तिहाई, तथा वैश्विक रोज़गार का लगभग एक-चौथाई हिस्सा हैं। एप्पल (Apple), टेस्ला (Tesla), अमेज़न (Amazon), कोका-कोला (Coca-Cola) जैसी कंपनियाँ वर्तमान युग की प्रमुख बहुराष्ट्रीय निगमों के उदाहरण हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों का ऐतिहासिक विकास सत्रहवीं शताब्दी की चार्टर्ड से प्रारंभ होता है। ये कंपनियाँ वाणिज्य, शासन और सैन्य शक्ति का अद्वितीय संयोजन थीं तथा इन्हें आधुनिक बहुराष्ट्रीय निगमों की अग्रदूत माना जाता है। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी (1600) थी, जिसे निक रॉबिन्स ने अपनी पुस्तक 'द कॉरपोरेशन दैट चेंज्ड द वर्ल्ड' (2006) में आधुनिक निगम की जननी कहा है। ये चार्टर्ड कंपनियाँ औपनिवेशिक शक्तियों के उपनिवेशवाद के साधन के रूप में कार्य करती थीं, जो व्यापार के साथ-साथ राजनीतिक एवं सैन्य नियंत्रण भी स्थापित करती थीं।आधुनिक युग में गिरती व्यापारिक बाधाओं, नए बाज़ारों की खोज, वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं के विस्तार तथा कम लागत वाले क्षेत्रों में पहुँच बनाने के कारण MNCs का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। 1990 के दशक के वैश्वीकरण ने इन निगमों को और अधिक शक्तिशाली बना दिया। आज ये निगम अनेक देशों में कार्य करते हुए भी अपने गृह देश से ही नियंत्रित होते हैं, जिससे वैश्विक अर्थव्यवस्था में असमान शक्ति-संबंध स्थापित होते हैं। चार्टर्ड कंपनियों से आधुनिक निगमों तक का यह सफर यह दर्शाता है कि किस प्रकार ये संस्थाएँ उपनिवेशवाद के औपचारिक अंत के बाद भी अप्रत्यक्ष नियंत्रण के माध्यम से अपनी स्थायी उपस्थिति बनाए हुए हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं बहु-देशीय परिचालन, केन्द्रीय नियंत्रण, तथा वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला। प्रथम, ये निगम एक से अधिक देशों में उत्पादन, वितरण एवं विपणन जैसी गतिविधियाँ संचालित करते हैं, जिससे उनकी वैश्विक उपस्थिति सुनिश्चित होती है। द्वितीय, इन सभी

अंतर्राष्ट्रीय परिचालनों का नियंत्रण एवं प्रबंधन गृह देश के मुख्यालय से किया जाता है, जो एक केन्द्रीकृत प्रबंधन संरचना को दर्शाता है। तृतीय, इनकी लंबी एवं जटिल आपूर्ति श्रृंखलाएँ होती हैं, जो विभिन्न देशों के कच्चे माल, उत्पादन एवं बिक्री को एकीकृत करती हैं। ये विशेषताएँ MNCs को वैश्विक अर्थव्यवस्था का आधार स्तंभ बनाती हैं तथा उन्हें अत्यधिक आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति प्रदान करती हैं।

12.6 नवउपनिवेशवाद में बहुराष्ट्रीय निगमों के तंत्र

आर्थिक तंत्र

बहुराष्ट्रीय निगम अर्ध-साम्राज्यवादी संस्थाओं में विकसित हो गए हैं, जो विकासशील देशों के प्राकृतिक संसाधनों, श्रम बाज़ारों और नीति-निर्माण प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखते हैं, जिससे नव-उपनिवेशवाद का एक नया रूप प्रभावी रूप से सृजित होता है। आर्थिक स्तर पर, MNCs विकासशील देशों के प्राकृतिक संसाधों (खनिज, जल, कृषि, वन) पर एकाधिकार स्थापित करते हैं। ये निगम सस्ते श्रम की उपलब्धता के कारण विकासशील देशों में अपने उद्योग स्थापित करते हैं तथा श्रम शोषण करते हैं। स्थानीय श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी, असुरक्षित कार्य परिस्थितियाँ एवं सामाजिक सुरक्षा के अभाव में कार्य करने के लिए विवश किया जाता है। MNCs का सबसे गंभीर आर्थिक दुष्प्रभाव **मुनाफे का पुनःप्रेषण** है। ये निगम अपने अधिकांश लाभ को गृह देशों में स्थानांतरित कर देते हैं, जिससे स्थानीय पूँजी का ह्रास होता है तथा विकासशील देशों में पुनर्निवेश अत्यंत सीमित रह जाता है। कर रियायतों एवं **विशेष आर्थिक क्षेत्रों** की माँग करके ये निगम स्थानीय अर्थव्यवस्था को राजस्व से वंचित करते हैं। **संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम** एवं IMF-विश्व बैंक की सशर्त ऋण नीतियाँ इन निगमों के हितों को आगे बढ़ाती हैं, जिससे विकासशील देश ऋण जाल में फँस जाते हैं तथा अपनी आर्थिक संप्रभुता खो बैठते हैं। इस प्रकार, आर्थिक तंत्र के माध्यम से MNCs न केवल संसाधनों का दोहन करते हैं, बल्कि विकासशील देशों को स्थायी आर्थिक निर्भरता में धकेल देते हैं।

राजनीतिक तंत्र

राजनीतिक स्तर पर, बहुराष्ट्रीय निगम **नीति-निर्माण** (व्यापार, निवेश, श्रम कानून) पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दबाव डालते हैं। ये निगम मेज़बान सरकारों से कर रियायतों एवं विशेष आर्थिक क्षेत्रों की माँग करते हैं तथा अपनी विशाल पूँजी एवं अंतर्राष्ट्रीय उपस्थिति का उपयोग करके सरकारी नीतियों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। लॉबिंग , थिंक-टैंक्स और मीडिया के माध्यम से ये निगम सरकारी एजेंडा को प्रभावित करते हैं तथा अल्पविकसित राज्यों की आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप करते हैं।

निवेशक-राज्य विवाद निपटान जैसे तंत्रों का उपयोग करके MNCs संप्रभु राज्यों पर मुकदमा कर सकते हैं, जबकि राज्यों के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है। यह नवउपनिवेशवादी तंत्र औपनिवेशिक कानूनी प्रणालियों जैसे रियायत कानून, संप्रभुता-निषेध संहिताओं की आधुनिक

पुनर्व्यवस्था है। एकतरफा प्रतिबंध, आर्थिक नाकाबंदी, एवं चुनावी प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप नवउपनिवेशवाद की आधुनिक राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनके माध्यम से वैश्विक उत्तर के देश एवं उनके निगम विकासशील देशों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखते हैं। यह स्थिति 'नियम-आधारित विश्व व्यवस्था' का थोपना है, जो प्रायः विकसित देशों के हितों को ही आगे बढ़ाती है।

सांस्कृतिक तंत्र

सांस्कृतिक स्तर पर, बहुराष्ट्रीय निगम विज्ञापन एवं मीडिया के माध्यम से उपभोक्तावाद का प्रसार करते हैं तथा अमेरिकन ड्रीम एवं पाश्चात्य जीवनशैली को ब्रांडिंग के रूप में प्रचारित करते हैं। ये निगम सांस्कृतिक मूल्यों, सामाजिक रूप से निर्मित धारणाओं, लिंग और जाति की समझ, तथा विश्व भर के लोगों के दैनिक जीवन को प्रभावित करते हैं। जॉर्ज रिट्ज़र के मैकडोनाल्डीकरण सिद्धांत के अनुसार, फास्ट-फूड उद्योग के सिद्धांत दक्षता, गणनीयता, पूर्वानुमेयता एवं नियंत्रण सम्पूर्ण समाज (शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, पर्यटन, मनोरंजन एवं प्रशासन) में फैल गए हैं। यह सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का ही एक रूप है, जो स्थानीय परंपराओं, भाषाओं, खाद्य संस्कृति एवं पहचान को कमज़ोर करता है। रुडयार्ड किपलिंग की श्वेत मानव का बोझ की अवधारणा पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता को स्थापित करती है, जिसे MNCs अपने विज्ञापन एवं ब्रांडिंग अभियानों के माध्यम से पुनर्जीवित करते हैं। कोका-कोला को कोका-कोलोनाइजेशन का प्रतीक माना गया है, जो अमेरिकी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार, सांस्कृतिक तंत्र के माध्यम से MNCs न केवल आर्थिक एवं राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करते हैं, बल्कि विकासशील देशों के नागरिकों की मानसिकता, आत्म-मूल्य एवं सांस्कृतिक पहचान को भी प्रभावित करते हैं, जो नवउपनिवेशवाद का सबसे सूक्ष्म एवं क्रूर रूप है।

12.7 डिजिटल उपनिवेशवाद - नियंत्रण का नया स्वरूप

डिजिटल उपनिवेशवाद नवउपनिवेशवाद का सबसे नवीनतम एवं सूक्ष्म रूप है, जिसे निक काउल्ड्री (Nick Couldry) एवं उलीसेस मेजियास (Ulises Mejias) ने 'डेटा उपनिवेशवाद' (Data Colonialism) की संज्ञा दी है "मानव जीवन का लाभ के लिए डिजिटल कच्चे माल के रूप में निष्कर्षण। यह वह स्थिति है जिसमें प्रौद्योगिकी दिग्गज कंपनियाँ (Big Tech) विकासशील देशों के डेटा, डिजिटल बुनियादी ढाँचे एवं प्रौद्योगिकी पारिस्थितिकी तंत्र पर नियंत्रण स्थापित कर लेती हैं, जिससे राष्ट्रीय स्वायत्तता सीमित हो जाती है। विद्वानों के अनुसार, डिजिटल उपनिवेशवाद को "एक बाहरी शक्ति के रूप में समझा जाता है जो तकनीकी निर्भरता, नियामक प्रभुत्व एवं डेटा निष्कर्षण के माध्यम से राष्ट्रीय स्वायत्तता को सीमित करती है। इसके प्रमुख तंत्रों में डेटा निष्कर्षण,प्रौद्योगिकी निर्भरता, बुनियादी ढाँचे पर नियंत्रण, एल्गोरिदमिक प्रभुत्व, तथा 'सौजन्य' का प्रचार जहाँ Facebook के Free Basics जैसे कार्यक्रमों को परोपकार के रूप में प्रस्तुत कर बाज़ार विस्तार एवं डेटा अधिग्रहण किया जाता है शामिल हैं।

इसके प्रमुख उदाहरणों में अफ्रीका में चीन का डिजिटल प्रभाव जहाँ Huawei एवं ZTE 5G नेटवर्क एवं डिजिटल बुनियादी ढाँचा स्थापित कर रही हैं। डिजिटल उपनिवेशवाद से उत्पन्न चुनौतियों में उत्तर-दक्षिण असमानता - अधिकांश प्रौद्योगिकी दिग्गज उत्तर में स्थित हैं, जिससे डिजिटलीकरण ने असमानताओं को और गहरा किया है; राष्ट्रीय सुरक्षा - अपर्याप्त स्थानीय बुनियादी ढाँचा महत्वपूर्ण क्षेत्रों को विदेशी हेरफेर के प्रति संवेदनशील बनाता है; गोपनीयता एवं डिजिटल अधिकार - विदेशी डिजिटल प्लेटफार्मों पर निर्भरता गोपनीयता उल्लंघन एवं राज्य निगरानी का जोखिम पैदा करती है; स्थानीय व्यवसायों के लिए खतरा - वैश्विक प्लेटफार्मों का प्रभुत्व स्थानीय उद्यमों के अस्तित्व को खतरे में डालता है; विनियमन में कठिनाई - साइबरस्पेस की सीमापार प्रकृति के कारण मौजूदा कानूनी उपकरण अपर्याप्त हैं; तथा नेटवर्क प्रभाव - एक बार प्लेटफार्मों का प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर स्थानीय प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती हैशामिल हैं।
डिजिटल संप्रभुता हेतु सुझावों में डेटा स्थानीयकरण, स्वदेशी प्रौद्योगिकी विकास, क्षेत्रीय सहयोग बड़ी प्रौद्योगिकी कंपनियों के लिए सख्त विनियमन एवं कराधान। इस प्रकार डिजिटल उपनिवेशवाद नवउपनिवेशवाद का वह नवीनतम स्वरूप है जो तकनीकी निर्भरता, डेटा निष्कर्षण एवं नियामक प्रभुत्व के माध्यम से विकासशील देशों की संप्रभुता को चुनौती देता है, तथा इसके समाधान हेतु स्थानीय, क्षेत्रीय एवं वैश्विक स्तर पर ठोस रणनीतियों की आवश्यकता।

12.8 बहु-राष्ट्रीय निगमों का विकासशील देशों पर प्रभाव

सकारात्मक प्रभाव

बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के माध्यम से ये निगम पूँजी, प्रौद्योगिकी एवं प्रबंधन विशेषज्ञता लाते हैं, जिससे रोज़गार सृजन होता है, प्रौद्योगिकी हस्तांतरण संभव होता है, तथा बुनियादी ढाँचे का विकास होता है। MNCs उत्पादन संयंत्र एवं सेवा केन्द्र स्थापित करके सीधे हजारों लोगों को रोज़गार देते हैं तथा आपूर्ति श्रृंखलाओं के माध्यम से अतिरिक्त रोज़गार के अवसर उत्पन्न करते हैं। FDI द्वारा प्रौद्योगिकी हस्तांतरण से घरेलू उद्योगों की उत्पादकता एवं प्रतिस्पर्धात्मकता बढ़ती है, तथा अनेक रेलवे लाइनों, सड़कों एवं अन्य बुनियादी ढाँचा परियोजनाओं का निर्माण MNCs की स्थापना का परिणाम रहा है।

नकारात्मक प्रभाव

यद्यपि MNCs के सकारात्मक प्रभाव निर्विवाद हैं, तथापि विकासशील देशों के पक्ष में यह प्रायः घाटे का व्यापार सिद्ध होता है। स्थानीय उद्योगों का पतन MNCs का एक गम्भीर दुष्प्रभाव है अपनी विशाल पूँजी, उन्नत प्रौद्योगिकी एवं वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं के कारण ये स्थानीय छोटे उद्योगों को प्रतिस्पर्धा में पीछे धकेल देते हैं। पर्यावरणीय क्षति भी अत्यन्त गम्भीर है संसाधन निष्कर्षण, औद्योगिक उत्पादन एवं अपशिष्ट निपटान से उत्पन्न हानियाँ गरीब क्षेत्रों में आउटसोर्स कर दी जाती हैं, जिससे स्थानीय समुदायों एवं पारिस्थितिकी तंत्रों पर असमान बोझ पड़ता है। आय

असमानता में वृद्धि भी एक प्रमुख दुष्प्रभाव है। निगम उच्च-कुशल एवं उच्च-वेतन वाले पदों के लिए विदेशी श्रमिकों को लाते हैं, जबकि स्थानीय श्रमिक निम्न-वेतन वाली नौकरियों तक सीमित रह जाते हैं। कर प्रोत्साहन, कम श्रम लागत एवं प्राकृतिक संसाधनों तक आसान पहुँच के कारण MNCs विकासशील देशों की ओर आकर्षित होते हैं, किन्तु स्थानीय विकास में बहुत कम योगदान देते हैं।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में, नाइजीरिया में शेल ने ओगोनीलैंड में तेल रिसाव एवं विषैले कचरे से जल-भूमि दूषित कर कैंसर महामारी फैलाई; इक्वाडोर में शेवरॉन ने अमेज़न में 16 अरब गैलन विषैला पानी बहाकर पारिस्थितिकी नष्ट की; ज़ाम्बिया में वेदांता ने 350 से अधिक खनन श्रमिकों को गुप्त रूप से निकालकर सुरक्षा मानकों का उल्लंघन किया, जिसका मुकदमा यूके सुप्रीम कोर्ट तक जाना पड़ा। भारतीय परिप्रेक्ष्य में, केरल में कोका-कोला के प्लाचीमाडा संयंत्र ने अत्यधिक भूजल दोहन कर कृषि को चरमरा दिया, जिसके चलते स्थानीय विरोध ने 2005 में संयंत्र को बंद करवाने पर मजबूर कर दिया। पंजाब में पेप्सिको ने पेटेंटेड आलू की किस्मों की खेती को लेकर किसानों पर मुकदमा दायर कर बीज स्वतंत्रता एवं किसान अधिकारों पर गंभीर प्रश्न उठाए। वहीं, KFC एवं मैकडोनाल्ड्स जैसी फास्ट-फूड श्रृंखलाओं ने पाश्चात्य उपभोक्तावाद को बढ़ावा देकर भारतीय खाद्य परंपराओं को कमजोर किया, जिसे जॉर्ज रिट्जर का मैकडोनाल्डीकरण सिद्धांत रेखांकित करता है।

हालाँकि यह कहा जाता है कि 1980 के दशक के बाद नवउपनिवेशवाद की अवधारणा की प्रासंगिकता में कमी आई है , शीत युद्ध की समाप्ति (1989), BRICS देशों का उदय, तथा आलोचकों का तर्क कि यह अवधारणा अत्यधिक सरलीकृत है एवं आंतरिक विकास की संभावनाओं (जापान, दक्षिण कोरिया) की उपेक्षा करती है तथापि, कुछ विद्वानों का तर्क है कि BRICS के उदय ने नवउपनिवेशवाद को संशोधित किया है किन्तु समाप्त नहीं किया है। डिजिटल उपनिवेशवाद का उदय इस बात का प्रमाण है कि नवउपनिवेशवाद ने नए स्वरूप धारण कर लिए हैं पुराना साम्राज्यवादी ढाँचा अब डिजिटल, हरित एवं वित्तीय नवउपनिवेशवाद में तब्दील हो चुका है। क्वामे नक्रूमा के अनुसार, नवउपनिवेशवाद वह स्थिति है जिसमें कोई राज्य "सैद्धांतिक रूप से स्वतंत्र है और उसके पास अंतर्राष्ट्रीय संप्रभुता के सभी बाहरी आभूषण हैं" यह परिभाषा आज के डिजिटल युग में भी उतनी ही सटीक है, जहाँ विकासशील देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी डिजिटल रूप से निर्भर हैं।

12.9 सारांश

अंततः, नवउपनिवेशवाद ने अपने स्वरूप बदले हैं पुराना साम्राज्यवादी ढाँचा अब डिजिटल, हरित एवं वित्तीय नवउपनिवेशवाद में तब्दील हो चुका है। 21वीं सदी में भी यह व्यवस्था बहुराष्ट्रीय निगमों, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, सांस्कृतिक प्रभुत्व और नए डिजिटल माध्यमों के माध्यम से अपनी स्थायी उपस्थिति दर्ज करा रही है। विकासशील देशों के लिए आवश्यक है कि

वे आत्मनिर्भरता (स्थानीय उद्योगों का संरक्षण, स्वदेशी तकनीकी क्षमता और खाद्य सुरक्षा), IMF-विश्व बैंक के सशर्त ऋणों से बचते हुए NDB-AIIB जैसी वैकल्पिक संस्थाओं का लाभ उठाएँ, BRICS-AU जैसे मंचों के माध्यम से **साउथ-साउथ** सहयोग को सशक्त करें, तथा नवउपनिवेशवाद-विरोधी राजनीतिक चेतना जिसमें अपने उपनिवेशवाद-विरोधी इतिहास, सांस्कृतिक पहचान और डिजिटल उपनिवेशवाद जैसे नए खतरों के प्रति जागरूकता को पुनर्जीवित करें। जब तक विकासशील देश इन रणनीतियों को अपनी नीति का केन्द्र नहीं बनाते, यह चुनौती वैश्विक दक्षिण को एक सतत असमानता के दुष्चक्र में धकेलती रहेगी, और नवउपनिवेशवाद बदलते वैश्विक शक्ति संतुलन के बावजूद अपनी स्थायी प्रासंगिकता बनाए रखेगा।

12.10 अभ्यास प्रश्न

1. 'नव उपनिवेशवाद: साम्राज्यवाद का अंतिम चरण' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

A) इमैनुएल वाल्लस्टीन B) फ्रांज फैनन C) एडवर्ड सेड D) क्वामे नक्रूमा

2. 'केन्द्र-परिधि मॉडल' (Centre-Periphery Model) किसने प्रतिपादित किया?

A) समीर अमीन B) राउल प्रेबिस्क C) एंड्रे गुंडर फ्रैंक D) फर्नांडो कार्डोसो

3. 'अल्पविकास का विकास' की अवधारणा किस विद्वान से संबंधित है?

A) समीर अमीन B) इमैनुएल वाल्लस्टीन C) एंड्रे गुंडर फ्रैंक D) क्वामे नक्रूमा

4. 'मैकडोनाल्डीकरण' की अवधारणा किसने दी?

A) बेन्जामिन बार्बर B) नॉम चॉमस्की C) एडवर्ड सेड D) जॉर्ज रिट्ज़र

5. 'प्राच्यवाद' (Orientalism) पुस्तक के लेखक कौन हैं?

A) होमी के. भाभा B) एडवर्ड सेड C) फ्रांज फैनन D) गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक

6. 'क्या उप-वैकल्पिक बोल सकता है?' (Can the Subaltern Speak?) शीर्षक लेख किसकी रचना है?

A) गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक B) एडवर्ड सेड C) होमी के. भाभा D) नॉम चॉमस्की

7. भारत के केरल राज्य के प्लाचीमाडा गाँव में स्थित संयंत्र किस बहुराष्ट्रीय निगम (MNC) से संबंधित था, जिसे स्थानीय विरोध के बाद 2005 में बंद करना पड़ा?

A) पेप्सिको B) केएफसी (KFC) C) कोका-कोला D) मैकडोनाल्ड्स

उत्तर कुंजी

1 - D) क्वामे नक्रूमा, 2 - B) राउल प्रेबिस्क, 3 - C) एंड्रे गुंडर फ्रैंक, 4 - D) जॉर्ज रिट्ज़र, 5 - B) एडवर्ड सेड, 6 - A) गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, 7 - C) कोका-कोला

12.11 तकनीकी शब्दावली

1. **ब्रिटन वुड्स संस्थाएँ (Bretton Woods Institutions) -** 1944 में स्थापित अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और विश्व बैंक, जो वैश्विक वित्तीय व्यवस्था को नियंत्रित करते हैं एवं सशर्त ऋणों के माध्यम से विकासशील देशों की नीतियों को प्रभावित करते हैं।
2. **संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (Structural Adjustment Programmes - SAPs) -** IMF और विश्व बैंक द्वारा विकासशील देशों को दिए जाने वाले ऋणों की शर्तें, जिनमें मितव्ययिता, निजीकरण एवं व्यापार उदारीकरण शामिल होते हैं।
3. **वैश्विक उत्तर (Global North) -** विकसित, औद्योगिक देश जो वैश्विक अर्थव्यवस्था, वित्तीय संस्थानों एवं मीडिया पर नियंत्रण रखते हैं। इसमें मुख्यतः यूरोप, उत्तरी अमेरिका, जापान एवं ऑस्ट्रेलिया शामिल हैं।
4. **सामूहिक साम्राज्यवाद (Collective Imperialism)** - समीर अमीन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा, जिसमें अमेरिका, जापान और पश्चिमी यूरोप (Triad) सामूहिक रूप से विकासशील देशों का शोषण करते हुए विश्व व्यवस्था पर वर्चस्व बनाए रखते हैं।
5. **क्षतिपूर्ति का दशक(Decade of Reparations) -** अफ्रीकी संघ द्वारा 2026 से 2036 की अवधि के लिए घोषित, जिसका उद्देश्य दासता और उपनिवेशवाद से हुए आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक नुकसान की भरपाई करना है।
6. **डिजिटल उपनिवेशवाद (Digital Colonialism) -** AI, बिग डेटा और क्लाउड कंप्यूटिंग के माध्यम से प्रौद्योगिकी दिग्गज कंपनियों द्वारा विकासशील देशों के डेटा और तकनीकी वातावरण पर नियंत्रण।
7. **उत्तर-उपनिवेशवाद (Post-Colonialism) -** उपनिवेशवाद के बाद की सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों का अध्ययन तथा उपनिवेशवाद की विरासतों का विश्लेषण।
8. **साउथ-साउथ सहयोग (South-South Cooperation) -** विकासशील देशों के बीच आपसी व्यापार, निवेश, प्रौद्योगिकी हस्तांतरण एवं राजनीतिक सहयोग, जो उत्तर-दक्षिण निर्भरता को कम करने में सहायक है।
9. **मुनाफे का पुनःप्रेषण (Repatriation of Profits) -** वह प्रक्रिया जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम अपने विदेशी परिचालनों से अर्जित लाभ को अपने गृह देश में स्थानांतरित करते हैं।
10. **विशेष आर्थिक क्षेत्र (Special Economic Zones - SEZs) -** देश में निर्मित वे विशेष भौगोलिक क्षेत्र जहाँ व्यापार एवं व्यावसायिक कानून राष्ट्र के अन्य भागों से भिन्न होते हैं, जिनमें कर छूट, सरलीकृत नियम एवं शिथिल श्रम कानून शामिल हैं।

11. **निवेशक-राज्य विवाद निपटान (Investor-State Dispute Settlement - ISDS) -** वह अंतर्राष्ट्रीय कानूनी तंत्र जो विदेशी निवेशकों को मेज़बान राज्यों के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थता न्यायाधिकरणों में मुकदमा चलाने की अनुमति देता है।

12.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नक्रूमा, क्वामे. (1965). नव उपनिवेशवाद: साम्राज्यवाद का अंतिम चरण. न्यूयॉर्क: इंटरनेशनल पब्लिशर्स (छठा संस्करण, 1976).
2. रॉबिन्स, निक. (2006). द कॉरपोरेशन दैट चेंज्ड द वर्ल्ड: हाउ द ईस्ट इंडिया कंपनी शेप्ड द मॉडर्न मल्टीनेशनल. लंदन: प्लूटो प्रेस.
3. फैनन, फ्रांत्ज़. (1961). द रिच्ड ऑफ द अर्थ. लंदन: पेंगुइन क्लासिक्स (पुनर्मुद्रण, 2001).
4. लेनिन, व्लादिमीर. (1917). साम्राज्यवाद: पूंजीवाद का उच्चतम चरण. लंदन: पेंगुइन क्लासिक्स (पुनर्मुद्रण, 2010).
5. https://product.sustainability-directory.com/area/neocolonial-extraction-patterns/resource/3/
6. https://product.sustainability-directory.com/term/neo-colonialism/#academic
7. https://www.britannica.com/topic/neocolonialism
8. https://www.iadb.org/en/blog/research-development/multinationals-and-structural-transformations-economies
9. Benyera, E. (2025). SAMIR AMIN'S LAST LETTER: A CALL FOR UNITY AND IDEOLOGICAL RENEWAL IN THE GLOBAL SOUTH. *Eurasian Journal of Social Sciences*, *13*(1), 49-62.
10. Arigala, A. (2024). Multinational companies:"The descendants of chartered companies" aka "torchbearers of colonialism". *Global Campus Human Rights*, 259.
11. Couldry, N. & Mejias, U. A. (2019). The Costs of Connection: How Data Is Colonizing Human Life and Appropriating It for Capitalism. Stanford University Press.

12. https://www.policycenter.ma/publications/digital-sovereignty-and-data-colonialism-shaping-just-digital-order-global-south

12.13 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Kwame Nkrumah - *Neo-Colonialism: The Last Stage of Imperialism* (1965)
2. Frantz Fanon - *The Wretched of the Earth* (1961)
3. Edward Said - *Orientalism* (1978)
4. Immanuel Wallerstein - *The Modern World-System* (1974)
5. Andre Gunder Frank - *Capitalism and Underdevelopment in Latin America* (1967)
6. Samir Amin - *Accumulation on a World Scale* (1970)
7. Homi K. Bhabha - *The Location of Culture* (1994)
8. Nick Robbins - *The Corporation That Changed the World* (2006)

12.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. नव उपनिवेशवाद और पुराने उपनिवेशवाद के बीच अंतर को अपने शब्दों में स्पष्ट करें।
2. समीर अमीन द्वारा प्रतिपादित सामूहिक साम्राज्यवाद की अवधारणा को समझाइए।
3. निर्भरता सिद्धांत की अवधारणाओं को वर्तमान भारतीय संदर्भ में लागू करते हुए बताएँ कि क्या भारत निर्भरता की स्थिति में है?
4. जॉर्ज रिट्जर के मैकडोनाल्डीकरण सिद्धांत को भारतीय शिक्षा प्रणाली पर लागू करते हुए विश्लेषण करें कि क्या भारतीय शिक्षा का मैकडोनाल्डीकरण हो रहा है?
5. एडवर्ड सेड के प्राच्यवाद सिद्धांत को समकालीन मीडिया और भारतीय फिल्मों पर लागू करते हुए विश्लेषण करें कि क्या आज भी प्राच्यवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है?
6. केन्द्र-परिधि मॉडल को किसने प्रतिपादित किया? विश्व अर्थव्यवस्था को केन्द्र और परिधि में विभाजित करने का क्या आधार है?
7. बहुराष्ट्रीय निगमों के विकासशील देशों पर सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों का तुलनात्मक विश्लेषण करें।
8. क्या बहुराष्ट्रीय निगम नव उपनिवेशवाद के सबसे सशक्त माध्यम हैं? इस कथन के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए अपने मूल्यांकन को सिद्ध करें।

इकाई 13 : अंतर्राष्ट्रीय विधि – अर्थ, प्रकृति और भूमिका, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि का संबंध

इकाई संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 विधि क्या है?

13.4 कानून के प्रकार

13.5 अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं राष्ट्रीय कानून में भेद

13.6 अंतर्राष्ट्रीय कानून ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

13.7 अंतर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में अंतर्राष्ट्रीय विधि

13.7.1 अंतर्राष्ट्रीय संस्था का सिद्धान्त

13.8 अंतर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत

13.8.1 संधियाँ एवं लिखित अभिलेख

13.8.2 अंतर्राष्ट्रीय प्रथाएँ

13.8.3 कानून के सामान्य सिद्धान्त एवं न्यायिक निर्णय तथा विशेषज्ञों की शिक्षाएँ

13.9 अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के कारण

13.10 अंतर्राष्ट्रीय कानून के लाभ

13.11 सारांश

13.12 अभ्यास प्रश्न

13.13 शब्दावली

13.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.15 निबंधात्मक प्रश्न

13.16 संदर्भ ग्रंथ

13.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों, संधियों, समझौतों का समूह होता है जो राष्ट्रों व अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच सम्बन्धों को नियमित एवं नियंत्रित करते हैं। उनका उद्देश्य राष्ट्रों के बीच शांति एवं सहयोग को बढ़ावा देना होता है एवं राष्ट्रों के बीच विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाना होता है।

इस इकाई में हम सर्वप्रथम कानून की अवधारणा को समझेंगे, उसके उपरांत राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर को समझेंगे। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय कानून के उद्भव एवं विकास तथा उसके महत्व का विश्लेषण करेंगे।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात पाठक-

- कानून की अवधारण को समझ पाएंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ और उसके ऐतिहासिक परिपेक्ष्य को समझेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में अंतर्राष्ट्रीय विधि को जानेंगे
- अंतर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों से अवगत होंगे
- अंतर्राष्ट्रीय कानून के पालन के कारणों को जानेंगे

13.3 विधि क्या है?

प्राय: सभी सभी समसामयिक समाजों में कानून की उपलब्धता रहती है और कानून का शासन सभी सफल राज्यों का मूल आधार माना जाता है।
विधि या कानून के **मूल तत्व** क्या हैं?

अगर हम सामान्य दृष्टि से देखें, विधि किसी समाज के वह निर्देशात्मक या निषेधात्मक नियम हैं जो उस समाज के लोगों के जीवन को व्यवस्थित करते हैं और जिनके उल्लंघन पर दंड की व्यवस्था होती है।

समाज में ऐसे नियमों के अस्तित्व के लिए कुछ संस्थाओं का होना जरूरी होता है।

1- एक **विधायिका**। जिसे व्यवस्थापिका भी कहा जाता है, जिसके पास उस समाज के लिए ऐसे नियमों के निर्माण का एक-छत्र एवं निर्विवाद अधिकार होता है।

2- ऐसे नियमों को लागू करने की व्यवस्था - जिसे **कार्यपालिका** का नाम दिया जाता है

3- इन नियमों के उल्लंघन पर दंड की व्यवस्था कराने के लिए एक प्राधिकृत सत्ता, जिसे **न्यायपालिका** के नाम से जाना जाता है। अर्थात राज्य के भीतर ऐसी व्यवस्था मौजूद होती है जो कानून के उल्लंघन पर दंड की व्यवस्था करती है।

इसके अतिरिक्त नागरिकों के पास यह विकल्प नहीं होता कि वह किस कानून का पालन करें और किसका नहीं। यदि कोई कानून अनुचित व अन्याय पूर्ण माना जाता है तब भी उसका पालन अनिवार्य होता है। इस तरह से कानून - प्रवर्तनीय आदेश होते हैं।
जॉन ऑस्टिन के अनुसार 'कानून संप्रभु का आदेश होता है' । अरस्तु कानून को 'व्यक्ति की प्रकृति में निहित मानते हैं' और उनके अनुसार 'विवेक के आधार पर इसे खोजा जा सकता है'। वहीं, ए. वी. डायसी 'कानून को जनमत की अभिव्यक्ति' मानते हैं।

13.4 कानून के प्रकार

1. आपराधिक कानून (Criminal Law)

2. दीवानी कानून (Civil Law)

3. संवैधानिक कानून (Constitutional Law)

4. अंतर्राष्ट्रीय कानून (International law)

5. प्रशासनिक कानून (Administrative Law)

6. नैगमिक या व्यावसायिक कानून (Corporate and Business Law)

अतः अंतर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों, संधिया और समझौतों का एक समूह है जो संप्रभु देशो, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और व्यक्तियों के आपसी संबंधों आचरण एवं अधिकारों को नियंत्रित करता है। इसका मुख्य उद्देश्य वैश्विक शांति सुरक्षा और सहयोग को बढ़ावा देना है

13.5 अंतरराष्ट्रीय कानून एवं राष्ट्रीय कानून में भेद

राष्ट्रीय कानून संप्रभु के आदेश होते हैं एवं सभी पर बाध्यकारी होते हैं, लेकिन जब हम अंतरराष्ट्रीय स्तर पर देखते हैं तो राज्यों के ऊपर कोई भी सर्वाधिकारी सत्ता का अस्तित्व नहीं होता है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई भी ऐसा प्राधिकारी नहीं है जो कि निर्विवाद रूप से सभी राज्यो के लिए नियमों का निर्माण कर सके और जिसे बिना किसी विरोध के सभी राष्ट्र मानें और न कोई ऐसा प्राधिकारी है, जो कि ऐसे नियमों के परिपालन के लिए स्वायत्त राज्य को बाधित कर सके। ऐसे में

प्रश्न यह भी उठता है की क्या इसे अंतरराष्ट्रीय कानून की संज्ञा देना उचित होगा? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि अंतरराष्ट्रीय कानून, राज्यों पर दायित्व होते हैं, जो स्वेच्छा से उनके द्वारा स्वीकार किए जाते हैं और यह पारस्परिक सहमति पर आधारित होते हैं इनको लागू करवाने के लिए अंतरराष्ट्रीय न्यायालय होता है (यद्यपि यह न्यायालय भी बाध्यकारी प्राधिकार नहीं रखता)। लेकिन एक बात स्वीकार की जा सकती है कि सामान्यतः राज्य इन कानून का पालन वैश्विक व्यवस्था, कूटनीतिक पारस्परिकता एवं व्यापार के निर्बाध संचालन के लिए करते हैं।

13.6 अंतरराष्ट्रीय कानून ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

यद्यपि अंतरराष्ट्रीय कानून शब्द का प्रयोग 19वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ, लेकिन एक विचार के रूप में अंतरराष्ट्रीय कानून काफी पुराना है यहां तक की इसका प्रयोग प्राचीन रोम में भी देखने को मिलता है। फिर भी एक संस्था के रूप में अंतरराष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति 16वीं व 17वीं शताब्दी के यूरोप कई संधियों के द्वारा हुई है, जैसे की - 1555 की 'द पीस ऑफ ऑसबर्ग', 1648 'द पीस ऑफ वैस्टफालिया', 1713 की 'यूट्रैक्ट की संधि'। यद्यपि अंतरराष्ट्रीय कानून के विचारों एवं सिद्धांतों का जन्म इस पृष्ठभूमि में हुआ फिर भी इस संबंध में **ह्यूगो ग्रोशियस** के योगदान का भी अत्यंत महत्व है। उन्होंने राष्ट्रों के कानून को धार्मिक आदेश और पॉप के अधिकार पर आधारित व्यवस्था से बदलकर एक धर्मनिरपेक्ष ढांचे में परिवर्तित किया, जो मानवीय तर्क, सार्वभौमिक नैतिकता और स्वतंत्र राज्यों की संप्रभु समानता पर आधारित है। 1625 में प्रकाशित डी जूरे बेली एक पेसिस (De iure belli ac pacis) [युद्ध और शांति के कानून] में ग्रोशियस ने न्यायपूर्ण युद्ध का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनका कहना था, युद्ध आत्मरक्षा के लिए एक अंतिम उपाय के रूप में किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी अगली कृति में महासागरों की स्वतन्त्रता की बात करते हुए लिखा की खुले समुद्र पर कोई भी राष्ट्र अपनी संप्रभुता का दावा नहीं कर सकता। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं की संप्रभु राज्यों को अपने द्वारा की गयी संधियों और समझौतों के सम्मान करना चाहिए जिससे आगे चल कर आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों का मूलभूत आधार तय हुआ। उनका मानना था, अंतर्राष्ट्रीय कानून दैवीय आदेशों के बजाय सार्वभौम मानवीय तर्क से उत्पन्न होता है। इस तरह ग्रोशियस ने वैश्विक समुदाय को नींव रखी।

जैसे जैसे कानून की संकल्पना विकसित हुई इसकी प्रकृति को लेकर बिलकुल विपरीत विचार उदित हुए। कुछ विचारक जो प्रकृतिक कानून के सिद्धान्त का समर्थन करते थे उनका मानना था विधि व्यवस्था का आधार नैतिकता होता है। वहीं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कई विचारक विशेषकर यथार्थवादी, अंतर्राष्ट्रीय कानून को संशय की दृष्टि से देखते हैं। मोर्गेनथो, अंतर्राष्ट्रीय कानून को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उनका विचार है की अंतर्राष्ट्रीय कानून अपने आप में कमजोर है। उनका इस संबंध में विचार 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है' इस पर आधारित है। क्योंकि राज्य अपने अस्तित्व एवं राष्ट्रीय हितों को को ही प्राथमिकता देते हैं। वह अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन

केवल उस स्थिति में करते हैं जब वह उनके अपने हितों के अनुकूल हों। कोई भी सर्वोच्च प्राधिकारी न होने की स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय कानून वैसा ही है जैसे की किसी राज्य के भीतर निजी व्यक्ति (private individual) कानून का निर्माण करे। किसी केन्द्रीय प्राधिकारी के बिना (जैसे की वैश्विक पुलिस बल) अंतर्राष्ट्रीय कानून पूरी तराह से स्वैच्छिक अनुपालन पर निर्भर करता है। मोर्गेनथो आगे कहते हैं, राज्य अपनी विदेश नीति के उद्देश्यों को सही साबित करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय क़ानूनों की तोड़- मरोड़ कर व्याख्या करते हैं। केनेथ वाल्ज़ के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त अराजकता (anarchy) अर्थात -कोई भी सर्वोच्च प्राधिकारी न होने की स्थिति- में अंतर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व संभव नहीं है। मोर्गेनथो की तरह उनका भी मानना है की अपने राष्ट्रीय हितों के साथ कोई भी समझौता न करते हुए राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन करते हैं। कुल मिलकर यथार्थवादी मानते हैं की अंतर्राष्ट्रीय कानून विश्व में शक्ति वितरण का एक प्रतिफल (byproduct)

यह सत्य है की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति एवं संघर्ष की प्रधानता है पर अंतर्राष्ट्रीय जगत में न्यूनतम स्तर पर ही सही राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों में एक व्यवस्था की स्थापना करना अति आवश्यक है। राष्ट्र हमेशा एक दूसरे के साथ केवल युद्ध और संघर्ष के माध्यम से ही अंतःक्रिया नहीं कर सकते अतः उनके बीच के सम्बन्धों को सहज एवं सुगम बनाने के लिए व्यवस्था का निर्माण अति-आवश्यक है अंतर्राष्ट्रीय विधि को भी इस दृष्टिकोण से देखा जा सकता है।

13.7 अंतर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में अंतर्राष्ट्रीय विधि

क्रिश्चियन रोईस-स्मिट के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय विधि को एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में देखा जा सकता है जो की राज्यों तथा अन्य अभिकर्ताओं द्वारा बनाए गए मानदंडों, नियमों और प्रथाओं का एक समुच्चय है। अंतर्राष्ट्रीय विधि, वैश्विक स्तर पर व्यवस्था और सह-अस्तित्व से लेकर न्याय एवं मानवाधिकारों जैसे विविध समूहिक लक्ष्यों पर सहयोग को सरल एवं आसान बनाने का कार्य करती है।

13.7.1 अंतर्राष्ट्रीय संस्था का सिद्धान्त

इस परिभाषा को और विस्तार से समझने के लिए हमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में प्रयुक्त संस्था (International Institutions) के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। आम बोलचाल की भाषा में *अंतर्राष्ट्रीय संस्था* (International Institutions) और *अंतर्राष्ट्रीय संगठन* (International Organisations)शब्दों का प्रायः एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग कर लिया जाता है। किंतु अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन के क्षेत्र में इन दोनों शब्दों के विशिष्ट और अलग-अलग अर्थ होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय संस्था से तात्पर्य ऐसे मानदंडों, नियमों और प्रथाओं के समुच्चय से है, जो की राष्ट्रों की व्यवहारगत भूमिकाओं को निर्धारित करते हैं, गतिविधियों को सीमित करते हैं और अपेक्षाओं को

आकार देते हैं। (कियोहान, 1989) अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ राज्यों के व्यवहार को नियमित, निर्देशित और सीमित करती हैं। इस अर्थ में शक्ति संतुलन का सिद्धान्त, अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति, संप्रभुता का सिद्धान्त ये सभी अंतर्राष्ट्रीय संस्था की श्रेणी में आते हैं। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय विधि भी एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है।

वहीं अंतर्राष्ट्रीय संगठन ((International Organisations) भौतिक इकाइयाँ होती हैं, जिनके पास अपना कार्यालय, कर्मचारी (staff) तथा औपचारिक संगठनात्मक संरचना होती है। उदाहरणके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व स्वस्थ संगठन, विश्व बैंक इत्यादि अंतर्राष्ट्रीय संगठन हैं।

हेडली बुल ने एनार्किकल सोसाइटी (1977) में लिखते हैं की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था भले ही अराजक है परंतु राज्य कुछ साझा नियमों, मूल्यों और संस्थाओं—जैसे कूटनीति, अंतर्राष्ट्रीय कानून, शक्ति-संतुलन आदि—का पालन करते हैं, और इसी व्यवस्था को वह अंतर्राष्ट्रीय समाज (international society) का नाम देते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय समाज में तीन स्तर की अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं हैं-

1. मूल संवैधानिक संस्थाएँ – ये अंतर्राष्ट्रीय समाज के प्राथमिक नियम और मानदंड हैं, इनके बिना अंतराष्ट्रीय समाज का अस्तित्व संभव नहीं है। संप्रभुता का सिद्धान्त ऐसी ही मूल संवैधानिक संस्था है जिसके अभाव में हम अंतर्राष्ट्रीय समाज की परिकल्पना नहीं कर सकते।

2. मौलिक संस्थाएँ – मौलिक संस्थाएँ , संवैधानिक संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई नींव पर बनती हैं। ये वे मूलभूत मानदंड और व्यवहारिक प्रथाएँ हैं, अंतर्राष्ट्रीय अराजकता की परिस्थितियों में जिनका उपयोग संप्रभु राज्यों के सह-अस्तित्व और सहयोग को सुगम बनती हैं।

3. विषय-विशेष संस्थाएं या रेजीम (regime) – अंतर्राष्ट्रीय जगत के किसी विषय को विनयमित करने वाली विशेष संस्था।

अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वितीय स्तर अर्थात - मौलिक संस्था की श्रेणी में आती है। इस श्रेणी की अन्य संस्था जैसे की बहुपक्षवाद (multilateralism), कूटनीति (diplomacy) आदि की तरह ही अंतर्राष्ट्रीय विधि, अंतर्राष्ट्रीय जगत में आपसी सहयोग और व्यवस्था के लिए मूलभूत ढाँचा प्रदान करती है।

13.8 अंतर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत

अब सवाल यह उठता है की जब कोई वैश्विक सर्वोच्च सत्ता है ही नहीं तो अंतर्राष्ट्रीय कानून आए कहाँ से इनके मुख्य स्रोत क्या हैं?

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि में इसके स्रोत के निम्न प्रकार बताए गए हैं-

1. अंतर्राष्ट्रीय संविदाएँ एवं वह नियम, चाहे वह सामान्य हों या विशिष्ट, जो प्रतिद्वंदी राष्ट्र स्वीकार करते हैं।

2. ऐसी अंतर्राष्ट्रीय परम्पराएँ जिन्हें राष्ट्रों द्वारा अपने सामान्य व्यवहार में स्वीकार किया जाता है।

3. कानून के सामान्य सिद्धान्त जिन्हें सभ्य राष्ट्र मान्यता देते हैं ।

4. न्यायिक निर्णय तथा विभिन्न राष्ट्रों के विधि विशेषज्ञों की शिक्षाएँ एवं विचार।

13.8.1 संधियाँ एवं लिखित अभिलेख

उक्त में बताए गए स्रोतों में सबसे अधिक विश्वसनीय स्रोत हैं संधियाँ एवं लिखित अभिलेख जिन्हें विभिन्न राष्ट्र स्वीकार करते हैं। संधियाँ द्विपक्षीय हो सकती हैं या बहु-पक्षीय।

द्विपक्षीय संधि दो राष्ट्रों के बीच होती है जैसे की START (Strategic Arms Reduction Treaty) संधियाँ जिनके द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ (बाद में रूस) अपने-अपने परमाणु शास्त्रों को कम करने के लिए सहमत हुए थे। इसके अतिरिक्त साधारणतः यह संधियाँ दो पक्षों के बीच व्यापार समझौते, निवेश संधियाँ, प्रत्यर्पण वं परस्परिक वैधानिक सहायता संधियाँ, रक्षात्मक गठबंधन (defence and security alliances)।

बहुपक्षीय संधियाँ

संधियाँ बहुपक्षीय भी होती हैं, जो दो से अधिक राष्ट्रों के बीच होती हैं जैसे की 1968 की परमाणु अप्रसार संधि (Non Proliferation Treaty, NPT)। कुछ बहुपक्षीय संधियाँ, बहुत विस्तृत एवं दूरगामी होती हैं जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर (UN Charter)।
अंतर्राष्ट्रीय कानून बिना किसी शर्त के एवं स्वतः एक राजनीतिक समुदाय के सभी सदस्यों पर लागू होता है। वहीं संधियाँ केवल पक्षकारों पर लागू होती हैं। इसके अतिरिक्त संधियों का वैधानिक दायित्व पक्षकारों की आपसी सहमति में निहित होता है। एक बार जब संधियों में हस्ताक्षर हो जाते हैं तो उनका पालन अनिवार्य हो जाता है जैसा की पेक्टा सुंट सेर्वंडा (Pacta sunt servanda)। पेक्टा सुंट सेर्वंडा एक प्रसिद्ध लेटिन कानून वाक्यांश है जिसका अर्थ है ' समझौतों का पालन किया जाना चाहिए'। यह सिद्धान्त सभी पक्षों के बीच विश्वास और विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए एकदम आवश्यक है। लेकिन संधि के लिए सहमति भी सशर्त होती है। इस आधार पर की संधि करते समय की स्थितियाँ अब बादल चुकी हैं, अतः संधि के बाहर आया जा सकता है। इसे 'रिबस सिक स्टेंटीबस' (Rebus sic stantibus) का सिद्धान्त कहा जाता है। यह एक लेटिन वाक्यांश है जिसका

अर्थ है 'चीज़ें जैसी हैं, वैसी हैं' (जब तक परिस्थिति ज्यों की त्यों बनी रहे) अर्थात यदि किसी समझौते, अनुबंध या संधि के समय की परिस्थितियों में भारी बदलाव आ जाए तो कोई भी पक्ष पीछे हट सकता है या उसे समाप्त कर सकता है।

13.8.2 अंतर्राष्ट्रीय प्रथाएँ (international customs)

अंतर्राष्ट्रीय कानून का दूसरा बड़ा स्रोत है, अंतर्राष्ट्रीय प्रथाएँ। यह राज्यों के व्यवहारों से जन्म लेती हैं। यह उन अलिखित नियमों, रीति रिवाजों और सिद्धांतों का संग्रह है जो लंबे समय से अपनाए जा रहे हैं और जिन्हें कानूनी दायित्वों के रूप में मान्यता प्राप्त है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधि के अनुछेद 38 (A1)(B) के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय प्रथाओं को कानून के रूप में, स्वीकृत आम प्रथा माना गया है। राज्यों द्वारा ऐसे कार्यों एवं व्यवहारों में निरंतरता होनी चाहिए। इसमें राजनयिक पत्राचार, सरकारी नीतियाँ, प्रशासनिक कार्य और न्यायालयों के निर्णय शामिल हो सकते हैं, ऐसी प्रथा का पालन केवल परंपरा या शिष्टाचार के कारण नहीं बल्कि इस विश्वास के साथ किया जाना चाहिए की वह एक कानूनी कर्तव्य है। अंतर्राष्ट्रीय प्रथाओं के उदाहरण के रूप में राजनयिक उन्मुक्ति (diplomatic immunity), शरणार्थियों को ऐसे देश में वापस न भेजना जहां उन्हें प्रताड़ना का खतरा हो (non-refoulment), समुद्र में तटीय राज्यों के अधिकार (maritime rights of states) इत्यादि।

इसे रूढ़िगत कानून (customary law)भी कहा जाता है। रूढ़िगत कानून की कमी यह है की इसका कोई औपचारिक लिखित समझौता नहीं होता। इन्हें परिभाषित करना कठिन होता है, इस कारण से रूढ़ियों या प्रथाओं को संधियों एवं प्रसंविदाओं में रूपांतरित कर दिया जाता है, जैसा की राजनयिक सम्बन्धों पर वियना कन्वेन्शन (Vienna Convention on Diplomatic Relations, 1961,1968) के द्वारा राज्यों की आपसी कूटनीति को लिखित स्वरूप दिया।

बाद के दो स्रोत संधियों एवं रूढ़ियों की अपेक्षा कम महत्व के होते हैं।

13.8.3 कानून के सामान्य सिद्धान्त एवं न्यायिक निर्णय तथा विशेषज्ञों की शिक्षाएँ

यह तब लागू होती हैं जब और कोई स्पष्ट संधि और रूढ़ि/ परंपरा न हो, इन्हें गैप-फिलर (gap-filler) के रूप में इस्तेमाल करा जाता है।

13.9 अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के कारण

अब प्रश्न यह है की अंतर्राष्ट्रीय कानून बाध्यकारी नहीं होते तब फिर इनका पालन क्यूँ किया जाता है इसके मुख्य कारण हैं

1. राष्ट्रीय हित (national interest)

2. अव्यवस्था का भय (fear of disorder)

3. अकेलेपन का भय (fear of isolation)

4. सज़ा का भय (fear of sanctions)

उक्त में से सबसे मुख्य कारण है अंतर्राष्ट्रीय क़ानूनों का पालन राष्ट्रों के हित में होता है। कई बार इसे उपियोगितावादी अनुपालन (utilitarian compliance) भी कहा जाता है। उपियोगितावादी तर्क है की यदि हम दूसरे देशों के साथ की गयी संधियों और नियमों का पालन करेंगे तो बदले में वह भी हमारे अधिकारों का सम्मान करेंगे। इस प्रकार आपसी लाभ के लिए अंतर्राष्ट्रीय कानून का अनुपालन किया जाता है।

दूसरा कारण है अव्यवस्था का भय। कोई भी राष्ट्र युद्ध या अव्यवस्था नहीं चाहता क्योंकि युद्ध से किसी भी समस्या का समाधान नहीं निकलता और उससे केवल विनाश होता है। युद्ध के बजाय सभी देश कूटनीति का रास्ता अपनाना पसंद करते हैं। युद्ध केवल जान-माल का नुकसान , आर्थिक बर्बादी नहीं करता युद्ध का असर पीढ़ियों तक रहता है।

तीसरा कारण अकेलेपन का भय है। अंतर्राष्ट्रीय कानून का यदि कोई राष्ट्र उल्लंघन करता है तो उसे राजनीतिक अलगाव (isolation) का भय भी रहता है। यह भी एक कारण है अंतर्राष्ट्रीय कानून के पालन के पीछे। राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय समाज में अलग- थलग नहीं पड़ना चाहते। कितना भी सर्वाधिकारी राज्य क्यों न हो वह भी अंतर्राष्ट्रीय समाज से पूर्णतः कट कर नहीं रह सकता।

अंतर्राष्ट्रीय क़ानूनों का पालन राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान दिलवाता है, और दूसरे राष्ट्रों को प्रेरित करता है की वह भी आपस में मिलकर काम करें।

चौथा कारण दंड एवं प्रतिबंधों का भय है। यदि कोई राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करता है तो उसे सैनिक हस्तक्षेप और आर्थिक प्रतिबंधों का दंश भी झेलना पड़ सकता है। इसलिए दंड से बचने और अपनी संप्रभुता की रक्षा करने के लिए राज्यों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय क़ानूनों का पालन किया जाता है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कानून बाध्यकारी नहीं होते और इस तरह के मामलों में अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल द्वारा सज़ा नहीं दी जाती बल्कि राज्य स्वयं अकेले या मिलकर दे सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून राज्यों को प्रतिशोध का अधिकार (Right to retaliation) देता है। इसका मतलब यह है अगर कोई राष्ट्र किसी स्थापित मानदंड का उल्लंघन करता है तो वहाँ प्रतीकार का अधिकार है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का अनुच्छेद 51 ऐसी स्थिति में आत्मरक्षा का अधिकार देता है अगर कोई राष्ट्र उस पर आक्रमण करे तो।

इस तरह राष्ट्र जानते हैं की आगे चल कर इनका पालन करने में ही उनका हित है। उदाहरण के लिए यद्यपि कूटनीतिक अवमुक्ति (diplomatic immunity) का फायदा उठाते हुए कई बार राजनयिक (diplomat) जिस देश में नियुक्ति हुई होती है उसमें अपराधिक कृत्य करने के बाद भी सजा से बच जाते हैं। विश्व के राष्ट्र फिर भी यह उनमुक्तियां उनको देते हैं ताकि उनके अपने डिप्लोमेट विदेशी भूमि पर सुरक्षित वातावरण में कार्यकर सकें।

अधिकांशतः अंतरराष्ट्रीय कानून का पालन इसलिए भीकिया जाता है की वह सही एवं नैतिकता पूर्ण है। यहाँ राज्यो के घरेलू क़ानूनों क उदाहरण लिया जा सकता है समान्यतः लोग चोरी डकैती हत्या इसलिए नहीं करते कि वे दंड से भयभीत होते हैं बल्कि वह ऐसा काम घृणित एवं अनैतिक समझते हैं। उदारवादी, जो मनुष्य को एक विवेकवान और नैतिक प्राणी मानते हैं वे राज्यों के द्वारा अंतरराष्ट्रीय कानून के पालन के पीछे नैतिकता को ही प्रमुख कारण मानते हैं।

13.10 अंतर्राष्ट्रीय कानून के लाभ

अंतर्राष्ट्रीय कानून के कुछ लाभ हैं जो इस प्रकार हैं

1. राज्यों के बीच संघर्ष समाधान (Conflict Resolution)

अंतरराष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के बीच विवादों के समाधान के लिए शांतिपूर्ण मार्ग प्रस्तुत करते हैं जैसे वार्ता, मध्यस्थता एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ताकि बिना शक्ति प्रयोग के विवादों का समाधान हो सके।

2. आर्थिक स्थिरता (Economic Stability)

अंतरराष्ट्रीय कानून अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ,वाणिज्य को विनियमित करता है यह अंतरराष्ट्रीय व्यापार को स्थिरता भी प्रदान करता है।

3. वैश्विक सहयोग (Global Cooperation)

अंतरराष्ट्रीय कानून सीमाओं से परे विभिन्न मामलों में राष्ट्रों को एकजुट करने में मदद करते हैं जैसे पर्यावरण एवं जलवायु संरक्षण, विमानन एवं समुद्री सीमाओं का प्रबंधन और अंतरराष्ट्रीय अपराधओं के विरुद्ध लड़ना।

4. मानवीय संरक्षण (Protecting humanity)

यह मानवता के न्यूनतम मानदंड निर्धारित करते हैं। युद्ध में व्यवहार को नियमित करने के लिए नियम निर्धारित करते हैं। उदाहरण के लिए जिनेवा कन्वेंशंस (Geneva Convention) तथा यह मूलभूत मानवाधिकारों को संहिता बद्ध भी करते हैं जैसे नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर

अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1963 और सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रसंविदाऐ महिलाओं, बच्चों, कैदियों से संबंधित अधिकारों की प्रसंविदाएँ जो की अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार क़ानूनों की आधारशिला हैं।

13.11 सारांश

इस तरह से अंतरराष्ट्रीय क़ानून ऐसे नियमों समझौतो व संधियों का समूह होता है जो बाध्यकारी न होते हुए भी राष्ट्रों के आपसी व्यवहारों को निर्देशित करते हैं अंतरराष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करते हैं। इसके अतिरिक्त पर्यावरण तथा मानवीय अधिकारों की सुरक्षा के लिए भी अनवरत प्रयास करते हैं राष्ट्रों द्वारा अपनी एवं सभी के हित में इनका सामान्यतः पालन किया जाता है

13.12 अभ्यास प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रमुख उद्देश्य क्या है?

(अ) राज्यों के बीच युद्ध को बढ़ावा देना

(ब) राज्यों के बीच शांति, सहयोग एवं संबंधों का नियमन करना

(स) केवल व्यापार को नियंत्रित करना

(द) केवल मानवाधिकारों की रक्षा करना

2. निम्नलिखित में से अंतर्राष्ट्रीय कानून का प्रमुख स्रोत कौन-सा है?

(अ) धार्मिक ग्रंथ

(ब) संधियाँ एवं अंतर्राष्ट्रीय अभिसमय

(स) समाचार पत्र

(द) राजनीतिक दलों के घोषणापत्र

3. 'Pacta Sunt Servanda' सिद्धान्त का अर्थ है—

(अ) युद्ध ही न्याय है।

(ब) समझौतों का पालन किया जाना चाहिए।

(स) प्रत्येक राष्ट्र को युद्ध का अधिकार है।

(द) कानून केवल शक्तिशाली राज्यों पर लागू होता है।

4. निम्नलिखित में से किस विचारक को आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का जनक माना जाता है?

(अ) जॉन ऑस्टिन

(ब) हांस मॉर्गेन्थाऊ

(स) ह्यूगो ग्रोशियस

(द) केनेथ वाल्ट्ज

5. राज्यों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने का सबसे प्रमुख कारण क्या माना जाता है?
(अ) धार्मिक विश्वास
(ब) राष्ट्रीय हित एवं पारस्परिक लाभ
(स) सांस्कृतिक समानता
(द) भाषा की समानता

13.13 शब्दावली

1. अंतर्राष्ट्रीय विधि - राज्यों एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के संबंधों को नियंत्रित करने वाले नियमों का समूह।

2. संप्रभुता - राज्य की सर्वोच्च एवं स्वतंत्र सत्ता।

3. संधि - दो या अधिक राज्यों के बीच विधिक समझौता।

4. रूढ़िगत अंतर्राष्ट्रीय कानून (Customary International Law) - राज्यों की दीर्घकालीन एवं स्वीकृत प्रथाओं से विकसित कानून।

5. पैक्टा सुंट सर्वंडा (Pacta Sunt Servanda) - समझौतों का पालन किया जाना चाहिए।

6. रिबस सिक स्टेंटिबस (Rebus Sic Stantibus) - परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन होने पर संधि समाप्त की जा सकती है।

7. अंतर्राष्ट्रीय संस्था (International Institution) - नियमों, मानदंडों एवं प्रथाओं का ऐसा ढाँचा जो राज्यों के व्यवहार को निर्देशित करता है।

8. राजनयिक उन्मुक्ति (Diplomatic Immunity) - राजनयिकों को प्राप्त विशेष विधिक संरक्षण।

9. उपयोगितावादी अनुपालन (Utilitarian Compliance) - पारस्परिक लाभ एवं राष्ट्रीय हित के कारण कानून का पालन।

13.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ब) राज्यों के बीच शांति, सहयोग एवं संबंधों का नियमन करना।

2. (ब) संधियाँ एवं अंतर्राष्ट्रीय अभिसमय।

3. (ब) समझौतों का पालन किया जाना चाहिए।

4. (स) ह्यूगो ग्रोशियस।

5. (ब) राष्ट्रीय हित एवं पारस्परिक लाभ।

13.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय विधि की अवधारणा स्पष्ट करते हुए उसकी प्रकृति, विशेषताओं एवं महत्त्व का विवेचन कीजिए।

2. अंतर्राष्ट्रीय विधि एवं राष्ट्रीय विधि में अंतर स्पष्ट कीजिए। क्या अंतर्राष्ट्रीय विधि वास्तव में विधि है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

3. अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख स्रोतों का विस्तार से वर्णन कीजिए तथा संधियों एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रथाओं की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अंतर्राष्ट्रीय विधि की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए। यथार्थवादी एवं उदारवादी दृष्टिकोणों की तुलना भी कीजिए।

5. राज्य अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन क्यों करते हैं? विभिन्न कारणों का उदाहरण सहित विश्लेषण कीजिए।

13.16 संदर्भ ग्रंथ

1. Brownlie, Ian. (2008). *Principles of Public International Law* (7th ed.). Oxford: Oxford University Press.

2. Shaw, Malcolm N. (2021). *International Law* (9th ed.). Cambridge: Cambridge University Press.

3. Starke, J. G. (1989). *Introduction to International Law* (10th ed.). London: Butterworths.

4. Agarwal, H. O. (2022). *International Law and Human Rights* (24th ed.). Allahabad: Central Law Publications.

5. Kapoor, S. K. (2021). *International Law*. Allahabad: Central Law Agency.

6. Tandon, M. P., & Tandon, Rajesh. (2020). *Public International Law*. Allahabad: Allahabad Law Agency

7. अग्रवाल, एच. ओ. (2022). *अंतर्राष्ट्रीय विधि एवं मानवाधिकार* (24वाँ संस्करण). इलाहाबाद: सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स।

8. कपूर, एस. के. (2021). *अंतर्राष्ट्रीय विधि*. इलाहाबाद: सेंट्रल लॉ एजेंसी।

9. पंत, पुष्पेश. (2020). *अंतर्राष्ट्रीय संबंध: सिद्धांत और व्यवहार*. नई दिल्ली: मैकग्रा हिल एजुकेशन (इंडिया) प्रा. लि.

10. शर्मा, उर्मिला एवं शर्मा, एस. के. (2022). *अंतर्राष्ट्रीय राजनीति*. जयपुर: आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स।

13.17 सहयोगी पाठ्य सामग्री

1. **Hans J. Morgenthau**, *Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace*.

2. **Kenneth N. Waltz**, *Theory of International Politics*.

3. **Hedley Bull**, *The Anarchical Society: A Study of Order in World Politics*.

4. **Robert O. Keohane**, *International Institutions and State Power*.

5. **Christian Reus-Smit**, *The Politics of International Law*.

6. **Hugo Grotius**, *De Jure Belli ac Pacis (On the Law of War and Peace)*.

7. **Jack L. Goldsmith & Eric A. Posner**, *The Limits of International Law*

इकाई 14: विश्व लोकमत

इकाई संरचना

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 जनमत या लोकमत
14.4 जनमत का महत्व
14.5 विश्व जनमत
14.6 विश्व जनमत और मीडिया व संचार की भूमिका
14.7 वैश्विक मामले एवं साझा चिंताएं
14.8 मानवाधिकार एवं अन्य मुद्दे और विश्व जनमत
14.9 विश्व जनमत पर प्रमुख समाजशास्त्रीय विचार
14.10 अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर विश्व जनमत का प्रभाव
14.11 विश्व जनमत का मापन
14.12 प्रमुख वैश्विक पोलिंग प्रोजेक्ट्स
14.13 सारांश
14.14 अभ्यास प्रश्न
14.15 शब्दावली
14.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.17 निबंधात्मक प्रश्न
14.18 संदर्भ ग्रंथ
14.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.1 प्रस्तावना

किसी विशेष विषय पर समाज के लोगों के विचारों को जनमत के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सरकारों के द्वारा इसका पालन उनके हित में होता है क्योंकि बिना जनता के समर्थन के सरकारों का चलना मुश्किल होता है और जब किसी विशेष विषय पर राष्ट्रीय सीमाओं से परे विश्व के लोग अपना मत अभिव्यक्त करते हैं तो उसे विश्व जनमत कहा जाता है। संचार तकनीक के विस्तार के साथ विश्व जनमत का भी महत्व बढ़ने लगा आज विश्व के एक कोने में बैठा व्यक्ति भी विश्व के दूसरे कोने में घटित घटनाओं से तुरंत वाकिफ़ हो जाता है और तुरंत उस पर अपनी राय/विचार भी बना लेता है । इन सब विचारों का समेकन (एकीकरण) विश्व जनमत होता है। वैश्वीकरण के इस दौर में, विश्व के किसी भी देश में हुई किसी घटना का प्रभाव पूरे विश्व में पड़ता है, हर वैश्विक मुद्दे पर भी सभी राष्ट्रों के नागरिकों की कोई न कोई राय निर्णीत होती है। इससे ही विश्व लोक मत की रचना होती है। विश्व लोकमत की अपेक्षा कोई भी सरकार नहीं कर सकती लोकतंत्र से ही नहीं अधिनायकवादी शासन व्यवस्था के अंतर्गत सरकारें भी जन समर्थन की आकांक्षा रखती हैं और जनमत को अपने पक्ष में लाने का प्रयास करती है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी—

1. जनमत (लोकमत) की अवधारणा, परिभाषा एवं प्रमुख विशेषताओं को समझ सकेंगे।
2. जनमत के लोकतांत्रिक व्यवस्था में महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. विश्व जनमत की अवधारणा, प्रकृति एवं उसके विकास को जान सकेंगे।
4. विश्व जनमत के निर्माण में मीडिया एवं संचार के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।
5. जलवायु परिवर्तन एवं मानवाधिकारों जैसे वैश्विक मुद्दों पर विश्व जनमत की भूमिका का विवेचन कर सकेंगे।
6. अंतरराष्ट्रीय राजनीति एवं विदेश नीति पर विश्व जनमत के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।
7. विश्व जनमत के मापन की प्रक्रिया, चुनौतियों एवं प्रमुख वैश्विक सर्वेक्षण संस्थाओं से परिचित हो सकेंगे।
8. समकालीन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में विश्व जनमत के बढ़ते महत्व को समझ सकेंगे।

14.3 जनमत या लोकमत

जनमत या लोकमत समाज से संबंधित किसी विशेष विषय पर समाज के एक बड़े समुदाय द्वारा अभिव्यक्त विचारों, मान्यताओं एवं विश्वासों का एकत्रीकरण होता है। यह अधिकांश लोकतंत्रों में जनभावना की अभिव्यक्ति करता है और सरकारें सामान्यतः इन्हें मानने में ही अपनी भलाई समझती हैं। इसकी मुख्य विशेषताओं में सामान्य सहमति, राजनीतिक प्रासंगिकता तथा नई सूचनाओं के प्रति जवाबदेही होती है।

लॉर्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने जनमत की परिभाषा इस प्रकार की है— "साधारणतः जनमत समुदाय के सदस्यों की उस मिली-जुली अथवा सामूहिक राय को कहते हैं, जो वे सार्वजनिक महत्व के विषयों, मामलों या समस्याओं के संबंध में रखते हैं।"

चार्ल्स हॉर्टन कूले (Charles Horton Cooley) जनमत को सामान्य सहमति की स्थिति की अपेक्षा अंतःक्रियाओं एवं पारस्परिक प्रभाव की एक प्रक्रिया मानते हैं। अमेरिकी राजनीति-शास्त्री वी. ओ. की (V. O. Key) लोकमत को ऐसा मत मानते हैं, जो व्यक्तियों का होता है और जिसे मानने में ही सरकारें अपनी भलाई समझती हैं। विलियम ए. मैकिनॉल के अनुसार यह किसी विषय पर समाज की सामान्य या बहुसंख्यक राय है। लोकमत का प्रभाव केवल राजनीति एवं निर्वाचनों तक सीमित नहीं होता, बल्कि इसका प्रभाव वाणिज्य, धर्म, संस्कृति एवं सामाजिक सक्रियता पर भी पड़ता है।

जहाँ राजनीति-शास्त्री एवं कुछ इतिहासकार सरकार एवं राजनीति में लोकमत की भूमिका पर अधिक जोर देते हैं तथा सरकार की नीतियों पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, वहीं कुछ राजनीति-शास्त्री तो लोकमत को राष्ट्रीय इच्छा के बराबर मानते हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्री लोकमत को सामाजिक अंतःक्रिया एवं संचार की उपज मानते हैं। इस विचार के अनुसार तब तक लोकमत नहीं बन सकता, जब तक अधिकांश जनता किसी विषय पर आपस में एक-दूसरे के साथ संवाद नहीं करती। यह संवाद टेलीविजन, रेडियो, ईमेल, सोशल मीडिया, प्रिंट मीडिया या किसी भी माध्यम से हो सकता है।

लोकमत के लगभग सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि लोकमत के निर्धारण के लिए कम-से-कम चार दशाओं की अनिवार्यता होती है—

1. एक विषय या मामले का होना।
2. उस विषय पर विचार व्यक्त करने के लिए पर्याप्त संख्या में लोगों का होना।
3. इन विचारों में कहीं-न-कहीं एक सहमति का होना।

4. इस सहमति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावी होना।

14.4 जनमत का महत्व

राजनीतिक व्यवस्था में जनमत राजनीतिक नेताओं एवं उनकी नीतियों को वैधता प्रदान करता है। वह सरकार जो जनता की राय को महत्व देती है, उसे जनता का समर्थन मिलता है एवं उसे स्थायित्व भी प्राप्त होता है।

नीति-निर्माण में सहायक— नीति-निर्माता नीति-निर्माण के समय हमेशा जनमत के आँकड़ों को ध्यान में रखते हैं।

जवाबदेही— जनमत राजनीतिक नेताओं को जनता के प्रति जवाबदेह बनाता है। यदि सरकार या नेतृत्व जनता की आकांक्षाओं की परवाह नहीं करते, तो वे जनता के समर्थन से भी दूर हो जाते हैं।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं होता कि सभी लोग जनमत से सहमत होते हैं। यह सामान्यतः बहुमत के विचार या ठोस सहमति पर आधारित होता है। यह विचार समय के साथ, जैसे-जैसे नई सूचनाएँ प्राप्त होती हैं और नई घटनाएँ घटित होती हैं, बदल भी सकते हैं। ये सरकार के निर्णयों को प्रभावित करते हैं और लोकतंत्र में इनका विशेष महत्व होता है।

14.5 विश्व जनमत

जिस प्रकार समाज से संबंधित किसी विषय पर समाज के एक बड़े समुदाय द्वारा अभिव्यक्त विचार या मत को लोकमत कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार विश्व की जनता द्वारा किसी अंतरराष्ट्रीय विषय या मामले के संबंध में सामूहिक रूप से अभिव्यक्त विचार या मत को **विश्व जनमत** कहते हैं।

इस प्रकार विश्व जनमत विभिन्न अंतरराष्ट्रीय मामलों, घटनाओं एवं मूल्यों के संबंध में विश्व की जनता की सामूहिक मान्यताएँ, विश्वास एवं धारणाएँ होती हैं। राष्ट्रों के बीच बढ़ते हुए पारस्परिक अंतर्संबंधों के चलते जनमत एक राज्य के भीतर तक सीमित नहीं रह जाता। बढ़ती हुई संचार तकनीक, मीडिया की भूमिका और माइग्रेशन ने विचारों एवं भावनाओं को विभिन्न समाजों के बीच तेजी से फैलाने का काम किया है। फलस्वरूप विश्व जनमत अंतरराष्ट्रीय संबंधों के निर्धारण में, मानवतावादी प्रतिक्रियाओं में तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं को वैधता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सामान्य जनमत से अलग, जो कि एक एकल राजनीतिक एवं सामाजिक संदर्भ में बनता है, विश्व जनमत कहीं अधिक जटिल एवं खंडित होता है। यह एक एकीकृत वैश्विक आवाज नहीं होता, बल्कि अनेक विखंडित आवाजों एवं मान्यताओं का सम्मिश्रण होता है। विश्व जनमत अंतरराष्ट्रीय

सर्वेक्षणों, मीडिया विमर्श तथा सामाजिक आंदोलनों से आकार ग्रहण करता है। यद्यपि विभिन्न समाजों में मत-वैभिन्न्य रहता है, फिर भी कुछ विषयों पर राष्ट्रों की सीमाओं से परे सहमति ही विश्व जनमत का आधार होती है।

विश्व जनमत के विचार को 20वीं शताब्दी में अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना तथा वैश्विक मीडिया एवं सीमाओं के पार सहयोग के प्रसार के साथ महत्व मिलना प्रारंभ हुआ। विश्व युद्ध, उपनिवेशवाद तथा मानवाधिकारों एवं पर्यावरण के प्रति बढ़ती हुई चेतना ने अंतरराष्ट्रीय आत्मनिर्भरता के प्रति सभी समाजों को जागृत किया। अंतरराष्ट्रीय संघर्षों, मानवतावादी संकटों तथा पर्यावरणीय मामलों के प्रति जनता की बढ़ती हुई चिंता एवं प्रतिक्रियाओं ने राष्ट्रों के कूटनीतिक एजेंडे को भी प्रभावित किया।

प्रारंभ में विश्व जनमत का निर्माण अधिकांशतः कुछ प्रमुख अभिकर्ताओं, जिनमें सरकारें, कूटनीतिज्ञ एवं कुछ प्रमुख पत्रकार शामिल थे, द्वारा किया जाता था। लेकिन संचार क्रांति ने इस भागीदारी को बहुत अधिक बढ़ा दिया, जिसमें निजी व्यक्ति (Private Person) एवं नागरिक समाजों द्वारा भी प्रत्यक्ष रूप से विश्व जनमत को प्रभावित किया जाने लगा। अब एक सामान्य नागरिक भी अपनी राय सोशल मीडिया के माध्यम से विश्व पटल पर रख सकता है और विश्व जनमत को प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

14.6 विश्व जनमत और मीडिया व संचार की भूमिका

अंतरराष्ट्रीय मामलों के संबंध में सूचनाओं को एकत्र करके एवं प्रसारित करके मीडिया विश्व जनमत के निर्माण में अहम भूमिका निभाती है। वैश्विक न्यूज़ नेटवर्क, ऑनलाइन प्लेटफॉर्म और सोशल मीडिया श्रोताओं तक विश्व में घटित होने वाली घटनाओं का सीधा प्रसारण (Live Telecast) करते हैं। ये संकट की स्थिति में नेताओं के बयानों तथा विश्व की चुनौतियों के संबंध में जनता का नैरेटिव निर्धारित करते हैं और इससे किसी भी घटना के प्रति उनकी सोच का निर्माण होता है। टीवी के विभिन्न चैनलों में समाचारों का विश्लेषण विशेषज्ञों के माध्यम से किया जाता है, जिसका व्यापक प्रभाव विश्व जनमत पर पड़ता है।

वर्तमान में जारी यूक्रेन–रूस युद्ध हो या अमेरिका–ईरान का युद्ध, विश्व के हर कोने के लोग इसके प्रति अपना अभिमत व्यक्त कर रहे हैं एवं विश्व में होने वाले तमाम सर्वेक्षणों में भाग ले रहे हैं। बावजूद इसके, मीडिया भी एकदम निष्पक्ष एवं सटीक नहीं हो सकता। इसके कई कारण हैं, जैसे भाषा की बाधा, तकनीक की असमान पहुँच तथा विभिन्न राजनीतिक समाजों में पत्रकारिता की स्वतंत्रता का स्तर। ये सभी बातें स्वस्थ विश्व जनमत के निर्माण में बाधा पहुँचाती हैं।

इसके अतिरिक्त सामान्यतः यह पाया जाता है कि प्रभावशाली मीडिया घराने वैश्विक एजेंडा निर्धारित करते हैं, जबकि कम प्रभावशाली मीडिया को अपनी आवाज जनता तक पहुँचाने में परेशानी का सामना करना पड़ता है। इन सब असमानताओं के बावजूद डिजिटल मीडिया कई बाधाओं को कम करते हुए वैकल्पिक नैरेटिव विश्व की जनता तक पहुँचाने में सफल हुआ है।

14.7 वैश्विक मामले एवं साझा चिंताएं (Global Issues and Shared Concerns)

कुछ विषय विशेष रूप से विश्व जनमत को प्रभावित करने में सफल रहे हैं। जलवायु परिवर्तन के का विषय से हम यह अध्ययन कर सकते हैं की कैसे एक साझा चिंता का विषय विश्व लोकमत को प्रभावित करता है। इस एक उदाहरण से हम देख सकेंगे की कैसे साझा मुद्दों (shared concerns) में राष्ट्रों के पृथक हित लोकमत को कैसे आकार देते हैं

जलवायु परिवर्तन पर विश्व लोकमत - एक केस स्टडी

जलवायु परिवर्तन ऐसा ही एक विषय है, जिस पर विश्व जनमत प्रारंभ से ही समान रूप से चिंतित रहा है। विश्व जनमत एक ओर जलवायु परिवर्तन के संबंध में किए जाने वाले अंतरराष्ट्रीय सहयोग एवं सतत विकास के संबंध में आवाज उठाता है तथा इन्हें लागू किए जाने के बारे में लगातार चिंतित रहता है। 80% वैश्विक जनता इस संबंध में सरकारों से इस संकट से निपटने के लिए कठोर एवं ठोस कदम उठाने पर जोर देती है।संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Development Programme) और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा कराए गए सर्वेक्षण में विश्व की जनता की इस संबंध में अभिवृत्ति का पता लगाया गया। 77 देशों की 87% वैश्विक जनता का सर्वेक्षण करने पर जो प्रवृत्तियाँ सामने आईं, वे इस प्रकार हैं—

1. कार्यवाही के लिए जबरदस्त मांग (Overwhelming Demand for Action)

80% जनता जलवायु संकट से निपटने के लिए अपनी सरकारों से कठोर उपाय चाहती है।

2. जीवाश्म ईंधन परिवर्तन (Fossil Fuel Transition)

72% जनता जीवाश्म ईंधनों से वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों की ओर परिवर्तन का समर्थन करती है।

3. भूराजनीतिक सहयोग (Geopolitical Cooperation)

86% वैश्विक जनता विभिन्न सरकारों से अपेक्षा करती है कि वे अपने भूराजनीतिक मतभेदों को भुलाकर जलवायु संकट से निपटने में सहयोग करें।

4. व्यक्तिगत प्रभाव (Personal Impact)

लगभग 63% जनता जलवायु परिवर्तन के प्रति सजग होकर अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन करने को तैयार है, जैसे कहाँ रहना है, कहाँ काम करना है तथा क्या खरीदना है।

उपरोक्त विषयों में सहमति के बावजूद अलग-अलग क्षेत्रों एवं जनसांख्यिकीय आधार पर लोगों की सोच में विभिन्नता पाई जाती है।

5. विकासशील राष्ट्रों में अधिक चिंता (High Concern in Developing Nations)

विकासशील राष्ट्रों की जनता अधिक चिंतित है, क्योंकि जलवायु परिवर्तन का प्रभाव उन पर अधिक पड़ता है और इसका खामियाजा भी उन्हें अधिक भुगतना पड़ रहा है। गर्म हवाएँ, सूखे की स्थिति तथा अनियमित वर्षा से बचने का उनके पास कोई विकल्प नहीं है, जबकि विकसित देशों के पास इनसे बचने के लिए पर्याप्त संसाधन होते हैं।

6. उच्च आय वाले देशों का ध्रुवीकरण (Polarization in Advanced Economies)

यद्यपि ग्रीनहाउस गैसें उत्पन्न करने वाले राष्ट्रों, जैसे अमेरिका, रूस तथा जर्मनी की जनता जलवायु परिवर्तन के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करते हुए अपनी-अपनी सरकारों से इस संबंध में कार्य करने को कहती है, लेकिन इस मामले का विभिन्न सरकारों द्वारा अत्यधिक राजनीतिकरण भी किया जाता है।

14.8 मानवाधिकार एवं अन्य मुद्दे और विश्व जनमत

वैश्विक जनमत व्यापक रूप से मानवाधिकारों, जैसे विभिन्न वर्णों के बीच समानता, महिलाओं एवं बच्चों के अधिकार तथा मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रहने की दशा में सुधार, के प्रति भी अपनी राय व्यक्त करता है। मूलभूत मानवाधिकारों से जुड़े कुछ मुख्य विषय इस प्रकार हैं—

मूल विषयों पर सहमति

विभिन्न राष्ट्रों एवं संस्कृतियों की बड़ी संख्या में जनता इस बात पर सहमत है कि सभी प्रजातियों, नस्लीय, सांस्कृतिक एवं लैंगिक समूहों को समान अधिकार एवं भेदभाव से संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वर्ण-आधारित भेदभाव से संरक्षण तथा नागरिकों को मूलभूत सुविधाएँ, जैसे स्वास्थ्य एवं भोजन, उपलब्ध कराने के मामलों में जनमत सरकारों को पूरा समर्थन देता है।

अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं एवं विश्व के नेताओं को बहुधा विश्व जनमत के विरोध का सामना करना पड़ता है, जब वे युद्ध से संबंधित अत्याचारों तथा आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से विभेद करते हैं। इसके अतिरिक्त शारीरिक स्वास्थ्य, माइग्रेशन एवं आर्थिक वैश्वीकरण भी इस मामले में महत्वपूर्ण हैं।

इन विषयों पर विश्व जनमत अंतरराष्ट्रीय प्रयासों के लिए प्रोत्साहित करता है। यह कुछ ऐसे विषय हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि किस प्रकार विश्व जनमत सरकारों एवं संस्थाओं को जवाबदेह बनाता है।

14.9 विश्व जनमत पर प्रमुख समाजशास्त्रीय विचार

यूर्गेन हैबरमास (Jurgen Habermas)

यूर्गेन हैबरमास ने अपने दो सिद्धांतों के आधार पर विश्व लोकमत का मूल्यांकन किया है। एक है उनका पब्लिक स्फीयर/ लोकक्षेत्र (public sphere) का सिद्धान्त और दूसरा है पोस्ट-नेशनल परिपेक्ष्य (post-national perspective)।

पब्लिक स्फीयर से हैबरमास का अभिप्राय है लोक के लिए सार्वजनिक रूप से एकत्रित होने का क्षेत्र जहां वह निजी व्यक्ति (private person) के रूप में नहीं बल्कि (public सार्वजनिक नागरिकों के रूप में एकत्रित होकर नागरिक हितों के मुद्दों पर तर्कसंगत (rational), आलोचनात्मक (critical) विमर्श करते हैं और इस प्रकार राजनीतिक संचार का महत्वपूर्ण मंच निर्मित करते हैं।

पोस्ट नेशनल परिपेक्ष्य से हैबरमास का अभिप्राय है वैश्वीकरण, संचार क्रांति और राष्ट्र-राज्य की घटती प्रासंगिकता से उत्पन्न स्थिति जिसमें राष्ट्रीय सीमाओं की महत्ता कम हो रही है। ऐसी स्थिति में वह मानते हैं की एक वैश्विक लोकक्षेत्र (global public sphere) की संभावना है।

परंतु, लोकक्षेत्र के अंतर्राष्ट्रीय पर विस्तार के प्रति हैबरमास उत्साही नहीं हैं, क्योंकि जनसंचार के माध्यमों पर बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका से वैश्विक स्तर पब्लिक स्फीयर / लोकक्षेत्र का उभर पाना कठिन हो गया है क्योंकि ऐसे वित्तीय हित वैश्विक स्तर पर राजनीतिक संचार को दूषित और दिग्भ्रमित करने का कार्य कर रहे हैं।

निकलास लूह्मन (Niklas Luhmann)

लूह्मन और हैबरमास दोनों संचार (communication) को समाज का मूल आधार मानते हैं। हैबरमास जहाँ तर्कसंगत संवाद और जनतान्त्रिक विमर्श पर ज़ोर देते हैं वहीं लूह्मन समाज को संचार की एक स्व-संदर्भात्मक व्यवस्था (Self-referential System of Communication) के रूप में देखते हैं। लूह्मन के अनुसार समाज (Society) मनुष्यों (Human Beings) से नहीं, बल्कि संचार (Communications) से निर्मित होता **है**। मनुष्य समाज का 'पर्यावरण' (Environment) हैं, और समाज उन के बीच सभी अर्थपूर्ण संचारों का समुच्चय है । यह समाज का संचार केन्द्रित दृष्टिकोण

है। लूह्मन के अनुसार आधुनिक काल में संचार की प्रौद्योगिकी में विकास से एक विश्व समाज की संस्थापना भी संभव है। वैश्विक स्तर पर अगर अर्थ-पूर्ण संचार संभव होता है तो एक अंतर-सम्बद्ध विश्व समाज की स्थापना हो सकती है। इस दृष्टिकोण में विश्व लोकमत इस विश्व समाज का एक संचार माध्यम है, जो समाज के विभिन्न उप-तंत्रों को जोड़ता है।

एंथनी गिड्डेंस (Anthony Giddens)

गिड्डेंस के अनुसार आधुनिकता (modernity), वैश्वीकरण (globalization) ने सामाजिक सम्बन्धों को कुछ हद तक, स्थानीय संदर्भों (local context) से मुक्त/विस्थापित (disembed) कर दिया है। संचार प्रोद्योगिकी के माध्यम से समय-स्थान का विस्तार (Spatio-temporal Stretching) हुआ है जो की वैश्वीकरण की एक प्रमुख विशेषता है। ऐसी स्थिति में वैश्विक स्तर पर लोकमत के निर्माण की संभावना और प्रगाढ़ हो गयी है।

पियरे बोर्दियू (Pierre Bourdieu)

बोर्दियू , लोकमत (Public Opinion) को एक वस्तुनिष्ठ सामाजिक वास्तविकता (objective social reality)नहीं मानते, वह उसे सामाजिक निर्माण (Social Construction) मानते हैं। उनके अनुसार जनमत - शक्ति, वैधता और राजनीतिक संघर्ष (Power, Legitimacy and Political Struggle) में प्रयुक्त एक वैचारिक एवं प्रतीकात्मक उपकरण मात्र (Ideological and Symbolic Device) है।

वे अंतर्राष्ट्रीय लोकमत (International Public Opinion) की अवधारणा को भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं और उसके पीछे निहित शक्ति-संबंधों (Power Relations) की आलोचनात्मक जाँच पर बल देते हैं।

14.10 अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर विश्व जनमत का प्रभाव

विभिन्न सरकारें इस बात के लिए सजग रहती हैं कि उनके निर्णयों के बारे में विश्व की जनता क्या सोचती है, खास तौर पर आज के द्रुत संचार एवं हर स्तर पर सूक्ष्म परीक्षण के दौर में। जन-प्रतिक्रियाएँ कूटनीतिक संबंधों, व्यापारिक वार्ताओं एवं सैन्य दखलअंदाजी को प्रभावित कर सकती हैं।

अंतरराष्ट्रीय संगठन एवं गैर-सरकारी अभिकर्ता अपने कार्यों के पक्ष में विश्व जनमत को लाने का प्रयास करते हैं। यद्यपि विश्व जनमत नीतियों का निर्धारण नहीं करता, लेकिन वह निर्णय-निर्माण प्रक्रिया को अवश्य प्रभावित करता है। लोकतंत्र में विदेश में अपनी सेनाओं की तैनाती, अंतरराष्ट्रीय संधियों एवं आर्थिक प्रतिबंधों आदि विषयों पर सरकारों को जनता के समर्थन की आवश्यकता होती है।

वैश्विक जनता का विरोध कई बार सरकारों को बल-प्रयोग के विरुद्ध हतोत्साहित करता है। गैर-सरकारी संगठन भी उपर्युक्त सभी विषयों पर सरकारों को घेरने का प्रयास करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा विश्व बैंक (World Bank) जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ भी विश्व जनमत के निशाने पर आने लगी हैं। नागरिक समूह भी अधिक लोकतांत्रिक, निष्पक्ष एवं पारदर्शी वैश्विक शासन की माँग करने लगे हैं।

विभिन्न सरकारें भी विश्व जनमत के बढ़ते प्रभाव को समझने लगी हैं। विदेश नीति निर्धारण में भी सरकारें कूटनीतिज्ञों, शिक्षाविदों, थिंक टैंकों एवं विदेश नीति के विशेषज्ञों की सलाह को महत्व देने लगी हैं। जब कोई नैतिक विषय उठता है, उस समय भी सरकारें विश्व जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। विदेश नीति निर्धारण अपने आप में जटिल एवं बहुमुखी प्रक्रिया है। इसके निर्धारण में सरकारों को विश्व जनमत को ध्यान में रखना पड़ता है। बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता के दौर में प्रभावशाली विदेश नीति निर्धारण के लिए विश्व जनमत, राष्ट्रहितों तथा वैश्विक गत्यात्मकता (Global Dynamics) के बीच संतुलन बनाने की आवश्यकता होती है।

14.11 विश्व जनमत का मापन

वैश्विक जनमत का मापन अपने आप में चुनौतीपूर्ण है। अंतरराष्ट्रीय सर्वेक्षणों के सामने भाषा, सांस्कृतिक व्याख्या तथा सैंपल्स तक पहुँच की समस्याएँ आती हैं। फिर भी विश्व में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जो निष्पक्ष भाव से विश्व जनमत के मापन का कार्य करती हैं।

14.12 प्रमुख वैश्विक पोलिंग प्रोजेक्ट्स

विश्व लोकमत का सर्वेक्षण के माध्यम से व्यापक स्तर पर अलग-अलग समाजों से अध्ययन किया जाता है। वैश्विक सरकार के अभाव में विभिन्न राष्ट्रों के प्रमुख शोध संस्थानों द्वारा किए गए सर्वेक्षणों

का समुच्चय/योग निकाला जाता है। सर्वेक्षण करते समय इन संस्थाओं द्वारा समाज के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इसके बाद विश्व जनमत का आकलन किया जाता है।

प्रमुख अंतरराष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रोजेक्ट्स

14.12.1 प्यू रिसर्च सेंटर (Pew Research Center)

प्यू रिसर्च सेंटर दुनिया भर में जनमत के सर्वेक्षण के लिए एक सम्मानित संस्था मानी जाती है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका तथा विश्व के प्रमुख सामाजिक मुद्दों पर जनमत एवं जनसांख्यिकीय प्रवृत्तियों के बारे में जानकारी प्रदान करती है। इसकी स्थापना 1990 में **Times Mirror Center for the People & the Press** के नाम से हुई थी। 2004 में **Pew Charitable Trusts** ने अपनी सूचनाओं को संकलित एवं संरक्षित रखने के लिए एक सहायक संस्था के रूप में **Pew Research Center** की स्थापना की।

यह जनमत सर्वेक्षण, जनसांख्यिकीय अनुसंधान, सामग्री विश्लेषण तथा अन्य तथ्यों के आधार पर विश्व राजनीति एवं समाज का विस्तृत अध्ययन करता है। उदाहरण के तौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका–ईरान युद्ध पर प्यू रिसर्च सेंटर द्वारा किए गए सर्वेक्षण में यह निष्कर्ष निकला कि 61% अमेरिकी इस युद्ध के खिलाफ हैं। गैस एवं ईंधन के बढ़ते दामों से भी वहाँ के लोग परेशान हैं। कुछ अन्य आशंकाओं में सैन्य दुर्घटनाएँ तथा अमेरिका द्वारा जमीनी सेनाओं को भेजना भी शामिल है।

14.12.2 गैलप वर्ल्ड पोल (Gallup World Poll)

संयुक्त राज्य अमेरिका में जनमत सर्वेक्षण करने के लिए इसकी स्थापना 2005 में की गई थी। ऐतिहासिक रूप से गैलप ने संवेदनशील अथवा विवादास्पद विषयों सहित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मुद्दों के संबंध में जनता के दृष्टिकोण को मापने के लिए जनमत सर्वेक्षण किए हैं। यह विभिन्न समाजों में खाद्य पदार्थों तक पहुँच, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा प्रेस की आजादी जैसे विषयों पर सर्वेक्षण करता है।

2005 से ही गैलप ने 160 देशों की वयस्क जनता से आँकड़े एकत्र किए हैं। वर्ल्ड पोल सर्वे में 100 से अधिक वैश्विक प्रश्नों को शामिल किया जाता है। उदाहरण के लिए गैलप द्वारा रूस–यूक्रेन युद्ध पर व्यापक सर्वेक्षण कराया गया। 81 राष्ट्रों द्वारा इस युद्ध का विरोध किया गया। बाल्टिक राष्ट्रों—लिथुआनिया, एस्टोनिया एवं लातविया—का रूस के प्रति विरोधी रुख है, जबकि मध्य एशिया के

राज्यों में कजाखस्तान रूस के पक्ष में है। गैलप पोलिंग में यह भी सामने आया कि 69% यूक्रेनी जितनी जल्दी हो सके, इस युद्ध को समाप्त करने के पक्ष में हैं।

14.13 सारांश

आज के लोकतांत्रिक युग में किसी भी राष्ट्र के लिए जनमत की उपेक्षा संभव नहीं है। अतः विश्व जनमत का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया, संचार की तीव्र गति तथा राज्यों की पारस्परिक निर्भरता ने राष्ट्रों को और अधिक निकट ला दिया है। आज वह समय नहीं रहा कि दो देशों के बीच के युद्ध का प्रभाव केवल वहीं तक सीमित रहे। उसके प्रभाव एवं परिणाम अधिक दूरगामी होने लगे हैं। ऐसे में राष्ट्रों के लिए विश्व जनमत की उपेक्षा आत्मघाती हो सकती है। इसलिए आज के राष्ट्र अधिक सजग हैं। इस प्रकार वैधानिक बाध्यता न होते हुए भी राष्ट्रों को इसका सम्मान करना पड़ता है। एक मजबूत विश्व जनमत किसी भी देश की सरकार, यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठनों को भी प्रभावित कर सकता है।

14.14 अभ्यास प्रश्न

1. लोकमत की परिभाषा किस विद्वान ने "सार्वजनिक महत्व के विषयों पर समुदाय की सामूहिक राय" के रूप में दी है?
(अ) चार्ल्स हॉर्टन कूले
(ब) वी. ओ. की
(स) लॉर्ड ब्राइस
(द) विलियम ए. मैकिनॉल

2. निम्न में से कौन लोकमत की प्रमुख विशेषता नहीं है?
(अ) सामान्य सहमति
(ब) राजनीतिक प्रासंगिकता
(स) नई सूचनाओं के प्रति जवाबदेही
(द) पूर्ण सर्वसम्मति

3. चार्ल्स हॉर्टन कूले के अनुसार लोकमत मुख्यतः क्या है?
(अ) बहुमत का निर्णय
(ब) सरकार का आदेश

(स) अंतःक्रिया एवं पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया
(द) न्यायालय का निर्णय

4. विश्व जनमत के निर्माण में किसकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण मानी गई है?
(अ) केवल सरकारें
(ब) केवल राजनीतिक दल
(स) मीडिया एवं संचार
(द) केवल संयुक्त राष्ट्र

5. संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम एवं ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सर्वेक्षण के अनुसार लगभग कितनी वैश्विक जनता जलवायु संकट से निपटने हेतु कठोर उपाय चाहती है?
(अ) 50%
(ब) 60%
(स) 80%
(द) 95%
उत्तर: (स)

6. लगभग कितनी वैश्विक जनता जीवाश्म ईंधनों के स्थान पर वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों का समर्थन करती है?
(अ) 52%
(ब) 62%
(स) 72%
(द) 82%

7. विश्व जनमत के मापन में निम्न में से कौन-सी समस्या प्रमुख है?
(अ) भाषा एवं सांस्कृतिक व्याख्या
(ब) कृषि उत्पादन
(स) औद्योगिक विकास
(द) कर व्यवस्था

8. प्यू रिसर्च सेंटर मुख्यतः किस कार्य के लिए प्रसिद्ध है?
(अ) सैन्य प्रशिक्षण

(ब) जनमत सर्वेक्षण एवं सामाजिक अनुसंधान
(स) अंतरराष्ट्रीय व्यापार
(द) न्यायिक सुधार

9. गैलप वर्ल्ड पोल की स्थापना किस वर्ष की गई?
(अ) 1990
(ब) 1995
(स) 2000
(द) 2005
उत्तर: (द)

10. विश्व जनमत का प्रभाव मुख्यतः किस पर पड़ता है?
(अ) केवल घरेलू राजनीति पर
(ब) केवल आर्थिक नीति पर
(स) अंतरराष्ट्रीय राजनीति एवं विदेश नीति पर
(द) केवल चुनावों पर

14.15 शब्दावली

1.जनमत (लोकमत) – किसी सार्वजनिक विषय पर समाज के बड़े समुदाय द्वारा व्यक्त सामूहिक मत।
2. विश्व जनमत – अंतरराष्ट्रीय विषयों पर विश्व की जनता द्वारा व्यक्त सामूहिक विचार एवं मत।
3. जनभावना – किसी विषय के प्रति जनता की सामूहिक भावना या अभिवृत्ति।
4. मानवतावादी प्रतिक्रिया – मानवीय संकटों एवं मानव कल्याण से संबंधित सामाजिक एवं अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया।
5. भूराजनीतिक (Geopolitical) – भौगोलिक स्थिति एवं राजनीतिक हितों से संबंधित।
6. नैरेटिव (Narrative) – किसी घटना या विषय के संबंध में निर्मित दृष्टिकोण, व्याख्या अथवा विमर्श।
7. जनसांख्यिकीय (Demographic) – जनसंख्या की संरचना एवं उसके सामाजिक-आर्थिक गुणों से संबंधित।
8. पारस्परिक निर्भरता – राष्ट्रों या समाजों का एक-दूसरे पर विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर आश्रित होना।
9. वैश्विक गत्यात्मकता (Global Dynamics) – विश्व राजनीति एवं अंतरराष्ट्रीय संबंधों में निरंतर होने वाले परिवर्तन एवं उनकी प्रक्रियाएँ।

10 जनमत सर्वेक्षण (Opinion Poll) – किसी विषय पर जनता की राय जानने हेतु वैज्ञानिक पद्धति से किया गया सर्वेक्षण।

14.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स) लॉर्ड ब्राइस
2. (द) पूर्ण सर्वसम्मति
3. (स) अंतःक्रिया एवं पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया
4. (स) मीडिया एवं संचार
5. (स) 80%
6. (स) 72%
7. (अ) भाषा एवं सांस्कृतिक व्याख्या
8. (ब) जनमत सर्वेक्षण एवं सामाजिक अनुसंधान
9. (द) 2005
10. (स) अंतरराष्ट्रीय राजनीति एवं विदेश नीति पर प्रभाव

14.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. जनमत (लोकमत) की अवधारणा स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं एवं महत्व की विवेचना कीजिए।
2. विश्व जनमत से आप क्या समझते हैं? इसके स्वरूप, विकास एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. विश्व जनमत के निर्माण में मीडिया एवं संचार की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. जलवायु परिवर्तन एवं मानवाधिकारों के संदर्भ में विश्व जनमत की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
5. विश्व जनमत का अंतरराष्ट्रीय राजनीति एवं विदेश नीति के निर्धारण पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।

14.18 संदर्भ ग्रंथ

1. Bryce, J. (1921). *Modern Democracies* (Vols. I–II). New York: Macmillan.
2. Cooley, C. H. (1909). *Social Organization: A Study of the Larger Mind*. New York: Charles Scribner's Sons.
3. Key, V. O., Jr. (1961). *Public Opinion and American Democracy*. New York: Alfred A. Knopf.
4. Lippmann, W. (1922). *Public Opinion*. New York: Harcourt, Brace and Company.
5. Habermas, J. (1989). *The Structural Transformation of the Public Sphere*. Cambridge: Polity Press.

6.Price, V. (1992). *Public Opinion*. Newbury Park, CA: Sage Publications.
7. Pew Research Center. (विभिन्न वर्ष). *Global Attitudes Surveys*. Washington, D.C.
https://www.pewresearch.org/global/
8.Gallup. (विभिन्न वर्ष). *Gallup World Poll*. Washington, D.C.
https://www.gallup.com/analytics/318875/global-research.aspx
9. United Nations Development Programme (UNDP). (2024). *People's Climate Vote 2024: Results*. New York: UNDP.
https://www.undp.org/publications/peoples-climate-vote-202
10. World Bank. (विभिन्न वर्ष). *World Development Report*. Washington, D.C.
https://www.worldbank.org/en/publication/wdr
11. Shoai, A. (2016). The challenge of "world opinion": Exploring an emerging subject through contemporary social theory. Palgrave Macmillan.

14.19 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. World Public Opinion — Bruce Stokes.
2. The Globalization of World Politics — John Baylis, Steve Smith एवं Patricia Owens.
3. International Organization — Ian Hurd.
4. Media and Politics — Doris A. Graber.
5. Communication Power — Manuel Castells.
6. The Media and Globalization — Terhi Rantanen.
7. Global Politics — Andrew Heywood.
8. The Globalization of Nothing — George Ritzer.
9. Understanding Global Conflict and Cooperation — Joseph S. Nye Jr. एवं David A. Welch.
10. International Relations — Paul R. Viotti एवं Mark V. Kauppi